

MADHUKAR PAKSHIK PATAR
VOL 12 1984 G. K. U.

11048

RT-0866

11/04/8

समय कर

पाक्षिक पत्र

[५]

जनवरी १९४६

[अंक ११-१२]

विषय-सूची

11048

पत्रकारों की समस्याएं	... श्री बनारसीदास चतुर्वेदी	२५७
और उनके लिए कार्यक्रम		
मेरे शिक्षक जीवन के कुछ अनुभव	... आचार्य हरभाई त्रिवेदी	२६४
प्रयाण-गीत (कविता)	... ,, रामाधार त्रिगठी 'जीवन'	२६७
साहित्य-निर्माण की योजना	... ,, कालिदास कपूर	२६६
स्व० जी. एम्. अर डेल	... ,, सूर्यनारायण अप्रवाल बी. ए.	२७४
विजय का अनुमान होगा (कविता)	... पं० गोकुलचन्द्र शर्मा एम. ए.	२७६
लहाल-पात्रा की डायरा	... ले० कर्नल सज्जन सिंह	२८१
निवेदन	... श्री बनारसीदास चतुर्वेदी	२८७
मेरी माता जी	... ,, सुरलीधर दिनोदिया	२९३
प्रार्थना (कविता)	... ,, 'वचन'	२९६
माता भूमि:	... ,, वासुदेव शरण अप्रवाल	२९७
दीनबन्धु के चरण चिन्हों पर	... ,, एक भारतीय मित्र	२९८
स्व० स्टीफन जिवन (संस्मरण)	... ,, सूर्यनारायण व्यास	३००
हमारा पुस्तकालय	... ,, बनारसीदास चतुर्वेदी	३०४
सम्पादकाय	... ,, ,, "	३०५

सम्पादक

बनारसीदास चतुर्वेदी

सहकारी सम्पादक

यशपाल जैन बी. ए., एल-एल. बी.

प्रकाशक

प्रेमनारायण खरे

इस अंक का मूल्य (८)

वार्षिक
नवम्बर

श्री वीरेन्द्र-केशव-साहित्य-परिषद्,
टीकमगढ़ (सी. आई.)

{ एक प्रति
तीन आना

३०४ पेज का शेष

के लिए नहीं हो सकते और विषय के अनुसार भाषा भी सरल या कठिन हुआ करती है। सार्थी-सादी भाषा में गम्भीर दार्शनिक विषयों का प्रतिपादन करना अत्यन्त ही कठिन है। फिर भी यदि आचार्य जी कुछ उदाहरण देकर लेख को सरल बना देते तो अच्छा होता। दिनकर जी की तीनों कविताएँ बढ़िया हैं। 'सार्थी' काफी श्रोत्रपूर्ण है, 'कवि के भित्र' में मधुर हास्य विद्यमान है और 'नई दुनिया' में सहृदयता, स्नेह और कोमल भावनाओं के लिये अपील की गई है। श्रीयुत फूलन प्रसाद जी वर्मा ने अपने लेख में 'माक्सवाद और कला में' जो निष्कर्ष निकाला है वह बिल्कुल ठीक है। पर वे इस बात को लिखना भूल गये हैं कि अराजकवाद ही साहित्य तथा कला जैसी मानवीय प्रवृत्तियों को पूर्ण सन्तोष दे सकता है। श्रीयुत वेनीपुरी जी का रेखा-चित्र (बलदेवसिंह) काफ़ी सज्जव बन पड़ा है। जो कुछ चीज वेनीपुरी जी की कलम से निकलती है जानदार ही होती है। प्रामीण-जीवन की उसमें बहुत अच्छी झलक है। भारत के कितने ही जनपदों के आदिमियों में 'सभ्यता' के साथ 'नपुंसकता' आ गई है और जीवन के प्रति उनके हृदय में मोह भी उत्पन्न हो गया है। बलदेवसिंह का रेखा-चित्र उस मोह को दूर करने के लिए औषधि स्वरूप है।

श्रीयुत शिवपूजन जी के स्वर्गीय पं० अमृतलाल जी चक्रवर्ती विषयक संस्मरण पठनीय हैं। क्या ही अच्छा हो, यदि शिवपूजन जी इस प्रकार के सभी संस्मरण लिख दें। स्वर्गीय मुन्शी नवजादिक लाल जी, स्वर्गीय महादेव प्रसाद सेठ इत्यादि के संस्मरणों के साथ वे सब पुस्तकाकार

छपाये जा सकते हैं। विहार में शिवपूजन जी का दम शानीमत है। उनकी साहित्य-पाठना बावजूद तमाम बाधाओं और कठिनाइयों के निरन्तर जाग्रत है। 'जागरण' के जितने अङ्क उनके द्वारा सम्पादित हुए थे, वे सब अनूठे थे। हिमालय में 'जागरण' की आत्मा विद्यमान है।

प्रिन्सीपल मनोरंजन प्रसाद सिंह जी की 'मृत अतीत' और 'जीवित वर्तमान' में दीर्घसूची तथा प्रसादी आदिमियों के लिए एक सन्देश है। हमें दोनों कविताएँ इतनी रुची हैं कि मधुकर के अगले अङ्क में हम उन्हें उद्धृत करेंगे।

'कीटम की चार कविताएँ', 'एक ही नाव पर' शैतान की छाया, 'काव्य-परिचय' तथा 'संस्कृति समन्वय' ये लेख अभी हम सरसरी निगाह से ही देख पाये हैं, इसलिए उन पर सम्मति देना ठीक न होगा।

हमारी साहित्यिक प्रगति के सभी नोट पठनीय हैं। 'हिन्दी हिन्दोस्तानी' वाले नोट से हम सवासोलह आने सहमत हैं। 'साहित्य में प्रगतिवाद' में तथा-कथित प्रगतिवादियों के लिए राँची के 'भव्य-भवन' की सिफारिश की गई है। ऐसा भवन आगरे के भी निकट है। जिसको जहाँ सुविधा हो, वह वहीं भेज दिया जाय ! हिमालय का कवर पृष्ठ नयनाभिराम है। जिस द्रुतगति से उस पर हिरन दौड़ रहे हैं, उसी सगटे से हिमालय की ग्राहक संख्या और लोक-प्रियता में भी वृद्धि हो, यही हमारी कामना है। प्रथम अङ्क को देख कर हमें विश्वास होता है कि हिमालय हिन्दी-साहित्य में 'स्थापित्व, उच्चता, जीवन आर यौवन, प्रगति और प्रगति, का प्रतिनिधित्व' करेगा और उसका उद्देश्य भी है।

कुण्डेश्वर, (टीकमगढ़)]

—बनारसीदास चतुर्वेदी



111048

पत्रकारों की समस्याएँ और उनके लिए कार्यक्रम

पं० बनारसीदास चतुर्वेदी

प्रिय बन्धुओ,

जय हिन्द.

आपकी सहृदयता का कायल होते हुए भी मैं आपको विवेकशीलता या दूरदर्शिता के लिए बधाई नहीं दे सकता। इस सत्यवादिता के लिए क्षमा कीजिये। आपने एक ऐसे व्यक्ति को अपना सेवक या मार्ग-दर्शक चुना है, जो खुद अपना रास्ता नहीं जनता और जिसे यह नहीं मालूम कि कल मुझे कहाँ जाना होगा। यदि आपने मुझे श्रमजीवी पत्रकारों के संकटमय जीवन का प्रतीक समझा है तो भी बड़ी भारी भूल की है, क्योंकि मेरी वर्तमान परिस्थिति परोपजीवी जैसी है और मेरा जीवन, सधना तथा तप का कभी भी नहीं रहा। मैं आपको धोखे में नहीं रखना चाहता। वक्त की पावन्दी और नियमबद्धता तथा आत्म-निबन्धन जैसे गुणों का, जो प्रत्येक महत्वाकांक्षी पत्रकार के लिए अनिवार्यतः आवश्यक हैं, मुझमें नामोनिशान नहीं। फिर भी जब आपने टोक-पीट कर वैद्यराज बनाने का नाटक रचा ही है तो मैं भी अपना पार्ट ईमानदारी के साथ अदा करने का प्रयत्न करूँगा।

कार्य-क्रम

जब आप साल भर तक मुझसे अपनी सेवा चाहते हैं तो आपका यह कर्त्तव्य भी हो जाता है कि आगामी वर्ष के लिए एक कार्य-क्रम तैयार कर दें। अपने कुछ सहयोगियों की सहायता से मैंने एक ढाँचा तैयार किया है। उसे सन्क्षेप में यहाँ बतला रहा हूँ।

साल भर के लिए काम

१. एक पत्रकार विद्यालय की स्थापना के माध्यम।

लिए प्रयत्न।

(पाठ्य-पुस्तकों तथा संदर्भ ग्रंथों की रचना इसके अधीन ही सम्भिये।)

२. व्यवस्थापकों की ट्रेनिंग, कुछ पत्रकारों के लिए अंग्रेजी तथा प्रांतीय भाषाओं के पत्रों के कार्यालय दिखलाने का प्रबन्ध।

३. केन्द्रीय, प्रांतीय तथा स्थानीय पत्रकार संघों का संगठन।

४. दस-वर्षीय साहित्यिक तथा सांस्कृतिक कार्य-क्रम के लिए आन्दोलन।

५. सरकार से आवश्यक सुविधाएँ प्राप्त करना।

६. पत्रकारों की स्थिति में यथोचित सुधार।

श्रमजीवी पत्रकारों की दृष्टि से निरसन्देह अन्तिम कार्य ही सबसे अधिक आवश्यक है, पर उसके लिए अपना पूरा-पूरा समय देने वाला एक सुयोग्य सहायक मुझे चाहिये। जो भी कार्यक्रम आप तैयार करें, उसके बारे में एक निवेदन मुझे करना है। वह यह कि वह व्यावहारिक हो और योग्यता तथा परिस्थिति के ख्याल से उसके अलग-अलग अंश आप भिन्न-भिन्न व्यक्तियों को सौंप दें।

ॐ अ० भा० हिन्दी-पत्रकार-संघ के मथुरा-अधिवेशन में अथर्व-१६ से दिया गया

पत्रकार-विद्यालय

सुना है कि अमेरिका में दो सौ से ऊपर पत्रकार-विद्यालय हैं। हिन्दी-जगत में हम लोग एक भी विद्यालय अभी तक कायम नहीं कर सके।

काशी-विद्यापीठ ने अभी हाल में चार महीने के लिये जो प्रयोग किया था, तदर्थ हम सबको उसके संचालकों का कृतज्ञ होना चाहिये। खास तौर से धन्यवाद के पात्र हैं डालमियानगर के साहू शान्ति प्रसाद जी जैन, जिन्होंने मुझे एक हजार रुपये इस कार्य के लिए दिया था और वह रकम सीधी काशी-विद्यापीठ के पास भेज दी गई थी।

आगरे के 'गीता-मन्दिर' ने भी पिछली गर्मियों में पत्रकार-शिक्षण शिविर का संचालन किया था। उसके कार्यकर्त्ताओं को भी धन्यवाद देना हमारा कर्त्तव्य है। उसके पूर्व 'विश्वमित्र'-संचालक श्रीयुत मूलचन्द जी अग्रवाल ने पत्रकारों की ट्रेनिंग के लिए एक अच्छी रकम देने की घोषणा की थी और 'रजत-जयन्ती' अङ्क द्वारा इस आन्दोलन को आगे बढ़ाने में उल्लेख-योग्य सहायता दी थी। इसी वर्ष के प्रारम्भ में हमने वर्षा में श्रीयुत धनश्यामदास जी बिड़ला की सेवा में पत्रकार-विद्यालय के विषय में कुछ निवेदन किया था। उन्हें यह विचार पसन्द आया था और उन्होंने हमें यह आदेश दिया था कि हम पत्रकार-विद्यालय की एक आयोजना बना कर श्रीयुत पारसनाथ सिंह जी के पास भेज दें। खेद है कि हम यह कार्य अब तक नहीं कर सके। आप लोग एक ऐसी कमेटी बना दीजिये, जो आयोजना तैयार करके काशी विद्यापीठ तथा गीता-मन्दिर के संचालकों से और श्रीयुत मूलचन्द जी अग्रवाल तथा श्रीयुत धनश्यामदास जी बिड़ला से मिल कर यह अनुरोध करे कि पारस्परिक सहयोग द्वारा वे एक या दो विद्यालयों की स्थापना कर दें।

आप जानते ही हैं कि मैं विकेन्द्रीकरण की नीति का पक्षपाती हूँ। अपनी समस्त साहित्यिक तथा सांस्कृतिक शक्तियों को काशी और प्रयाग में

ही केन्द्रित कर देने की नीति विवातक होगी। कानपुर, आगरा, दिल्ली इत्यादि में भी ऐसी संस्थाएँ स्थापित होनी चाहिये, जहाँ से विचारों की धारा निकल कर देश के भिन्न-भिन्न जनपदों तथा प्रान्तों को प्लावित कर दे।

यहाँ भी हमें कार्य-विभाजन की नीति से काम लेना चाहिये। उदाहरणार्थ पाठ्य पुस्तकों के निर्माण तथा प्रकाशन का काम आगरे का 'गीता मन्दिर' आने हाथ में ले सकता है। हिन्दी-पत्रकार-कला के इतिहास की सामग्री तो तुरन्त इकट्ठा कर लेनी चाहिये। इस विषय में हमारे हैदराबादी मित्र श्रीयुत बंकटलाल ओझा की 'हिन्दी-पत्र-प्रदर्शनी' बहुत सहायक हो सकती है।

व्यवस्थापकों की ट्रेनिंग का कार्य श्रीयुत मूलचन्द जी अग्रवाल के सुपुर्द किया जा सकता है। अभी पिछले दिनों श्रद्धेय कृष्णराम जी मेहता से हमें पत्रकारों की शिक्षा के विषय में बातचीत करने का अवसर मिला था। उन्होंने बतलाया कि पत्रों की व्यवस्था का काम सबसे महत्वपूर्ण है और उस की सब से अधिक उपेक्षा होती है। पत्रकारी सीखने के इच्छुक बीसियों युवक उनके यहाँ पहुँचते थे, पर मैनेजरी का काम सीखने के लिए एक भी युवक नहीं गया। श्रीयुत मूलचन्द जी भी इस विषय पर काफी जोर दे चुके हैं। पत्र-संचालन मुख्यतः एक व्यवसाय है और यदि पत्रों का प्रबन्ध-विभाग कमजोर रहा तो फिर श्रमजीवी पत्रकारों की आर्थिक स्थिति में सुधार होना सम्भव नहीं। हम लोगों में शिष्यवृत्ति होनी चाहिए और जहाँ जो कुछ भी अच्छा हो, उसे सीखने के लिये अथवा उसका अनुकरण करने के लिए हमें सदा उत्थित रहना चाहिए। उदाहरण के लिए हम मदरास के 'हिन्दू', बम्बई की 'जन्म-भूमि', कलकत्ते की 'आनन्द-बाजार-पत्रिका' और प्रयाग के 'लीडर' तथा 'अमृत-बाजार पत्रिका' से बहुत सी बातें सीख सकते हैं। हिन्दी पत्र-संचालक तथा कुछ पत्रकार भी इन स्थानों की यात्रा करें और उपयोगी कार्य-पद्धति को जान लें। खास-खास हिन्दी पत्रों को एक-एक आदमी अपने कार्यालय

से मुख्यस्थित पत्रों के कार्यालय में भेजना चाहिए। प्रारम्भ में हम पाँच-सात आदमियों की एक मण्डली महीने भर की यात्रा पर भेज सकते हैं। इन पत्रकारों को सवेतन छुट्टी मिले और मार्ग-व्यय का एक-तिहाई भाग वे खुद दें और दो-तिहाई कार्यालय।

संगठन

केन्द्रीय कार्यालय के लिये तो मेरी समझ में दिल्ली ही सर्व-श्रेष्ठ स्थान है और जब तक हमारे पास आर्थिक सुविधाएँ न हों तब तक किसी पत्र विशेष के कार्यालय में ही कागज-पत्र रख लेना चाहिये। दिल्ली में यदि हिन्दी-भवन की स्थापना होजाय तो उसमें एक-दो कमरे हमारे केन्द्रीय कार्यालय के लिये सुरक्षित रखे जा सकते हैं।

कार्य के विधिवत् संचालन के लिये मेरा एक निवेदन है। वह यह कि वार्षिक उत्सव के लिये हम सभापति का निर्वाचन नियमानुकूल किया करें, पर कार्य समिति का प्रधान कम से कम तीन वर्ष के लिये अलग ही होना चाहिये, जिससे वह कुछ काम करके भी दिखा सके।

प्रान्तीय कार्यालयों को अपने-अपने केन्द्र स्थान चुन लेना चाहिये। यह चुनाव मुख्यतया स्थानीय कार्य-कर्ताओं के उत्साह पर निर्भर रहेगा। उदाहरणार्थ यदि कानपुर के पत्रकारों में उत्साह हो तो वे संयुक्त प्रान्तीय पत्रकार-संघ का स्थायी कार्यालय अपने यहाँ ही रख सकते हैं। कलकत्ता, पटना, लाहौर, बम्बई और दिल्ली तो बने-बनाये केन्द्र हैं। दुर्भाग्यवश कलकत्ते जैसी समृद्ध नगरी में भी पत्रकार-संघ के लिये कोई स्थान मिलना आसान नहीं। अपनी पिछली कलकत्ता-यात्रा में हमने हिन्दी भवन की स्थापना का प्रयत्न किया था और श्रद्धेय रामदेव जी चोखानी ने इस पुण्य कार्य को अपने हाथ में ले लिया था। चौदह हजार के चन्दे के वचन भी मिल चुके थे, पर विशेष परिस्थितियों के कारण वह कार्य अभी आगे नहीं बढ़ सका। कलकत्ते के हिन्दी पत्रकारों से हमारी विनम्र प्रार्थना है कि वे इस आन्दोलन को आगे बढ़ावें। इसी प्रकार बम्बई में भी हिन्दी भवन का निर्माण अत्यन्त आवश्यक है।

जहाँ तक स्थानीय पत्रकार संघ का प्रश्न है, हमें अन्य भाषाओं के पत्रकारों से मिल कर एक ही संस्था कायम करनी चाहिये। उर्दू के पत्रकारों को खास तौर से अपने साथ लेने की जरूरत है, क्योंकि उर्दू के पत्रकारों की स्थिति हम लोगों से भी खराब सुनी जाती है।

सहिष्णुता

पत्रकारों के संगठन में हमें अपने बन्धुओं के राजनैतिक विचारों के प्रति पूर्ण सहिष्णुता का ही बर्ताव करना चाहिये। राजनैतिक दृष्टिकोण को प्रधानता देने से हम इस क्षेत्र में फूट के बीज ही बो सकते हैं, जिसका कुफल हमारी संस्थाओं को भुगतना पड़ेगा। हमारे संघों में प्रत्येक विचार-धारा के व्यक्ति हैं—गांधीवादी, साम्यवादी, रायवादी, समाजवादी, हिन्दू महावादी, आर्य समाजी, सनातनी इत्यादि। सरकारी पत्रों के पत्रकार भी हमारे सदस्य हो सकते हैं। इसके विनाश आज जो व्यक्ति गरमदली पत्र में काम करता है, कल परिस्थितियाँ उसे नरमदल के पत्र के काम करने को मजबूर कर सकती हैं। हम किसी को अपनी विमर्श से उसके राजनैतिक रंग के कारण खारिज नहीं करना चाहते। विचारों की स्वाधीनता हमारा मूल मंत्र है और जो स्वतंत्रता हम अपने लिये चाहते हैं उसे हमें दूसरों को भी भोगने देना चाहिये। हमें इस विषय में बहुत सतर्क रहना चाहिये कि किसी पत्र को अपने विचारों के कारण किसी अनाचार का शिकार न होना पड़े, चाहे वह अनाचार सरकार की ओर से हो, या जनता की ओर से। चाहे वह सरकार द्वारा जमनत मांगे जाने की शक्ल में हो या कार्यालय पर भीड़ द्वारा हमला होने या हौकरो को पीटे जाने के रूप में। इस प्रकार के प्रत्येक अनाचार के प्रति हमें अपनी आवाज बुलन्द करनी चाहिये। जो पत्रकार यह समझे हुए हैं कि शासकों के परिवर्तन से, गोरों की जगह भूरे शासक आजाने से, पत्रकारों को विचारों की स्वाधीनता मिल जायगी, वे भयंकर भ्रम में हैं। शासन और स्वतंत्रता दोनों परस्पर विरोधी शब्द हैं और हमें इन दोनों में से कोई एक ही चुनना पड़ेगा। हमें अपने आप को चाहे वह किसी रंग-

जाति या मुल्क के क्यों न हो, महात्मा नहीं म नते । स्वाधीनचेता पत्रकारों का जीवन निरंतर संघर्ष का जीवन है और जब तक मनुष्यों में दूसरों पर शासन करने की इच्छा विद्यमान है तब तक स्वाधीनचेता पत्रकारों को विश्राम नहीं मिल सकता । 'प्रभुता पाइ काहि मइ नार्ही-' वावा तुलसीदास ने बिल्कुल ठीक कहा था । हमें इस विषय में अत्यन्त सतर्क तथा सावधान रहने की जरूरत है । स्वदेशी सरकारों से भी पत्रकारों को काफ़ी खतरा रह सकता है । अपने विरोधियों का भी संरक्षण करना प्रत्येक सरकार से लिये सर्वथा स्वाभाविक है ।

दस-वर्षीय साहित्यिक तथा सांस्कृतिक कार्य-क्रम

ऊपर से देखने से इस कार्यक्रम का प्रश्न हमें भले ही अप्रासंगिक दीख पड़े, पर इससे हमारे भविष्य का घनिष्ठ सम्बन्ध है । समय-समय पर हमारे कितने ही पत्रकार वन्धु पुस्तकों की रचना करके अपनी जीविका संचालन में कुछ सहायता प्राप्त करते हैं । इसलिये साहित्य की गतिविधि का प्रश्न हमारे लिये उपेक्षणीय नहीं हो सकता । बात यह है कि पन्द्रह बीस वर्ष बाद हिन्दी-जगत् में एक तूफान, आने वाला है और यदि उसका मुकाबिला करने के लिये हम लोगों ने अभी से तैयारी नहीं की तो अब तक हम लोगों ने जो साहित्य-साधना की है, वह तो प्रायः नष्ट हो ही जायगी, पर साथ ही जनता की रुचि इतनी विकृत तथा अपरिष्कृत बन जायगी कि उसको ठीक-ठिकाने लाना अत्यन्त ही कठिन हो जायगा ।

बात यह है कि अगले दस वर्षों में साक्षरता प्रचार के लिये जबरदस्त आन्दोलन होगा । सन् १९६० के लगभग हिन्दी पढ़नेवालों की संख्या आज से पाँच-सात गुनी बढ़ जायगी, पर जिस गति से हमारे यहाँ सात्विक और शक्ति प्रद साहित्य की रचना हो रही है, यह इतनी मन्द और असंगठित है कि उस विशाल जन-समूह की बौद्धिक मूल मिटाने के लिये हमारा साहित्य

बिल्कुल अपर्याप्त सिद्ध होगा । नतीजा यह होगा कि हिन्दी जगत् में घासलेटी साहित्य की बाढ़ बड़े जोरों के साथ आ जायगी और उसका दुष्परिणाम यह होगा कि या तो सुबचि-सम्पन्न लेखकों को अपनी रुचि का धरातल बिल्कुल नीचा करके घासलेटी लेखकों की श्रेणी में शामिल होना पड़ेगा, या फिर उनको अपनी जीविका के लाले पड़ जाँयगे ।

उपयुक्त आशंका-पूर्ण विचार हमारे मनमें तब उठे जब हमने विलायत के सुप्रसिद्ध पत्रकार हेमिल्टन फ्राइक की 'प्रेस परेड' नामक पुस्तक पढ़ी ।

ग्लैडस्टन ने विलायत में सन् १८७० ई० में अनिवार्य सार्वजनिक शिक्षा का जो नियम पास करा दिया था, उसका असर सन् १८८५ के लगभग पड़ा । नवीन पाठकों की संख्या कई गुनी हो गई । उनके लिए मानसिक भोजन की जरूरत पड़ी, पर न तो विश्वविद्यालयों ने और न ईसाई धर्मावलंबी संस्थाओं ने ही इस ओर ध्यान दिया था । उच्च श्रेणी के व्यक्तियों तथा व्यापारी वर्ग ने भी इस प्रश्न को उपेक्षा की दृष्टि से देखा था । किसी ने दूरदर्शिता के साथ इस प्रश्न पर विचार ही न किया था कि आखिरकार यह नवीन पाठक-समाज पड़ेगा क्या ?

इस अदूरदर्शिता का नतीजा यह हुआ कि अश्लील साहित्य के प्रचारकों को मैदान खाली मिल गया । गन्दे-से-गन्दे किस्से-कहानियों की किताबें छप कर बिकने लगीं । एक अखबार ने तो इंग्लैंड के सभी नगरों में अपने संवाददाता मुर्करर कर दिये और उन्हें यह आदेश दे दिया कि जितने भी गन्दे किस्से-कहानी या जुर्म की बातें इकट्ठी हो सकें, उन्हें छपने के लिए भेज दो । आगे चत्र कर इंग्लैंड के समाचार-पत्रों में जो क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ, लार्डनार्थ-विलफ्र को पत्रकार-कला के आदर्श को नीचा करने के लिये जो भूमि तैयार मिली, उसके मूल में पत्रकारों, लेखकों और प्रकाशकों की वह अदूरदर्शिता ही थी ।

परिणाम यह हुआ कि पत्रों की गम्भीरता

होगा बिल्कुल नष्ट हो गई। सर्वयूलेशन या अधिक-से-अधिक प्रचार के मोह ने पत्रों की गतिविधि बिल्कुल ही बदल दी। अधिकांश पत्र पूँजी-पतियों के हाथ में पहुँच गए, पत्रकारों के अधिकारों पर कुठाराघात हुआ और वे बिल्कुल फालतू चीजें लिखने के लिए मजबूर हो गये। जनता के गुरु या पथ-प्रदर्शक बनने के बजाय वे जनता के लिये हानिकारक, मनोरंजक तथा उर्दीपक सामग्री जुटाने वाले दलाल बन गये।

हम लोगों के भाग्य में कुछ ऐसा ही बड़ा प्रतीत होता है। हिन्दी-पत्रकार-जगत् पर पूँजी-पतियों का आक्रमण हो ही चुका है। वे इस बात को समझ गए हैं कि पत्रों के प्रकाशन से मुनाफ़ा उठाया जा सकता है, उससे राजनैतिक शक्ति अपने हाथों में आ सकती है और जनता की कुरुचि को प्रोत्साहन देने से आर्थिक लाभ तो होता ही है; साथ ही लोग प्रगतिशील विचारों से वंचित भी रखे जाते हैं। वह दिन दूर नहीं है, जब कि पत्रकार-जगत् पर पूँजीपतियों का सामूहिक आक्रमण होगा और हम लोगों की छिन्न-भिन्न शक्ति और भी क्षीण हो जायगी। हमारे राजनैतिक लीडर अत्यन्त व्यस्त हैं। उन्हें इतनी फुर्सत कहाँ कि वे साहित्यिक अथवा सांस्कृतिक प्रश्नों पर गम्भीरता-पूर्वक विचार कर सकें! उनकी तरह के कार्यव्यस्त आदमियों से इस तरह की उम्मेद भी न करनी चाहिये। यह कार्य तो मुख्यतः सार्विक रुचि वाले लेखकों, कवियों, पत्रकारों तथा प्रकाशकों का है। दर-असल यह कोई परोपकार का सवाल नहीं है। यह प्रश्न है हमारी जिंदगी और मौत का।

साहित्य के लिए दस वर्षों का कार्य-क्रम तैयार करना हमारा अत्यन्त आवश्यक कर्तव्य है और आत्मरक्षा के ख्याल से इसमें प्रवृत्त होना चाहिये।

सबसे अधिक खतरा आदर्शवादी लेखकों तथा पत्रकारों को है। इसलिए उन्हीं से हम कहते हैं—“समय रहते सावधान।”

सरकार से सुविधाएँ

जहाँ तक सरकार से सुविधाएँ प्राप्त करने का प्रश्न है, सरकारी अत्याचारों को दूर करने का सवाल है, इस कार्य को सर्वश्री श्रीप्रकाश जी, श्रीकृष्णदत्त जी गलीवाल और श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' जी भजी भांति कर सकते हैं। मैंने सुना था कि साहित्य के प्रचार में सब से बड़ी बाधा यह हुई थी कि पुस्तकों की वी० पी० रजिस्ट्री से भेजे जाने का नियम बना दिया गया था। इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि बिन ग्रन्थ-मालाओं के सैकड़ों ग्राहक बन चुके थे वे इस रजिस्ट्री के नियम के कारण बिल्कुल ही बन्द हो गईं। इस गरीब मुल्क में, जहाँ ब्रिटेन का ही नहीं, निरन्तरता का भी विनाशकारी साम्राज्य है, शिक्षा-प्रसार के प्रत्येक साधन का स्वागत होना चाहिये।

रेडियो की नीति और हिन्दुस्तानी

भारत सरकार की रेडियो की नीति के विषय में मुझे इस अवसर पर हतना हो कइना है कि वह हिन्दी-भाषा-भाषी जनता की भावनाओं के सर्वथा प्रतिकूल है। हिन्दी और उर्दू दोनों में अलग-अलग ब्राडकास्ट होने चाहिये। यद्यपि मैं हिन्दुस्तानी का समर्थक हूँ और महात्मा जी की राष्ट्रभाषा विषयक परिभाषा को सोलह आने ठीक मानता हूँ, तथापि मैं जोर-जबरदस्ती का घोर विरोधी हूँ और मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि हिन्दुस्तानी का स्वाभाविक विकास न तो दिल्ली के रेडियो-घर में हो सकता है और न वर्धा के हिन्दुस्तानी-प्रचार-कार्यालय में। उसके लिये दोनों को हिन्दी-उर्दू लेखकों की शरण में आना पड़ेगा और हम सबको प्रगतिशील जनता के सम्पर्क में जाना पड़ेगा। सजीव जनता ही भाषाओं का निर्माण करती है, निर्जिव कार्यालय नहीं। पत्रकारों तथा लेखकों को राष्ट्र-भाषा की दोनों शैलियों को अध्ययन करने की सुविधा मिलनी चाहिये। अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिये पत्रकारों का शोधण अथवा उनकी शक्तियों का उपयोग करनेवाले तो बहुत हैं—क्या सरकार और क्या हमारे नेता—पर उनके सुख-दुख, सुविधा-असुविधा का ध्यान रखने वाले बहुत कम हैं। सच बात तो यह है कि हमें इस विषय में किसी से आशा ही नहीं

श्रमजीवी पत्रकारों की समस्या

श्रमजीवी पत्रकारों की समस्या पर हिन्दी पत्रों में बहुत-कुछ लिखा-पढ़ी हो चुकी है और यह हर्ष की बात है कि पत्रकारों में बन्धुत्व की भावना भी जाग्रत हो रही है। पत्र संचालकों का कर्तव्य है कि इस भावना का सम्मान करें और पत्रकारों के प्रश्न पर सहानुभूति की दृष्टि से विचार करें। यद्यपि भविष्य में वह दिन आने वाला है जब कि श्रमजीवी पत्रकारों के और पत्र-संचालकों के संगठन अलग-अलग होंगे, पर यदि संचालकों ने दूरदर्शिता से काम नहीं लिया तो यह दुर्घटना शीघ्र ही घट जायगी। 'दुर्घटना' शब्द का प्रयोग मैं जान-बूझ कर कर रहा हूँ, क्योंकि अभी हिन्दी-जगत् का, हिन्दी पत्रकारों का और स्वयं पत्र-संचालकों का हित इसी में है कि अनावश्यक संघर्ष से बचा जाय। अभी तो हमें विदेशी नौकरशाही से मोर्चा लेना है। सरकार ने अपनी अन्यायपूर्ण नीति अब भी नहीं बदली। 'नेशनल हेराल्ड' तथा 'सैनिक' से जो जमानतें हाल ही में मांगी गई हैं, हमारे इस कथन का प्रमाण हैं। अनी हम लोगों का इसी में कल्याण है कि पारस्परिक विश्वास तथा सहयोग की नीति से काम लिया जाय। पिछले वर्ष हमारे सम्मेलन ने पत्रकारों के न्यूनतम वेतन, मँहगाई, प्रोवीडेंट फण्ड, छुट्टी, काम के घंटे, ग्रेच्युटी आदि के सम्बन्ध में कुछ निश्चय किये थे। लज्जापूर्वक हमें यह बात स्वीकार करनी पड़ती है कि हमारे संघ के कुछ पदाधिकारी भी उन निश्चयों को पूर्णतः तो क्या, अंशतः भी अपने यहां कार्यान्वित नहीं कर सके। इससे अविश्वास उत्पन्न होना स्वाभाविक है। आदर्शवादी पत्रसंचालकों की कठिनाइयों को हम भली भाँति जानते हैं और खुद उनके हित के ख्याल से हम उनकी सेवा में यह निवेदन कर देना चाहते हैं कि श्रमजीवी पत्रकारों की सद्भावना को न खोवें। निस्सन्देह आदर्शवादी पत्र उतना वेतन नहीं दे सकते, जितना पूँजीपतियों के, पर वे अपने वर्ताव से यह भावना तो पत्रकारों के हृदय में उत्पन्न कर ही सकते हैं कि पत्र के संचालन, नीति, यश-अपयश

हानि-लाभ इत्यादि में उनका भी हाथ है। क्रियात्मक सहानुभूति अनेक गलत-फहमियों को दूर कर सकती है, लेकिन कोरमकोर आदर्शवाद की दुहाई का दुष्परिणाम यह होगा कि सुयोग्य पत्रकारों को पूँजीपतियों के पत्रों का आश्रय लेना पड़ेगा। अपने श्रमजीवी भाइयों से भी मुझे दो-तीन बातें कहनी हैं। वेतन वृद्धि के लिये आन्दोलन और अपनी योग्यता को बढ़ाने का कार्य, ये दोनों साथ-साथ होने चाहिये। पत्रकारों की सर्वांगीण उन्नति के लिये क्या उपाय आवश्यक हैं, इस विषय पर हमारे कोई पत्र यदि अपने विशेषांक निकलें तो बड़ी अच्छी बात हो। 'विश्वमित्र' और 'आज' के जयंती अकों ने तथा 'रामराज्य' के 'पत्रकार-अंक' ने इस दिशा में प्रशंसनीय कार्य किया है, पर तथ्य-संग्रह तथा गंभीर विवेचना की अब भी बहुत आवश्यकता है।

दूसरी बात यह है कि आने को श्रमजीवी कहने वाले पत्रकारों के लिये अन्य श्रमजीवी संघों का सहयोग अत्यन्त आवश्यक है। मजदूर-आन्दोलनों का हमें अध्ययन ही नहीं करना होगा, उनमें शामिल भी होना पड़ेगा। प्रूफ रीडरों को ही नहीं, कम्पोजीटरों को भी हमें अपने साथ ही रखना चाहिये। तभी हम पत्र संचालकों पर सफलता-पूर्वक दबाव डाल सकते हैं।

तीसरी बात यह है कि पत्रकारों के प्रश्नों के केवल आर्थिक पहलुओं पर ही जोर डालने से हम जनता में अपनी लोक-प्रियता खो बैठेंगे। यद्यपि पत्रकारी अब मुख्यतः एक व्यवसाय ही बनता जाता है, मिशनरी-पत्रकारों की संख्या नगण्य ही है तथापि सदा वेतन और भत्ता, छुट्टी और घंटों के वादविवाद में इस वृत्ति की बची खुची आदर्शवादिता भी रफूचकर होजायगी।

पथ-प्रदर्शक पत्रकार

पत्रकारों को राजनैतिक नेताओं का िछलगा नहीं, कभी-कभी पथ-प्रदर्शक भी होना चाहिये और यह तभी हो सकता है जब हम संसार की नवीनतम विचार-धाराओं से अपने को परिचित रखें और प्रत्येक जनोपयोगी आन्दोलन में अपने को आगे ही रखें। विनम्रता-पूर्वक हमें अपनी ग़ुटियाँ

स्वीकार करलेना चाहिये और उनको दूर करने का प्रयत्न भी करना चाहिये। साम्प्रदायिकता तथा राष्ट्रीयता से ऊपर उठकर हमें अंतर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण का विकास करना चाहिये। अपने ज्ञान को व्यापक बनाने के लिये हमें दो संस्थाओं की स्थापना के लिये तुरन्त आन्दोलन करना चाहिये। पहिली तो भारतीय-भाषा संघ और दूसरी अंतर्राष्ट्रीय संस्कृति संघ। हिन्दी साहित्य सम्मेलन के वर्तमान सभापति यदि भारतीय भाषा संघ को पुनर्जीवित कर सकें तो बड़ी अच्छी बात हो। हमारा विश्वास है कि भारतीय भाषा संघ ही हिन्दी उर्दू के भगड़े को निपटा सकेगा। तब हिन्दी वालों और उर्दू वालों को पता लग जायगा कि हिन्दुस्तान में हिन्दी-उर्दू के सिवाय अन्य भाषाएँ भी हैं और उनका भी अपना निजी साहित्य है, जो कुछ अंशों में हिन्दी उर्दू साहित्य से उच्चतर है। साहित्यिक तथा सांस्कृतिक आदमियों को हम संख्या की लाठी से नहीं हांक सकते। राजनैतिक क्षेत्रों में संख्या का भले ही महत्व हो, साहित्यिक क्षेत्र में वह अधिक महत्व नहीं रखती। अंतर्राष्ट्रीय संस्कृति संघ की स्थापना दिल्ली जैसे किसी केन्द्रीय स्थल में होनी चाहिये और वहां विदेशी साहित्य तथा संस्कृति को अध्ययन करने के लिये सब सुविधाएँ मिलनी चाहिये। विदेशियों तथा विदेशी भाषा में जो कुछ अच्छा है, उसे हमें अनुवादों द्वारा तुरन्त अपने साहित्य और जीवन में लाना चाहिये। आज तो हमारा सम्पूर्ण ध्यान राजनैतिक प्रश्नों पर ही केन्द्रित है। पराधीनता के दिनों में यह सर्वथा स्वाभाविक ही है, पर राजनीति ही सब कुछ नहीं है। साहित्य और संस्कृति का भी जीवन में स्थान है। क्या ही अच्छा हो, यदि हम अपने पत्रों के पाल्कि या मासिक अतिरिक्त अंक निकालें, जिनमें शिक्षा, साहित्य और संस्कृति के विषयों पर गंभीर विवेचन हो।

नवीन दृष्टिकोण

हम लोगों की, खासतौर पर हिन्दी पत्रकारों की जिम्मेवारी बहुत ज्यादा है। जो स्थान अंग्रेजी

भाषा तथा अंग्रेजी पत्रकारों को प्राप्त है, उनके असली अधिकारी हमी लोग हैं। ज्यों-ज्यों देश में शिक्षा तथा साक्षरता का प्रचार होता जायगा, देशी भाषाओं के पत्रकारों का महत्व भी बढ़ता जायगा। वास्तव में हमी लोग जनता के वास्तविक प्रतिनिधि हैं।

साहित्यिक और राजनैतिक क्षेत्रों में हमें साधारण कार्यकर्ताओं और मामूली सिपाहियों को उचित स्थान देना चाहिये। जनता क्या खयाल करती है, उसके अभाव, कष्ट और आकांक्षाएँ क्या-क्या हैं, इसका विश्लेषणात्मक विवरण हमारे पत्रों में छुपना चाहिये। विलायत के सार्वजनिक जीवन-निरीक्षक संघ (Mass observation society) की तरह की संस्था हमारे यहां भी स्थापित होनी चाहिये।

आज तो क्या हमारा साहित्य और क्या हमारी राजनीति, अल्पसंख्यक सुप्रसिद्ध लेखकों, कवियों तथा लीडरों के इर्द-गिर्द घूम रहे हैं। निस्सन्देह आकाश में सूर्य-चन्द्र का महत्व है, पर ग्रहों-उपग्रहों तथा तारागणों की महिमा को हम कैसे भूल सकते हैं? साहित्य और राजनीति दोनों की धाराओं को साधारण जन (Common Man) की ओर मोड़ना है और सजीव पत्रकार ही इस आन्दोलन के प्रवर्तक बन सकते हैं। बहुत संभव है कि हमें गरीबों की भोपड़ियों में उस महत्व तथा सहृदयता के दर्शन हों, जो लीडरों के आलीशान ड्राइंगरूम में प्रायः अप्राप्य है। घृतमिव पयसि निगूढ भूते भूते च वसति विज्ञानं। सततम् मन्थयितव्यं मनसा मानदण्डेन।

अर्थात्—“जिस तरह दूध में घी छिपा हुआ है, उसी प्रकार प्रत्येक प्राणी में विज्ञान मौजूद है। हमारा कर्तव्य है कि मन की मथनियाँ द्वारा उसको मथ कर निकालें।”

साधारण जन को उचित महत्व देकर ही हम जनता-जनार्दन की वास्तविक सेवा कर सकते हैं और पत्रकारों का यही मुख्य कर्तव्य है।

मेरे शिक्षक जीवन के कुछ अनुभव

आचार्य हरभाई त्रिवेदी

[प्रस्तुत लेख के विद्वान् लेखक गुजरात के सुप्रसिद्ध शिक्षा-विशेषज्ञ हैं। शिक्षण क्षेत्र में उन्होंने खूब परीक्षण किये हैं और अब भी कर रहे हैं। जिन कठिनाइयों का उन्होंने इस लेख में उल्लेख किया है, वे प्रायः सर्वत्र पाई जाती हैं। हमें विश्वास है कि इन शिक्षा-शास्त्री के अनुभवों से अध्यापक लाभ उठावेंगे।—सम्पादक]

बम्बई विद्यापीठ के स्नातक की पदवी प्राप्त करने से पहले ही मैंने निश्चय कर लिया था कि चाहे भूखों मरना पड़े, परन्तु अध्यापक नहीं होना है। इसका मुख्य कारण शिक्षक की आर्थिक दीनता थी। कॉलेज में पढ़ते समय एक बार माध्यमिक शाला के एक आदर्श शिक्षक की दरिद्रावस्था देखी। उसी समय से इस धंधे के प्रति घृणा उत्पन्न होगई। हाँ, कॉलेज का प्रोफेसर होने का विचार मनमें अवश्य आया; परन्तु उसके लिये तो बहुत अधिक परिश्रम और व्यय की आवश्यकता थी। अतः स्नातक होने के पश्चात् मैंने बम्बई जैसे बड़े नगर को जीविकोपार्जन के लिये पसन्द किया। इसके लिये दैनिक पत्रों के विज्ञापन देखे और किसी व्यापारी की नौकरी करने के लिये जी-जान से कोशिश की। विद्यापीठ के स्नातक को नौकरी के लिये घक्के खाते देखकर व्यापारियों को तरस आता और वे मेरी साधारण देशी पोशाक की ओर मुँह फेरकर करुण उपहास करते। गुजराती व्यापारी को जब साहबी टाठवाला गुजराती तो सुलभ था तो फिर मेरे सरीखे सामान्य पोशाक वाले को नौकर रखना वे क्यों पसन्द करते ?

नौकरी खोजने के इन प्रयत्नों का मेरे मन पर प्रबल प्रत्यावात हुआ। दीनता और दरिद्रता तो मुझे प्रत्येक प्रकार की नौकरी के साथ संबद्ध जान पड़ी। एक दिन चाँदनी रात में चोपाटी के रेत में बैठे-बैठे मैंने विचार किया कि दीनता और दरिद्रता को अपना लेने पर शिक्षण कार्य में और कुछ नहीं तो विद्यार्थियों पर थोड़ा-बहुत हुक्म

चलाना और अधिकार-प्रयोग करना तो मिलेगा ही। मैंने उसी समय शिक्षक होने का दृढ़ निश्चय किया और सोचा कि इस कार्य को भी करके देख लेना चाहिए।

एक तो माध्यमिक शाला की नौकरी, दूसरे बम्बई जैसा विचित्र नगर; असाधारण व्ययशील जीवन और युवावस्था की उठती तरंगें, इन सबको एक सामान्य शिक्षक की यह नौकरी संतुष्ट नहीं कर सकती थी ! स्वीकार किये इस धंधे की ओर घृणा तो थी ही। इसमें सामान्य आर्थिक प्राप्ति के कारण असंतोष और मिलने लगा। अवकाश के समय विचार-प्रेरक पुस्तकें पढ़ने की आदत अभी बनी ही थी। इस समय को आदर्श और कल्पना-जगत् से हटा कर धन कमाने में लगाया जाय तो कितना अच्छा हो, यह विचार अधिकाधिक तीव्र होने लगा। आर्थिक कठिनाई ने इस विचार को व्यावहारिक रूप देने के लिये विवश किया। मैं बम्बई जैसे विशाल नगर में बहुत ही शीघ्र ट्यूशन के चक्कर में पड़ गया। ट्यूशन भी फिर एक-दो नहीं, बरन् जैसे-जैसे आर्थिक लोभ बढ़ता गया, ट्यूशन की सीमा न रही। मैं प्रातः बहुत ही जल्दी घर से निकल कर रात के दस बजे घर लौटता और दोपहर के भोजन का काम साधारण चूबैने से चला लेता था। अतः ट्यूशन से विरक्ति उत्पन्न होने में देर न लगी; परन्तु आर्थिक समस्या को बिना सुलभाये काम नहीं चल सकता था। कमाने के उपाय केवल व्यापारियों को ही सूझते हैं, यह बात नहीं है। चलते-पुजें शिक्षक भी कमाने के अनेक

उपाय खोज निकालते हैं। एक साथ बहुत-से विद्यार्थियों को ट्यूशन पढ़ाया जा सकता है, यह सोचकर मैंने भी ट्यूशन के विशाल वर्ग आरंभ किये। थोड़े परिश्रम से अधिक धन कमाने की यह योजना आज तो गुजरगत भर में व्यापक होगई है। विचारशील व्यक्ति को ऐसी योजनाएँ अधिक अनुकूल नहीं पड़तीं। बम्बई की यह बहुत बड़ी कमाई और इसके पीछे एड़ी-चोटी का पसीना एक करना मुझे अधिक समय तक रुचिकर न लगा। सौभाग्य से उच्च भावना और आदर्शों वाले कुछ मित्रों से मित्रता बनी थी। अतः उस मैत्री ने मुझे इस कमाई के मोह और बम्बई, दोनों से छुड़ा दिया।

मेरा बम्बई का शिक्षण-जीवन विविध अनुभवों से पूर्ण था। माध्यमिक शाला में मातृभाषा में बात भी नहीं की जा सकती, मातृभाषा द्वारा पढ़ाने की तो बात ही कहाँ! एक बार मैट्रिक के विद्यार्थियों के आग्रह से मैंने एक अंग्रेजी कविता मातृभाषा द्वारा समझा दी। उसी समय शाला के आचार्य वहाँ से निकले। दोपहर के विश्राम-काल में आकस्मात् मुझे उन्होंने बुलाया। शाला में यह नियम था कि सामान्यतः आचार्य और शिक्षक परस्पर न मिलें। आचार्य के कमरे में पैर रखते ही मैंने उनके मुख पर रोष के स्पष्ट चिह्न देखे। मातृभाषा द्वारा पढ़ाने के बदले मुझे उपालम्भ-वाक्य सुनने पड़े। इतना ही नहीं, वगन् ऊँची कक्षाओं का शिक्षण कार्य मुझसे छीन लिया गया। इस कार्य के छीन लेने का मुझे जितना दुःख था, उससे कहीं अधिक आचार्य के इस व्यवहार से होने वाली अपनी मान-हानि का था। विद्यार्थियों और शिक्षकों की दृष्टि में मैं पद-च्युत माना गया। अपमान के इस विष घूँट को पीने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही नहीं था। अतः मैंने इसे चुनचाप सह लिया। मुझे प्रथम श्रेणी में अंग्रेजी पढ़ाने का काम सौंपा गया। अब आचार्य की मेरे ऊपर एक पड़ेदार की-सी दृष्टि रहने लगी। ऐसी शालाओं में गुप्तचर का काम करने वाले कुछ शिक्षकों का सहयोग उन्हें प्राप्त था। पहली

कक्षा के छोटे-छोटे बालक वर्ग में शोर मचाते तो मैं उन्हें समझाता और प्रेम से बस में करने का प्रयत्न करता। अनुशासन की दृष्टि से हमारी शाला के संचालकों को यह मार्ग पसन्द नहीं था। एक बार एक पुगने शिक्षक ने तो पास की कक्षा में से आकर शोर मचाने वाले दो बच्चों के मुँह पर तड़ातड़ तमाचे भी लगा दिये! और मेरी ओर इस प्रकार उपेक्षा की दृष्टि से देखते चले गये मानो मैं बिलकुल अयोग्य और अशक्त शिक्षक हूँ। वर्ग में सजाटा छा गया। केवल दो बच्चों के रोने की आवाज सुनाई पड़ती थी। इस घटना से मुझे बहुत दुःख हुआ। मनका दुःख शांत होने से पहले ही आचार्य का उपालम्भ प्राप्त हुआ। इसके साथ ही मुझे उनकी ओर से यह धमकी भी सुनने को मिली कि यदि तुम कक्षा को अनुशासन में नहीं रख सकते तो तुम्हें शाला छोड़ देनी चाहिए। मेरे सरीखे युवक के अभिमान की स्वभाव के लिए अब और अधिक सहन करना संभव न था। इस प्रकार की घटनाएँ अनेक शिक्षकों के जीवन में घटित हुआ करती हैं; परन्तु हमारे समाज की आर्थिक रचना इतनी बेदंगी है कि उन्हें मन के आवेश को मन में ही मार कर मूकभाव से चले चलना पड़ता है। मैंने आवेश में आकर अपने अभिमान को आघात पहुँचाने वाले शिक्षक के व्यवहार की निन्दा की; परन्तु आचार्य से कुछ नहीं कहा। कारण, मैं जानता था कि मेरी बात का उपहास के अतिरिक्त और कुछ उत्तर नहीं मिलेगा।

पीड़ित और प्रबुद्ध स्वाभिमान ने नवीन मार्ग प्रदूषण किया। अधिक धन कमाने की लालसा के स्थान पर मेरा मन त्यागमय वृत्ति की ओर आकर्षित हुआ। उस समय भावनगर की दक्षिणामूर्ति संस्था को स्थापित हुए सात-आठ वर्ष हुए थे। मैंने उसमें काम करना पसन्द किया। पन्द्रह दिन के चढ़े वेतन को छोड़ कर मैं एक ही रात में अपने व्यवस्थित घर को समेटे कह भावनगर आ पहुँचा। मेरे चित्त में दो ही बातें खटकती थीं—एक शिक्षक के साथ होने वाला अन्याय और दूसरे नन्हें-नन्हें बच्चों के प्रति होने

वाला क्रूर व्यवहार। धीरे-धीरे मेरे मनमें शिक्षण कार्य के प्रति अनुराग बढ़ने लगा। अब मैं अपने आपको अकस्मात् शिक्षक होने के बदले शिक्षण का जीव मान कर संतोष का अनुभव करने लगा। दक्षिणामूर्ति संस्था में शिक्षण के नये-नये प्रयोग करने का उत्साह था। काम करने वाले मेरे निकटवर्ती मित्र थे। अनेक आशाओं के साथ मैं इस संस्था में कार्य करने लगा।

अब मुझे ऐसा अवसर प्राप्त हुआ कि मैं सच्चे अर्थ में शिक्षक बन सकूँ। मुझे शिक्षकों के साथ होने वाले अन्याय को दूर करने और बालकों पर होने वाली क्रूरता को मिटाने की धुन सवार थी। पहले दो वर्षों में मैंने मुख्यतः ये दो काम ही किये। शिक्षकों में परस्पर भाई-चारे का सम्बन्ध और विद्यार्थियों में मैत्रीभाव स्थापित हो, इस कार्य के पीछे मैं पागल की तरह पड़ गया। छात्रालय संस्था का महत्व मुझे यहीं जान पड़ा। मैं जो कुछ मानता और जैसा व्यवहार करता था, सभी साथी शिक्षकों की उसमें श्रद्धा नहीं थी। इन्होंने यहाँ नौकरी करना स्वीकार किया था और नौकरी के लिये सभी बातें मान ली थीं। इस समय मुझे शिक्षक-समाज में स्वाभिमान और अपने व्यवसाय के सम्मान का अभाव दीख पड़ा। बेचारा शिक्षक समाज के ऊपरी आवरण से भयभीत होकर दूर भागता था। उसे इस बात के प्रकट करने में भी लज्जा आती थी कि मैं शिक्षक हूँ। मेरे पूर्व-कथित दो दुखों में यह तीसरा दुःख और सम्मिलित होगया। मैंने फिर निश्चय किया कि शिक्षकों के आत्मगौरव और शिक्षण-व्यवसाय को सम्मान-पूर्ण स्थान दिलाने का प्रयत्न करना चाहिए, क्योंकि इसके बिना काम चलना कठिन है।

इन नव्वन विचारों ने अध्ययन, ज्ञान, अनुभव और प्रयोगों के लिये द्वार खोल दिया। मैंने यह दृढ़ निश्चय किया कि पढ़ाने के विषय का ज्ञान एक विद्यार्थी की भाँति जीवन पर्यंत बढ़ाते रहना चाहिए। मुझे इस सत्य पर पूर्ण विश्वास हो गया कि शिक्षण-कार्य को उचित पद्धति, योजना और प्रयोगों द्वारा किया जाय

तो इस कार्य की ओर सम्पूर्ण समाज की दृष्टि सम्मान-पूर्ण हो सकती है। विषय का अध्ययन आरंभ होगया। मुझे ऐसा जान पड़ने लगा कि शिक्षण का भी शास्त्र हो सकता है और यह भी स्पष्ट प्रतीत होने लगा कि पढ़ने वाले बालक की ओर केवल प्रेमभाव रखने से ही नहीं; वरन् उसके मन को वास्तविक रूप में पढ़चानने से ही उसे विकास की ओर अग्रसर किया जा सकता है। अब मैं शिक्षक की अपेक्षा विद्यार्थी अधिकांश में बनने लगा। मेरा पढ़ाने का कार्य छुः घंटे हो तो पढ़ने का कार्य आठ घंटे चलने लगा। मुझे जान पड़ा कि मेरा वास्तविक विद्यार्थी जीवन तो अब आरम्भ हुआ है। इस प्रकार ज्ञान-प्राप्ति में मेरी रुचि बढ़ने के साथ-साथ उसके उपयोग में भी मुझे आनन्द आने लगा।

इस बीच समाज के अन्य शिक्षकों के साथ परिचय बढ़ाने का भी मुझे अवसर मिला। मेरे उपर्युक्त कार्य के प्रति शिक्षक आदरभाव अवश्य दिखाते थे, परन्तु उसके अनुसार कार्य करने को वे तैयार नहीं थे। इस कार्य से मुझे थोड़ी-बहुत प्रतिष्ठा भी प्राप्त हुई। ऐसी प्रतिष्ठा पाने का प्रयत्न करने के बदले कुछ लोगों में सूक्ष्म ईर्ष्या भी उत्पन्न होती देख पड़ी। इस परिस्थिति से मुझे बहुत दुःख हुआ। इस दुःख को प्रकट करने का कोई अनुकूल अवसर तो था नहीं। अतः इसे कुछ कम करने के लिये मैं एक नई प्रवृत्ति की ओर बढ़ा। मैंने शिक्षकों के अध्ययनवर्ग, शिक्षण शास्त्र की चर्चा, अपने अध्ययन के सार रूप निबन्ध और इन सब को लिखित रूप देने के लिये हस्तलिखित मासिकपत्रों आदि के कार्य आरम्भ किये। इन कार्यों के द्वारा उपर्युक्त तीन मुख्य बातों को ही अधिक स्पष्ट करने की ओर मेरा विशेष ध्यान रहता था। यहाँ यह कहना न होगा कि इस प्रकार की प्रवृत्तियों में ही छुपे हुए मासिक पत्र, छोटी-बड़ी सभी शिक्षण-शिविर, अध्ययन मन्दिर आदि का जन्म हुआ। यद्यपि शिक्षकों पर होने वाला अन्याय करने और अन्याय सहने वाले समूहों का ध्यान इस ओर अवश्य गया। विद्यार्थियों को अपमानित

(२६७)

करना शालाओं में बहुत कुछ कम हो गया है। उन्हें दण्ड देने के बदले उनके साथ प्रेम और सहानुभूति से व्यवहार करने का सिद्धांत स्वीकार होता जा रहा है। शिक्षक का सम्मान और प्रतिष्ठा बढ़ाने वाले कुशल शिक्षकों की संख्या भी बढ़ने लगी है। इन सब बातों को देखता हूँ तो अपनी स्वीकृत प्रवृत्ति की सफलता पर मुझे संतोष का अनुभव होता है।

एक सामान्य शिक्षक को अपने दैनिक कार्य में जो अनुभव होते हैं, वैसे ही मुझे भी हुए। पढ़ाते समय उचित पद्धति के अनुसार पढ़ाने की बात को मानते हुए भी हम व्याख्यान की ओर झुक जाते हैं। अपने कार्य से कक्षा में अनुशासन रखने के बदले हम गला फाड़ने या रौब दिखाने लगते हैं। विशेष परिश्रम से पढ़ाने पर भी परीक्षा के समय तीस प्रतिशत अंकों के अनुसार भी आधे विद्यार्थी कदाचित् उत्तरण हो पाते हैं। विद्यार्थियों के लिखित कार्य को जाँचते आँखें थक जाती हैं; फिर भी उनकी भूलें कम नहीं हो पाती। शाला के अन्य शिक्षकों के साथ

छोटी-छोटी बातों में मतभेद हो ही जाया करता है। शाला के प्रधानाध्यापक या आचार्य के साथ मन मेल नहीं खाता और अपने मन की बात स्पष्ट शब्दों में उनके सामने रखने का साहस नहीं होता। अतः हमेशा अप्रकट रूप से डरते रहना पड़ता है। साथी शिक्षकों की अनुपस्थिति में खाली कक्षाओं में जाकर अकारण दिमाग पचाना पड़ता है। ये और इस प्रकार के हमेशा होने वाले सामान्य अनुभव मुझे भी हुए परन्तु नवीन दृष्टि ने मुझे उसी स्थिति में भी पड़ा रहने दिया। कठनाइयों में पार होने का मार्ग खोजने के लिये यह दृष्टि मुझे हमेशा प्रेरित किया करती थी। इसका परिणाम यह हुआ कि इन प्रश्नों के हल करने की शक्ति मुझे प्राप्त हो गयी। इस शक्ति और साहस के साथ उक्त ज्ञान, अनुभव और अवलोकन भी मिल गये। इस प्रकार मुझे शिक्षण की एक नई दुनियाँ प्राप्त हुई। इस दुनियाँ में रहकर भी आनन्द और संतोष का पूर्ण अनुभव अभी मैं नहीं प्राप्त कर सका हूँ।

अनु०—सुबोधचन्द्र शर्मा 'नूतन'

प्रयाण—गीत

श्री रामाधार त्रिपाठी 'जीवन'

आगे बढ़ो जवानो! इन्तजार मत करो!
कोई बने सवाल, पर जवाब तुम बनो,
मोती सी जवानो मिली है, आब तुम बनो,
तुमसे हो इन्कजाब, इन्कजाब तुम बनो,
दुनिया बदल दो, दुनिया का सुधार मत करो!
इन्तजार मत करो!

आगे बढ़ो जवानो! इन्तजार मत करो!
बिजली की तड़प, बादलों की झड़प झड़ी हो,
मुँह बाये खड़ा काल, कहीं मौत खड़ी हो,
शमिल सवार सरै, क्यामत की घड़ी हो,

आफत हजार हो, मगर शुमार मत करो !

इन्तजार मत करो !

आगे बढ़ो जवानो ! इन्तजार मत करो !

तूफान को वहीं अधीर बर न तुम तिरे,
हिस्मत से धार को भी तीर कर ने तुम तिरे,
लहरों की छातियों को चीर कर न तुम तिरे,

झुको खुशी से, किशतियों से पार मत करो !

इन्तजार मत करो !

आगे बढ़ो जवानो ! इन्तजार मत करो !

धरती जले धधक के आसमान फुँक उठे,
जल जायँ जुलम, जुलम का जहान फुँक उठे,
हर एक में नयी रूढ़, नयी जान फुँक उठे,

मुँदें बसा के मुल्क को मजार मत करो !

इन्तजार मत करो !

आगे बढ़ो जवानो ! इन्तजार मत करो !

सर से कफन समोद लपेटे बढ़े चलो,
सब मोह जान माल का भेटे बढ़े चलो,
तुम शेरनी के सूरमा बेटे बढ़े चलो,
कोई मदद करे, कभी पुकार मत करो !

इन्तजार मत करो !

आगे बढ़ो जवानो ! इन्तजार मत करो !

लो काम आग से, ज़रा पानी से काम लो,
आपने लहू की गर्म खानी से काम लो,
तुम नौजवान जोशे खानी से काम लो,
यह जिन्दगी नकर, इसे उधार मत करो !

इन्तजार मत करो !

आगे बढ़ो जवानो ! इन्तजार मत करो !

ठुकरा दो जीत, जो कि सबक-सीख से मिले,
ठुकरा दो जीत, जो पुकार-चीख से मिले,
ठुकरा दो जीत, जो कि तुम्हें भाख से मिले,
यह हार है, इसे गले का हार मत करो !

इन्तजार मत करो !

(२६६)

आगे बढ़ो जवानो ! इन्तज़ार मत करो !

हिल जाये ज़मी और आसमाँ भी हिल उठे,

ले ताड़ को लपेट तिलमिला के तिल उठे,

दीवानो, तुम चठो, तुम्हारा दर्द दिल उठे,

अपने से अपने आप को लाचार मत करो !

इन्तज़ार मत करो !

आगे बढ़ो जवानो ! इन्तज़ार मत करो !

भुक्ता है हिमालय भुके, भुका न तुम कहीं,

दुनिया छिपे लुके, छिपी लुकी न तुम कहीं,

चलती हवा रुके, सगर रुको न तुम कहीं,

मजल है दूर, बैठ के विचार मत करो

इन्तज़ार मत करो !

आगे बढ़ो जवानो ! इन्तज़ार मत करो !

उर्दू बाज़ार, {
गोरखपुर }

साहित्य-निर्माण की योजना

श्री कालिदास कपूर

मुझे साहित्य-सम्मेलन के उदयपुर-अधिवेशन में सम्मिलित होने का अवसर नहीं मिला। सम्मेलन के पिछले कई अधिवेशनों में सम्मिलित होने का सौभाग्य अवश्य प्राप्त हुआ था। इन अधिवेशनों में मुझे वही आनन्द मिलता है, जो साधुओं को कुम्भ के मेले में मिलता है। जिन साहित्यिकों से पत्र-व्यवहार ही था, जिनके नाम से ही उनका कृतियों द्वारा परिचित था, उनके दर्शन होते हैं, उनसे संलाप का अवसर मिलता है। सम्मेलन का यही प्रयोजन हो तो भी हिन्दी साहित्यिकों का इस वार्षिक पर्व में अवश्य सम्मिलित होना चाहिए।

जितना भारी सेवा का दायित्व है उसके देखते हुए सम्मेलन के वार्षिक अधिवेशन का काम मेले का ही नहीं होता, उसका काम यह भी रहता है कि गत वर्ष निर्माण और प्रचार का क्या काम रहा, इस पर विचार-विनिमय हो, फिर आगामी वर्ष निर्माण और प्रचार का क्या काम हो, इसकी व्योरेवार योजना बनाई जाय।

मैं इस सम्बन्ध में "हिन्दी सेवी संसार" में लिख चुका हूँ। कई पत्र-पत्रिकाओं में भी लिख चुका हूँ। सम्मेलन कार्यकर्ताओं को भी यथा-समय अपने विचारों की सूचना दे चुका हूँ। परन्तु मुझे इस बात की कोई खबर नहीं है कि सम्मेलन ने निर्माण और प्रचार की कोई

परन्तु हिन्दी भाषा और साहित्य जिस परिस्थिति में है, युद्धोत्तर भारत में साहित्यिक सम्मेलनों को सफल बनाना मुश्किल है।

सुना है कि उदयपुर में गान्धी जी के सम्मेलन से इस्तीफा देने पर बहुत बहस रही। सम्मेलन ने हिन्दी को भारत की राष्ट्र-भाषा मानने का प्रस्ताव भी सर्व सम्मति से, या बहुमत से स्वीकार कर लिया। परन्तु यदि ऐसे ही प्रस्ताव सभा के बाहर मान्य हो जाते तो हमारे देश में कोई समस्या ही न रह जाती। हम उन्नति के सर्वोच्च शिखर पर होते।

बात यह है कि उर्दू या हिन्दी के साहित्यिक यदि एक जगह बैठकर उर्दू या हिन्दी को भारत की राष्ट्र-भाषा मानने का प्रस्ताव करते हैं तो उस प्रस्ताव ही के कारण किसी भाषा का क्रम राष्ट्रीय पद की ओर नहीं बढ़ जाता। प्रश्न यह रह जाता है कि हम नित्यप्रति हिन्दी या उर्दू को उस पद तक पहुँचाने के लिए करते क्या हैं।

हिन्दी-भाषी माता-पिता यदि अपनी सन्तानों को हिन्दी पढ़ाते हैं तो इसलिए कि इस भाषा के साहित्य में उनकी संस्कृति सुरक्षित है और उनकी सन्तानों का इस संस्कृति पर उत्तराधिकार है। तामिल, महाराष्ट्र, आंध्र, बंगाली और आसामी क्यों हिन्दी पढ़ें? आगे बढ़िए। रूसी, जापानी, चीनी, अंग्रेज, जर्मन, फ्रांसीसी क्यों हिन्दी पढ़ें?

ये कैसे प्रश्न हैं? किसी भारतीय से पूछिए कि वह अंग्रेजी क्यों पढ़ता है तो उसका स्वाभाविक उत्तर होगा, नौकरी के लिए, क्योंकि अंग्रेजी भारत के शासकों की भाषा है। परन्तु किसी जापानी, चीनी, रूसी, जर्मन या फ्रांसीसी से पूछिए कि वह अंग्रेजी किसलिए पढ़ता है? इसलिए कि जिस ज्ञान की उसे खोज है, वह उसे अंग्रेजी भाषा के ही अध्ययन में मिलता है। अंग्रेजी वैज्ञानिकों और साहित्यिकों ने ही साहित्य के उस अंग-विशेष की पूर्ति अंग्रेजी में की है।

हिन्दी में क्या है, जिसके लिए कोई अन्य भाषा भाषी हिन्दी का अध्ययन करे? थोड़ा बहुत है। कबीर, सूरदास, तुलसीदास की कृतियों को छोड़िये। आधुनिक विज्ञान और साहित्य के क्षेत्र में हिन्दी के साहित्यिकों ने क्या किया है, जिसके लिए दौड़ कर लोग हिन्दी पढ़ने आर्य? रायबहादुर गौरीशंकर हीराचन्द ओझा-कृत

प्राचीन लिपि-मात्ता जिस पाये का ग्रन्थ है, उस पाये के कितने ग्रन्थ हिन्दी में हैं?

हिन्दी को राष्ट्रीय पद देने के पक्ष में केवल यही बात है कि वह भाषा, जो दिल्ली से काशी तक भारत के उस मध्यदेश की मातृ-भाषा है, जहाँ प्राचीन काल से अब तक भारतीय धर्म, राजनीति और संस्कृति केन्द्रित रहे हैं, उसका हिन्दी अनुरूप उसके उर्दू अनुरूप से अधिक मान्य है।

हिन्दी और उर्दू का विरोध बहुत कम रह जाता है, जब हम यह मान लेते हैं कि दोनों एक ही साहित्य-रहित भाषा के विभिन्न साहित्यिक रूप हैं। उन भाषा का अपना कोई साहित्यिक रूप है नहीं। हिन्दुस्तानी एकेडेमी अभी तक विफल रही। उसी प्रकार हिन्दुस्तानी प्रचार सभा भी विफल रहेगी, यद्यपि उसके पीछे महात्मा गान्धी का शक्तिशाली व्यक्तित्व है। भावी भारत में कितना शीघ्र हिन्दी या उर्दू या दोनों राष्ट्रीय पद प्राप्त कर सकेंगी, यह इस बात पर निर्भर रहेगा कि किस भाषा का साहित्य कितना शीघ्र सर्वांगीण होता है।

काशी की नागरी प्रचारिणी सभा और प्रयाग का हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन भारत की सर्वोच्च हिन्दी सेवा संस्थाएँ हैं। जिसका नामकरण प्रचार के लिए किया गया था, उसने बहुत कुछ ठोस साहित्यिक निर्माण का काम किया है। जिसकी स्थापना साहित्यिक संगठन के लिए की गई थी, वह थोड़ा-बहुत प्रचार का काम ही कर पाया है, निर्माण-सम्बन्धी काम उसका नहीं के बराबर है।

हिन्दी-साहित्य की सेवा के दो अंग हैं, निर्माण और प्रचार। निर्माण पहले, उस के पीछे प्रचार। साहित्य-निर्माण हो रहा है, परन्तु अनियमित। वह किसी राष्ट्रीय योजना के अनुसार नहीं हो रहा है। क्रियाशील योजना किसी पद-दलित राष्ट्र को कितना शीघ्र संसार के सर्वोच्च शिखर तक पहुँचा सकती है, इसका ज्वलंत उदाहरण रूस ने हमारे सामने उपस्थित कर दिया है।

है, उस
केवल
काशी
भाषा है,
धर्म,
उसका
अधिक
रह
दोनों
हितिक
हितिक
की तक
सभा
महात्मा
भारत
राष्ट्रीय
निर्भर
शीघ्र
प्रयोग
सर्वोच्च
प्रचर
छू ठोस
जिसकी
की गई
र पाया
नजर है।
गंग हैं,
के पीछे
परन्तु
अनुसार
किसी
सार के
इसका
उपस्थित

भारत का निकट भविष्य बहुत उज्ज्वल है। हम तैयार न हों तो भी अंतर्राष्ट्रीय प्रगति ब्रिटेन को इस बात के लिए विवश कर रही है कि वह भारत को स्वतंत्र करदे।

स्वतंत्रता स्वयं ही कोई सुख की वस्तु नहीं है। पिंजड़े में बन्द तोते को अपने जीवन की रक्षा करने के लिए कोई कठिन उद्योग नहीं करना पड़ता। उसके विरुद्ध स्वतंत्र तोते को बहुत दौड़ लगाना पड़ती है। उसे अपने पर और चोंच की शक्ति का प्रयोग करना पड़ता है। निश्चित है कि स्वतंत्रता हमारे दायित्व को बड़ा ही देगी। एक साहित्य-सेवी की दृष्टि से स्वतंत्र भारत की सेवा के सम्बन्ध में हमारा क्या उत्तरदायित्व है, इस को समझने पर ही हमारे लिए या हमारी प्रतिनिधि साहित्यिक संस्थाओं के लिए क्रियाशील साहित्यिक योजना बनाना सम्भव हो सकेगा।

पहला दायित्व। भारत की निरक्षरता को शीघ्रताशीघ्र मिटाना। निरक्षरता-निवारण में हिन्दी की देवनागरी लिपि जितनी सहायक हो सकती है, उतनी कोई और नहीं, क्योंकि इस लिपि का जितने वैज्ञानिक सिद्धांत पर निर्माण हुआ है, और इस कारण जितनी शीघ्रता से इस लिपि द्वारा अक्षर-ज्ञान प्राप्त हो सकता है, उतना और किसी लिपि द्वारा नहीं। परन्तु इतना कह देने से ही काम नहीं चलेगा। हमें इस सम्बन्ध में प्रयोग करना है। उन प्रयोगों और उनके परिणामों को प्रकाशित करना है। इन प्रयोगों के करने पर हमें यह भी मालूम हो सकेगा कि देवनागरी लिपि में आधुनिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने की कितनी क्षमता है, उसमें क्या कमियाँ हैं, उन कमियों की पूर्ति किस प्रकार की जाय।

दूसरा दायित्व। जिस हिन्दी को हम पढ़ते-लिखते हैं, वह इने गिने लोगों की ही मातृ-भाषा है। अभी तक हिन्दी व्याकरण में अंग्रेजी की ही नकल की जाती रही है। अब इस विषय पर भी खोज और प्रयोग करना है कि हिन्दी व्याकरण का क्या रूप हो, जिसकी सहायता से बहुत शीघ्र

हिन्दी भाषी बालक-बालिकाएँ, युवक-युवतियाँ शुद्ध हिन्दी बोलना और लिखना सीखें।

तीसरा दायित्व। जीवित भाषा का रूप निरूप-प्रति बदलता रहता है। इसलिए हिन्दी के रूप को स्थिर करने का प्रयत्न करना असम्भव है, परन्तु इस समय जो कुछ हिन्दी भाषा में अस्थिरता है, जितनी कुछ अराजकता है, यह हिन्दी की उन्नति में बहुत बाधक है। शब्दशाली को सीमित करना असम्भव है और हानिकारक भी है। परन्तु भाषा के वाह्य रूप को नियमित करना आवश्यक है, उसका व्याकरण संत होना चाहिए। इस दायित्व की पूर्ति यों हो सकती है कि हिन्दी के प्रकाशकों और पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादकों का एक सम्मेलन हो जिसमें इन विषयों पर नियम बना लिये जायँ और नियमों का पालन करना प्रकाशकों, सम्पादकों और शिक्षा विभागों के लिये अनिवार्य कर दिया जाय। इस सम्मेलन की एक स्थायी समिति भी हो, जो समय-समय पर आवश्यकतानुसार इस नियमावली में समुचित संशोधन करती रहे।

चौथा दायित्व। हिन्दी में बालोपयोगी और किशोरोपयोगी साहित्य की बहुत कमी है। हमें हिन्दी में ऐसे साहित्य का निर्माण करना है, जिसको पढ़ने पर नवयुवक-युवतियों का पुस्तक प्रेम बढ़े, उनकी ज्ञानपिपासा जाग्रत हो। बालोपयोगी साहित्य का सर्वांगीण होना उतना ही आवश्यक है, जितना प्रौढ़ोपयोगी साहित्य का। यह साहित्य जितना कुछ प्रकाशित किया गया है उसे एक जगह इकट्ठा किया जाय। योग्य शिक्षकों की एक समिति इस साहित्य की अच्छी तरह जांच करे। जो अंश मान्य हों, उनकी शिक्षालयों और पुस्तकालयों को सूचना दी जाय, उसके प्रचार का प्रयत्न किया जाय। जिन अंगों की पूर्ति न हुई हो, उनके निर्माण का काम प्रकाशकों के सुपुर्द किया जाय। योग्य लेखकों की तलाश हो। जो कुछ काम होता चले उसकी सूचना पत्र-पत्रिकाओं द्वारा बराबर जनता तक पहुँचाई जाय।

पांचवां दायित्व । हमारे हिन्दी साहित्य में अन्तरप्रान्तीय और अन्तर्राष्ट्रीय संस्कृति विषयक मौलिक ग्रन्थों की बहुत कमी है। संस्कृति के ज्ञान से सहानुभूति होती है और सहानुभूति से संगठन का मार्ग खुलता है। स्वतंत्र भारतीय शासन का पदला काम होगा अन्तरप्रान्तीय संगठन को भारतीय राष्ट्रीयता को पुष्ट कर सके। फिर विश्व संघ के लिए उद्योग और उसके नेतृत्व का प्रयत्न, क्यों कि परमाणु बम के बाद विश्व संघ का बनाया जाना अनिवार्य हो जाता है और इस विश्व संघ का निर्माण मानवता की ही भित्ति पर हो सकता है, जिसके प्रथम (गौतम-बुद्ध) और अन्तिम (महात्मा गांधी) उपदेशक भारतीय ही है। यदि हम हिन्दी को राष्ट्र भाषा मानते हैं तो हिन्दी साहित्यिकों पर इस महान उद्देश्य की पूर्ति में सहयोग देने का उत्तरदायित्व आ जाता है। हिन्दी प्रान्तों के शिक्षालयों की मध्य श्रेणियों में हिन्दी के साथ किसी प्रान्तीय भाषा और साहित्य का पढ़ना अनिवार्य हो। उसी प्रकार उच्च श्रेणियों में किसी विदेशी भाषा और उसके साहित्य का पढ़ना अनिवार्य हो। अभी तक हमारे लिए अंग्रेजी ही विदेशी भाषा है, परन्तु संसार में ब्रिटेन और संयुक्त राज्य के अतिरिक्त अन्य देश भी हैं। ये अन्य देश हम से बहुत निकट हैं। उनकी भाषा और साहित्य का अध्ययन हमारे लिए अधिक आवश्यक है। यह तैयारी अब से बहुत पहले प्रारम्भ होना चाहिए थी, क्योंकि पढ़ाई प्रारम्भ होने के दस-पांच वर्ष बाद ही हमें हिन्दी-भाषी युवकों में प्रान्तीय और विदेशी भाषाओं के विद्वान मिल सकेंगे। इन विद्वानों का काम यह होगा कि वे अहिन्दी प्रान्तों और विदेशों में जाकर दस-बीस वर्ष रहें, उनकी भाषा में हिन्दी-साहित्य गभित भारतीय संस्कृति का प्रचार करें। हिन्दी में प्रान्तीय अथवा विदेशी संस्कृति पर मौलिक ग्रन्थ लिखें। इस सेवा के पश्चात् ही हम राष्ट्रीय संस्कृति और अन्तर्राष्ट्रीय सहानुभूति और सौहार्द का नेतृत्व कर सकेंगे। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वर्तमान पाठ्य प्रणाली में समुचित परिवर्तन तुल्य होना चाहिए,

तभी दस-पांच वर्ष पश्चात् हम अन्तर्प्रान्तीय और अन्तर्राष्ट्रीय सांस्कृतिक विनिमय करने योग्य हो सकेंगे। छठा दायित्व । प्रौढोपयोगी साहित्य में उपर्युक्त अंग की सभी के अतिरिक्त कुछ और विशेष अंगों की भी बहुत कमी है। इतिहास, संपत्तिशास्त्र, राजनीति, और आधुनिक विज्ञान पर स्कूल या इंटरमीजिएट कालेज तक की कुछ पाठ्यपुस्तकों तो अवश्य प्रकाशित हुई हैं, परन्तु इनके आगे साहित्य क्षेत्र बहुत कुछ सूना ही है। जब तक इस ओर ध्यान नहीं दिया जाता जब तक हमारे विश्वविद्यालयों के अध्यापक हिन्दी में गम्भीर विषयों पर लिखने के लिए प्रोत्साहित और बाध्य नहीं किए जाते, तब तक कितने भी प्रस्ताव स्वीकृत करके हम हिन्दी को सर्वोच्च शिक्षा का माध्यम नहीं बना सकते। इस ओर उस्मानिया विश्वविद्यालय के उद्योग से उद् साहित्य की जो सेवा हुई है, उससे हिन्दी साहित्यिकों को कुछ सबक मिलना चाहिए था। कई वर्ष पहले राजपूताना और मध्यभारत के राज्यों के उद्योग से हिन्दी विश्वविद्यालयों की स्थापना ही जानी चाहिए था, परन्तु ग्वालियर, इन्दौर, जयपुर और उदयपुर में सम्मेलन के अधिवेशन होकर भी हिन्दी विश्वविद्यालय स्थापित न हो सका, यह कितने खेद की बात है।

सातवां दायित्व । पांचवे और छठे उत्तरदायित्व का निर्वाह करने के सम्बन्ध में यह बात प्रत्यक्ष होती है कि यद्यपि सर्वोच्च वैज्ञानिक साहित्य के पाठक कम होते हैं, जिस कारण लेखक को अपनी पुस्तक की बिक्री से पारिश्रमिक नहीं मिल सकता, उसे दूसरी प्रकार पुरस्कृत करना आवश्यक है, तो भी निर्मातव्य कार्य की प्रगति तब तक शीघ्र नहीं हो सकती जब तक उसके साथ प्रचार का उतना उद्योग न हो।

१. इस प्रचार कार्य के जो साधन हैं, उनमें उस आधुनिक साधन पर हमारा कोई अधिकार नहीं है, जिसे रेडियो कहते हैं। परन्तु यदि स्वतंत्र भारत की सेवा के लिए योजना बनाई है, तो उसमें हमें रेडियो को सर्वोच्च स्थान देना

होगा। रेडियो द्वारा सात लाख गाँवों के निरक्षर देहातियों तक जिस सरलता से हम अपना संदेश पहुँचा सकते हैं, वह किसी और साधन को नसीब नहीं है। इसलिए स्वतन्त्र भारतीय शासन का पहला काम यह होगा कि प्रत्येक गाँव में कम-से-कम एक रेडियो हो, जिसके द्वारा वहाँ के निवासियों को आवश्यक सूचनाएँ, आदेश, सन्देश और उपदेश पहुँच सकें। इस रेडियो द्वारा हिन्दी भाषी जनता को प्रकाशित पुस्तकों पर नित्य समा-लोचनाएँ सुनने को मिला करें।

२. बोलते चित्रपट जिस खूबी के साथ हिन्दी भाषा का प्रचार अहिन्दी प्रांतों में कर रहे हैं, यह बड़े कमाल की बात है। हिन्दी भाषा के समझने वालों की संख्या अन्य देशी भाषा-भाषियों की अपेक्षा बहुत अधिक है, जिसका अर्थ यह होता है कि जो कलाकार हिन्दी के चित्रपट के लिए काम करते हैं उन्हें अपेक्षाकृत पुरस्कार अधिक मिलता है। फिर इसका परिणाम यह होता है कि देश के सर्वोच्च कलाकार हिन्दी चित्रपट के लिए ही काम करते हैं। चित्रपट के शौकीन हिन्दी न जानते हुए भी इन कलाकारों की कला का आनन्द लेने के लिए हिन्दी चित्रपट देखने-सुनने जाते हैं और धीरे-धीरे हिन्दी समझने लगते हैं, टूटी-फूटी बोलने भी लगते हैं। यों ये बोलते चित्रपट हिन्दी-साहित्य की सपरमेना (Sappers and Miners) का काम करते हैं। अभी इनके तैयार किए हुए क्षेत्र पर हिन्दी प्रचारक अधिकार नहीं कर सके हैं, परन्तु निमंत्रण उन्हें मिल चुका है। इस अहिन्दी भाषी जनता को, जिसे टूटी-फूटी हिन्दी बोलना आ गया है, हिन्दी पढ़ाने और उनके मध्य हिन्दी पुस्तकों का प्रचार करने का कार्य पहले की अपेक्षा अब सरल हो गया है। यदि हमारी साहित्यिक संस्थाएँ इन चित्रपटों के संचालकों का सम्मेलन करके उनसे चित्रपट के सिलसिले में हिन्दी-साहित्य का प्रचार करने का काम भी ले सकें तो साहित्य-सेवा का पुण्य लूटते हुए वे अपना लाभ भी बढ़ा सकेंगे।

३. दैनिक, साप्ताहिक और मासिक पत्र

पत्रिकाएँ भारतीय जनता के उस अंश का मनो-रंजन करती हैं जो व्यष्ट पढ़ी-लिखी है। प्रचार कार्य में इस अंश के कम होते हुए भी इसका महत्त्व है; क्योंकि जो पढ़े-लिखे लोग ही पत्र-पत्रिकाओं के लिए कुछ खर्च कर सकते हैं, उन्हीं को थोड़ा-बहुत पुस्तकों पर खर्च करने के लिए प्रोत्साहित किया जा सकता है। इसलिए पत्र-पत्रिकाओं द्वारा प्रचार करना बहुत आवश्यक है। प्रसिद्ध पुस्तक विक्रेताओं और प्रकाशकों की ओर से इण्डियन लिटरेरी रिव्यू (Indian Literary Review) के पाये की सस्ती मासिक पत्रिका निकलनी चाहिए, जिसमें नई पुस्तकों का उल्लेख रहे, पुस्तकालयों के लिए योजनाएँ रहें।

४. अभी तक हिन्दी पुस्तक विक्रेताओं का कोई संगठन नहीं है। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन जैसी संस्था की ओर से हिन्दी पुस्तक विक्रेताओं का संगठन होना चाहिए। ये पुस्तक विक्रेता पारस्परिक सहयोग करके बहुत-कुछ प्रचार-कार्य कर सकते हैं। इन्हें प्रचार का मार्ग बताना, उनके प्रचार उद्योग में सहायता देना हमारा, साहित्य-सेवी संस्थाओं का, कर्तव्य होना चाहिये।

५. भारत जैसे देश में, जहाँ जनता देहात में बिखरी हुई है, डाक खर्च पुस्तक-प्रचार में बहुत बाधक हो जाता है। इसलिए राष्ट्रीय शासन की ओर से पुस्तकों के लिए डाक की वही रियायत होनी चाहिये, जो पत्र-पत्रिकाओं को प्राप्त है।

६. प्रचार का सबसे महत्वपूर्ण साधन है पुस्तकालय। प्रत्येक पाठशाला में पुस्तकालय का होना अनिवार्य होना चाहिये। इस पुस्तकालय के संचालक का एक यही काम होना चाहिये। पुस्तकालय का संचालन इस प्रकार हो कि उससे विद्यार्थियों के अतिरिक्त ग्रहस्थ पाठक-पाठिकाएँ भी लाभ उठा सकें। चलते-फिरते पुस्तकालय (Circulating and Travelling Libraries) हों, उनके सहायतार्थ केन्द्रीय पुस्तकालय हों। सबसे बड़ी बात यह कि शिद्दालयों के साथ जो पुस्तकालय हों, उनके संचालन में यह उद्योग किया जाय कि बालक-बालिकाएँ पुस्तक-प्रेम

लेकर, निजी पुस्तकालय बनाने की आकांक्षा लिए हुए, शिवालय छोड़े। यों प्रचार की जड़े पुष्ट की जा सकेंगी।

७. योजनानुसार निर्माण-कार्य को अपना खर्च निकालने के लिए यह आवश्यक है कि देश में कम-से-कम पाँच सौ ऐसे शिवालय और पुस्तकालय हों, जो योजनानुसार प्रकाशित पुस्तकों के स्थायी ग्राहक हो जाँय। यदि प्रत्येक ऊँचे दर्जे की पुस्तक की एक हजार प्रतियाँ छपाई जाँय और स्थायी ग्राहकों से छपाई का सब खर्च निकल आवे तो प्रचार द्वारा बाकी पाँच सौ बेच

लखनऊ]

स्वर्गीय जी. एस. अरण्डेल

श्री सूर्यनारायण अग्रवाल बी. ए.

बन्धुत्व और ब्रह्म-विद्या के प्रचार के लिए निरन्तर प्रयत्नशील थियोसोफीकल सोसाइटी के प्रधान जार्ज एस. अरण्डेल साहब की मृत्यु गत ११ अगस्त १९४५ को अड़थार (मदरास) में हो गई। इस महापुरुष ने इंग्लैंड से सन् १९०३ में आकर जिस सच्ची लगन से इस देश की सेवा की, उसकी किंचित जानकारी 'मधुकर' के पाठकों के कराने के विचार से यह लेख प्रस्तुत किया जा रहा है। प्रत्येक भारतीय को संसार के इस सच्चे सेवक की जीवन-चर्चा, उनकी कार्य-प्रणाली, उनके अथक परिश्रम, उत्साह एवं भारत के उज्ज्वल भविष्य में उनके विश्वास से जो प्रेरणा प्राप्त होती है, वह हमारी निगाह में उन्हें बहुत ऊँचा उठा देती है। वास्तव में भारत के ऐसे सच्चे प्रेमी और सेवक विदेशियों में बहुत ही कम हुए हैं।

परिवार—

अरण्डेल साहब के पिता इंग्लैंड के एक साधारण पादरी थे। माता का देहान्त इनके

कर लेखक पुरस्कृत किया जा सकता है।

किसी बात को दुहराना साहित्य में पुनरुक्ति दोष माना जाता है, परन्तु दुहराना ही प्रचार का मूलमन्त्र है। एक बार से अधिक निवेदन कर चुका हूँ कि नागरी-प्रचारिणी-सभा और हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के कर्णधार साहित्यिक निर्माण की योजना पर विचार करें और पारस्परिक सहयोग से ऐसी योजना बनावें, जो कार्यान्वित हो सके। उपर्युक्त लेख में बहुत-कुछ पिछले विचारों को ही दूसरे शब्दों में दुहराया गया है। इसलिए पुनरुक्ति का दोषी होकर भी प्रचार के नाते फिर वही निवेदन है।

जन्म के समय प्रसूति ज्वर से हो गया था। कुछ समय तक इनका पालन-पोषण इनकी दादी ने किया। बाद में बुआ ने इन्हें अपना दत्तक पुत्र मान कर इनकी पढ़ाई-लिखाई की व्यवस्था की। इनकी ननसाल के कुछ लोग इंग्लैंड के नाम के कलाविद् थे। जिस बुआ ने इन्हें गोद लिया, वे आजन्म क्वारी रहीं और उन्होंने अपनी समस्त शक्तियों को श्रीमती ऐनीवेसेन्ट के साथ थियोसोफीकल सोसाइटी के सिद्धान्तों के प्रचार, उसके नेताओं की सेवा तथा उन नेताओं की आज्ञा नुसार भारतवर्ष की सेवा करने में लगा दिया था। अरण्डेल साहब के बाल-काल ही से बुआ की बातें तीव्र इच्छा थी कि उनका जीवन संसार की भलाई के लिए होने वाले कार्यों में ही लगे। इस ख्याल से वे इनको थियोसोफीकल सोसाइटी के नेताओं के संसर्ग में आरम्भ से ही रखने लगी थीं।

शिक्षा—

स्कूल की शिक्षा समाप्त करने के बाद उच्च

शिक्षा के लिये अरएडेल साहब वेमिज विश्व-विद्यालय में गए और एक दोनहार विद्यार्थी के रूप में विश्वविद्यालय के तत्कालीन ख्यातिप्राप्त अध्यापकों के निकट सम्पर्क में आये। विश्व-विद्यालय में उस समय कुछ भारतीय भी थे, जिनमें सर रघुनाथ परांजपे और मिस्टर सी० जिनराजदास के नाम उल्लेख योग्य है। इन्होंने अपने आपको वहाँ के भारतीय विद्यार्थियों के सम्पर्क में लाकर उनसे मित्रता स्थापित की और उनकी संस्था 'भारतीय मजलिस' में शनैः-शनैः अपना अनुगम बढ़ाया। भारतीय प्रश्नों से दिलचस्पी इनको तभी से आरम्भ हो गई।

जब यह स्कूल के विद्यार्थी थे, अर्थात् चौदह वर्ष की आयु में इन्होंने अपने कुछ साथियों के सहयोग से लन्दन नगर को स्वच्छ करने के विचार से एक छोटी-सी संस्था स्थापित की।

सांसारिक-जीवन—

इतिहास से इन्हें विशेष प्रेम था। विश्व-विद्यालय की शिक्षा समाप्त करने के बाद इन्होंने फ्रांस में जाकर फ्रेंच क्रांति के इतिहास के सम्बन्ध में खोज-बीन की। लन्दन के प्रसिद्ध पत्र 'डेली मेल' के सम्पादकीय विभाग में भी सम्मिलित होने का इन्होंने विचार किया, लेकिन उसी समय इंग्लैंड की थियोसोफीकल सोसाइटी में काम करना प्रारम्भ कर दिया। शुरू में इन्हें लिफाफों पर टिकट लगाना, उनको चिपकाना और उनका विवरण रजिस्टर में दर्ज करना, ये काम दिए गये थे।

इसी समय के आस-पास जब इनकी अवस्था २१ वर्ष के लगभग थी, श्रीमती ऐनीबेसेन्ट का व्याख्यान लन्दन के सुप्रसिद्ध क्वीन्स हाल में हुआ। यह व्याख्यान भारत के बारे में था। इसके प्रबन्ध में इन्होंने भी भाग लिया और व्याख्यान को बड़े ध्यान से सुना। उपस्थिति लगभग चार हजार थी। व्याख्यान का इन पर बड़ा प्रभाव पड़ा और उससे इन्हें अपने जीवन की दिशा निश्चित करने में पर्याप्त सहायता मिली। इससे पूर्व वह श्रीमती ऐनीबेसेन्ट से कभी भी नहीं

मिले थे। अतः भिन्नकते हुए उनसे मिलने के लिए गये और इतने प्रभावित हुए कि उन्हें सदैव के लिये अपना नेता मान कर एक सिपाही की भाँति अपने आपको उनका समर्पित कर दिया। कहने की आवश्यकता नहीं कि उसके बाद जिंदगी भर वे सेवा-कार्य में ही संलग्न रहे।

भारत आगमन—

श्री अरएडेल साहब बिल्कुल गरीब थे। फिर भी अपने इस अपूर्व नेता की आज्ञा तथा आंतरिक प्रेरणा से सन् १९०३ में वे बनारस के हिन्दू कालेज में इतिहास के अवैतनिक अध्यापक होकर हिन्दुस्तान आये। वहाँ आकर उन्होंने इस भूमि को अपनी दूसरी मातृ-भूमि माना। यहाँ के जीवन से अपने आपको उन्होंने ऐसा हिलामिला लिया और यहाँ के निवासियों को वे ऐसा प्रेम करने लगे कि इंग्लैंड और भारत के प्रति उनके प्रेम में कोई अन्तर ही शेष न रहा। इस देश की सेवा करने में वे अपने को एक भारतीय ही अनुभव करते थे।

बनारस में निवास—

सन् १९०३ से १९१३ तक वे हिन्दू कालेज के इतिहास के अध्यापक, हिंदू स्कूल के हेड मास्टर तथा बाद में कालेज के प्रिंसिपल के पद पर रह कर बड़ी लगन से नवयुवकों की सेवा करते रहे। प्रिंसिपल के पद पर जब तक रहे, विद्यार्थियों की राष्ट्रीय भावनाओं के उत्थान में कभी बाधा नहीं डाली। सदैव उनको अधिकाधिक उत्साहित करना ही उन्होंने अपने कर्तव्य माना। इतना ही नहीं, राष्ट्रीय भावनाओं के कारण अन्य संस्थाओं से निकाले हुए विद्यार्थियों को उन्होंने अपने कालेज में दाखिल किया। कालेज के अन्य योग्य अध्यापकों के साथ उनका सहयोग इतना हार्दिक, उत्साह-वर्धक और सुन्दर था कि उसकी तुलना उस समय की बहुत ही कम संस्थाओं से की जा सकती है। उन्होंने अपने व्यक्तित्व का भारतीय संस्कृति की अति प्राचीन एवं पुण्य नगरी काशी में रह कर बड़ा विकास किया। एक

स्थान पर, उन्होंने ऐसा कहा भी है कि इस दस वर्ष के समय में जितनी उन्नति उन्होंने की, उतनी फिर कभी भी नहीं कर सके।

राजनैतिक कार्य—

सन् १९०७ में थियोसोफीकल सोसाइटी की प्रधान होकर श्रीमती ऐनीबेसेंट काशी के बजाय अङ्ग-यार मदरास में रहने लगीं। इधर हिंदू कालेज हिंदू-विश्वविद्यालय का रूप धारण करने के लिए विश्व-विद्यालय-कमेटी के हाथ में आ गया। अररडेल साहब भी बनारस से अङ्गवार चले गये। सन् १९१४ में श्रीमती ऐनीबेसेंट ने भारतीय राज-नीति में सक्रिय भाग लेना आरम्भ कर मदरास से 'न्यू इंडिया' दैनिक पत्र निकाला तथा 'होम-रूललीग' नामक संस्था स्थापित कर स्वराज्य के प्रश्न को आगे बढ़ाना शुरू किया। श्री अररडेल साहब ने 'न्यू इंडिया' के सम्पादन-विभाग में एवं 'होमरूललीग' में इतना सक्रिय सहयोग दिया कि सरकारी कोप के भाजन बन गये और सन् १९१७ में तीन मास के लिए श्रीमती ऐनीबेसेंट तथा श्रीमान् वाडिया के साथ मदरास के गवर्नर लार्ड वेंटलैण्ड के द्वारा नजरबंद कर दिए गये। भारतीय प्रश्नों से सम्बंधित इस काल की उनकी वक्तृताएँ कितनी आकर्षक, उत्तेजक और निर्भीक होती थीं, इसका अनुभव उन्हीं को है, जिन्होंने इन्हें सुना है। इसी समय इन्होंने टैगोर तथा श्रीमती ऐनीबेसेंट के नेतृत्व में राष्ट्रीय शिक्षा-प्रचार के लिए मदरास में एक राष्ट्रीय विश्वविद्यालय का संचालन बड़ी योग्यता-पूर्वक किया। लार्ड वेंटलैण्ड का मत था कि वह समय भारत में स्वराज्य की चर्चा करने का नहीं था। श्रीमती ऐनीबेसेंट का मत था कि चर्चा का वही उपयुक्त समय था। ये लोग पुनः नजर-बंद कर दिए गये। इससे लोगों में इतना असंतोष फैला कि एक आंदोलन ही इन सबको स्वतंत्र करने के लिए उठ खड़ा हुआ। इस अवसर पर महात्मा गाँधी ने कहा था कि यदि ये लोग नहीं छोड़े जाते तो इनको छुड़ाने के लिए वे उटकमंड तक, जहाँ ये लोग नजरबंद थे, लोगों को अपने साथ लेकर पैदल यात्रा करेंगे।

कार्य विस्तार—

नजरबंदी से छूटने के बाद उन्होंने देश-विदेश में भ्रमण करके स्वराज्य के बारे में आंदोलन किया और हमारे सामने स्वर्गीय ऐनी-बेसेंट के साथ इंडो ब्रिटिश कामेन वेल्थ ऑव नेशनस का आदर्श उपस्थित किया तथा अपनी शक्ति और योग्यता के अनुसार वे समस्त संसार के आध्यात्मिक धरातल को ऊँचा करने के लिए प्रयत्न करते रहे। इसी बीच कुछ समय के लिए वे थियोसोफीकल सोसाइटी के विशेष कार्यों के सिलसिले में आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड भी गये। जहाँ कहीं भी वे गये, वहाँ के विशिष्ट व्यक्तियों से भारतीय मसलों पर बातचीत की, उनका ध्यान इस तरफ किया और उनकी सेवाओं का उपयोग इस देश के लिए किया। सेवा का जो बीज इनके केम्ब्रिज विश्वविद्यालय के जीवन-काल में अंकुरित हुआ था, वह निरन्तर वृद्धि को प्राप्त होता गया।

सन् १९२० के करीब इनका विवाह श्रीमती रुक्मिणी देवी से हुआ। ये मदरास प्रांत की एक उच्च घराने की महिला हैं और इन्हें कला से विशेष प्रेम है। इस विवाह को अनेक भारतीयों ने पसन्द नहीं किया, पर अररडेल साहब ने इसकी परवा नहीं की। विवाह के बाद श्रीमती रुक्मिणी देवी के साथ ब्रह्म-विद्या के प्रचार के लिए वे अनेक देशों में गए। सर्वत्र उन्होंने भारतीय समस्याओं को ही प्रमुख व्यक्तियों के सम्मुख रक्खा। कुछ समय तक वे इन्दौर में शिक्षा-संचालन के लिये एक उच्च पदाधिकारी के रूप में कार्य करते रहे और बीकानेर के नरेश सर गंगा सिंह जी को भी शिक्षा-संचालन में परामर्श देते रहे। इसी प्रकार के कार्यों में सन् १९३० तक संलग्न रहे। श्रीमती ऐनीबेसेंट के वृद्धावस्था के कारण दुर्बल हो जाने पर इन्होंने थियोसोफीकल सोसाइटी के प्रधान का कार्य संभालना आरम्भ कर दिया। सन् १९३३ में ऐनीबेसेंट की मृत्यु के पश्चात् सात वर्ष के लिये ये थियोसोफीकल सोसाइटी के प्रधान चुने गये। इस प्रभावशाली पद पर आरुढ़

होकर उन्होंने अपना कार्य बड़ी लगन और योग्यता से किया। सोसाइटी में एक नए जीवन का संचार हुआ। उन्होंने अनेक पुस्तकें लिखीं तथा भारतीय मसलों को लेकर फिर आंदोलन किया और अनेक देशों में भ्रमण किया। श्रीमती रुक्मिणी देवी के संचालकत्व में मदरास में कला-क्षेत्र की स्थापना करके उसके कार्य को आगे बढ़ाया तथा रुक्मिणी देवी जी द्वारा समय-समय पर किए गये प्रदर्शनों द्वारा भारतीय नाट्य-कला की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट किया। 'हिन्दुस्तानी बालचर' संस्था के भी एक स्तम्भ बन कर उसके कार्य को मदरास प्रांत में खूब फैलाया। वहाँ के श्रमजीवियों की संस्थाओं में भी सक्रिय भाग लेकर श्रमजीवियों की दाश सुधारने के लिए बड़ा परिश्रम किया। अपने पत्रों में उन्होंने बड़ी निर्भीकता और योग्यता से राष्ट्रीय प्रश्नों पर कलम चला कर सरकार एवं भारतीय नेताओं का ध्यान सामयिक आवश्यकताओं की ओर आकर्षित किया। महायुद्ध नम्बर दो के विषय में वे अपनी एक विशेष नीति बराबर अपनाये रहे और युद्ध के आरम्भ से ही जर्मनी की आश्चर्य-जनक विजय के बावजूद भी उसकी निश्चित पराजय में दृढ़ विश्वास प्रकट करते रहे। सन् १९४० में वे दुबारा सात वर्ष के लिये थियो-सोफिकल सोसाइटी के प्रधान चुने गये। इस चुनाव के बाद उन्होंने अपने कार्य को फिर अधिकाधिक उत्साह से आगे बढ़ाया और तब से अधिकांश भारत में ही रह कर निर्भीकता-पूर्वक अपने उदार कार्यों, लेखों और भाषणों द्वारा देश-सेवा करते रहे। यह समय भारत के लिए बड़ी कठिनाई का समय था। इन्होंने 'Conscience' (अन्तः प्रेरणा) नामक एक साप्ताहिक पत्र निकाल कर भारत की समस्याओं पर अपने विचार प्रकट करना प्रारम्भ किया। जिन बातों को इन्होंने इस देश की भलाई के लिये आवश्यक समझा, उन्हें जोरदार शब्दों में कहने में कभी भी संकोच नहीं किया। भारत के विभाजन के वे बहुत ही विरोधी थे। पाकिस्तान की उन्होंने तीव्र आलोचना की।

उनके प्रत्येक कार्य के पीछे इनका प्रभावशाली व्यक्तित्व रहता था। जिस काम को भी उठाया, उसमें अपने साहस और उत्साह से एक प्रकार की अपूर्वता और नवीनता उत्पन्न कर दी। व्यक्ति, समाज, देश और संसार के लिए कल्याणकारी किसी भी काम में सहयोग देने से वे कभी पीछे नहीं रहे।

इस तरह संसार और भारतवर्ष के इस सच्चे सेवक ने वृद्धावस्था में भी कठिन सेवा कर अपने जीवन को सार्थक किया। व्यालीस वर्ष तक उन्होंने इस देश की सेवा की और अन्त में उनका मृत शरीर 'होमरूललीग' के लाल और हरे भगड़े में लपेट कर अग्नि के अर्पित कर दिया गया। श्रीभगवत गीता के आठवें अध्याय के मन्त्रों का पाठ हो रहा था। भारतीय प्रणाली के अनुसार उनके अवशेष गंगा जी में रुक्मिणी देवी द्वारा प्रवाहित कर दिए गये।

कतिपय विचार—

विभिन्न विषयों पर अररडेल साहब के विचार संक्षेप में नीचे दिए जाते हैं :—

१. जो मनुष्य नितान्त निस्वार्थ होकर अपनी शक्तियों को संसार के प्रति अर्पित करता रहता है, उसमें अनन्त शक्ति का विकास और आविर्भाव अपने आप हो जाता है।

२. दर्शन के द्वारा सांसारिक दुःखों से उदासीन होने के बजाय उनके निवारण के लिए प्रयत्नशील बने रहना अधिक उत्तम है।

३. दार्शनिक सिद्धान्तों का उपयोग सामयिक प्रश्नों एवं कठिनाइयों के उपायों ही में नहीं होना चाहिये, वरन् उनके आधार पर समाज की ऐसी व्यवस्था भी होनी चाहिये, जिससे दुःखद परिस्थितियाँ कम-से-कम उत्पन्न हों।

४. भयानक परिस्थितियों में ही उन सिद्धान्तों का ज्ञान मनुष्य-जाति को भलीभाँति हो सकता है, जिनकी अवहेलना से वे उत्पन्न हुईं। ऐसा होने पर भी कभी-कभी त्रिगुणात्मक प्रकृति के

प्रभाव से जनता के जबरन बने हुए नेता उन सिद्धांतों का उपयोग अपने अज्ञान-मूलक क्षणिक स्वार्थ के कारण नहीं होने देते। ऐसी स्थिति में ही तत्व-ज्ञानियों को नितान्त स्वार्थ-रहित होकर साहस-पूर्वक सच्ची स्थिति को विश्व के समक्ष रखने की आवश्यकता होती है।

५. सुन्दरता जीवन का सार है वशतः कि वह सच्ची हो। कला और सुन्दरता विश्व के क्रियात्मक भाव का प्रकाश है। इनके द्वारा संसार की विज्ञान, धर्म एवं धन के मुकाबिले अधिक उत्तम सेवा हो सकती है; क्योंकि वे मानव को अपनी वर्तमान अवस्था से उठा कर भगवद्-आचरणगामी करने में समर्थ होती हैं।

६. उदारता, दया, शक्ति और महानता जीवन के प्रधान गुण होने चाहिये।

७. जीवन कला है और कला जीवन है। वस्तुतः इनमें कोई अन्तर नहीं।

आकांक्षाएँ—

श्री अरग्डेल साहब ने एक स्थान पर अपने जीवन के विषय में निम्नलिखित आकांक्षाएँ प्रकट की हैं :—

१. भारत ही में मेरा फिर जन्म हो; क्योंकि इस देश में मनुष्य सबसे अधिक आर्य हो सकता है।

२. धार्मिक, सुसंस्कृत, एवं ऐश्वर्यशाली हिन्दू घर में जन्म हो, जिससे मुझे नितान्त निरा-मिष भोजन प्राप्त हो सके।

३. जीवन को कुण्ठित करने वाली आधुनिक

इटावा]

शिक्षा-संस्थाओं के बजाय अच्छा यह है कि शिक्षा घर पर ही हो।

४. अपना आनन्द दूसरों को आनन्द प्रदान करने, सुन्दर वस्तुओं के उत्पन्न करने, संगीत में सम्मिलित होने, किसी प्राचीन भारतीय भाषा के प्रगाढ़ अध्ययन, यहाँ के साहित्य एवं विज्ञान के परिशीलन तथा आध्यात्मिक ज्ञान एवं स्वच्छ सरल और देश-भक्तिपूर्ण जीवन व्यतीत करने में होना चाहिये।

५. घर की आर्थिक स्थिति ऐसी हो, जिससे विना अर्थ-उपार्जन की चिन्ता के देश-सेवा में लग सकूँ। इस देश के गरीब मनुष्यों और गरीब पशुओं की सेवा ही में लग जाना मुझे पसंद है। इन गरीबों की भलाई में ही देश की सच्ची स्वतंत्रता निहित है।

६. व्याख्यानदाता और लेखक बनने की मुझे चाह नहीं है। ऐसे लोग इस समय भी बहुत हैं और आगे भी पर्याप्त संख्या में होंगे। चाहे सच्चा कार्यकर्ता बनने की है, जिससे देश में घूम कर इस देश के निवासियों में अपने देश की संस्कृति के प्रति स्वाभिमान पैदा कर सकूँ तथा सच्चा भारतीय जीवन व्यतीत करने की तरफ ले जाने की प्रेरणा दे सकूँ।

७. क्षत्री होकर भारत के लिए युद्ध कर सकूँ, अभारतीय भारतीयों से लड़ सकूँ। बूढ़ा होकर नवयुवकों में उत्साह भर सकूँ और हिमालय के निकटवर्ती किसी सुन्दर स्थान पर एक आश्रम बना कर रह सकूँ। ऐसा होने पर मेरी मृत्यु हो और मुझे उनके द्वारा मान मिले, जिनका मान-प्रदान वास्तविक मान होता है।

विजय का मधुगान होगा

पं० गोकुल चन्द्र शर्मा एम. ए.

(१)

आपदाओं की शिला पर सुदृढ़ कीर्ति-स्तंभ होंगे,
सवयुगों के यातनाओं से उदित आरंभ होंगे।
प्राण की आहुति लिये प्रज्वलित होगी प्रलय-ज्वाला,
दग्ध जिसकी चंडता से दुष्ट-दल के दंभ होंगे।
हाँ, उसी से सहन के सामर्थ्य का अनुमान होगा,
मान-मंडित भाल होगा, विजय का मधुगान होगा।

(२)

क्रन्दनों में क्रीड़ते उल्लास के नववाल होंगे,
बंधनों को पीड़ते जो कंसकुल के काल होंगे।
फिर लकुटियों पर लटकते अंग गोवर्धन अचल के,
इंद्र-मद-मर्दन करेंगे हाथ वे सुविशाल होंगे।
रुक सकेगी गति न जिसकी वह अभय अभियान होगा,
मान-मंडित भाल होगा, विजय का मधुगान होगा।

(३)

जलधि-जनता के विलोडित वारि से उत्पन्न होंगे,
रत्न वे अनमोल जो सब भाँति श्री-सम्पन्न होंगे।
कमठ-पीठ कठोर होगी मेरु-दंडित मार्तिनी,
संघर्ष से घट-पूर्ण पी पीयूष प्राण प्रसन्न होंगे।
आत्म-त्राण पुरारि द्वारा फिर गरल का पान होगा,
मान-मंडित भाल होगा, विजय का मधुगान होगा।

(४)

शैल-भृंगों पर चमकते तीव्र तप के अंक होंगे,
दन्त दुर्मद कुँजों के, विषधरों के, बंक होंगे।
अग्नि के पथ में पुलकती प्राणदा परमेश्वरी,
प्रह्लाद की संकल्प - शक्ति विलोक दैत्य सशंक होंगे।
नारसिंही नख छटा से नभ पुनः युतिमान होगा,
मान - मंडित भाल होगा, विजय का मधुगान होगा।

(५)

तुंग - तोया ऊर्मियों पर नील - नल के सेतु होंगे,
अर्णवों के वत्त पर ध्रुव लक्ष के जो हेतु होंगे।
गाज गौरव पर गिराते दानवी दुर्मत्तता के,
मानवी उत्कृष्टता के व्योम - चुम्बी केतु होंगे।

लोक को रामीयता का रम्य - रुचि वरदान होगा,
मान - मण्डित भाल होगा, विजय का मधुगान होगा।

(६)

प्रति रजः कण से टपकते रक्त के रस बिन्दु होंगे,
विकट विप्लव से हृदय के, लुब्ध लोहित सिंधु होंगे।
काल के कल्पांतकारी तांडवों की ताड़ना से,
चूर्ण तारक वृन्द होंगे, ध्वस्त भास्कर, इंदु होंगे।

दीप्त संगर का शिरोमणि शान्तिमय बलिदान होगा,
मान - मण्डित भाल होगा, विजय का मधुगान होगा।

(७)

विश्व के बन्धुत्व में लय लोक के संताप होंगे,
भद्रता की भावना से शान्त सब अभिशाप होंगे।
फिर 'परंतप' के करों से पीड़ितों के प्राणदाता,
धन्य धरणी को करेंगे, हाँ, प्रकट हरि आप होंगे।

सुमति का सुविधान होगा, प्रेम का परिधान होगा,
रूप - रंजित भाल होगा, विजय का मधुगान होगा।

धर्मसमाप्त इंटर कालेज, }
अलीगढ़। }



लदाख-यात्रा की डायरी

ले० कर्नल सज्जनसिंह

[गतांक से आगे]

रविवार २३ जुलाई.

रात में काफ़ी बरसात हुई थी। सबेरे उठ कर देखा तो चारों ओर पहाड़ों पर बर्फ़ थी। लगभग दस बजे के बहुत से गाँव वाले हमारे पास आए। यहाँ के प्रायः सब बयस्क पुरुष काफ़ी अच्छी हिन्दुस्तानी बोल लेते हैं। कारण पूछने पर मालूम हुआ कि इन्हें प्रत्येक वर्ष गर्मी के दिनों में दो बार शिकारियों के साथ जाना पड़ता है। जो केवल तिब्बती हिरन मारना चाहते हैं, वे तो एक सप्ताह या दस दिन में लौट आते हैं, परन्तु अमन की तथा अन्य जानवरों की शिकार के इच्छुक तीन सप्ताह तक नहीं लौटते। इतने दिनों साहब, उनके नौकरों तथा शिकारियों से हिन्दुस्तानी में बातें होती रहती हैं। यही कारण है कि अन्य ग्रामों की अपेक्षा यहाँ वाले अधिक-से-अधिक दो या तीन दिन तक का सामान ले जाते हैं। फोवरंग वाले अच्छी हिन्दुस्तानी बोलते हैं। इनमें भी दो को हमने बहुत साफ़ हिन्दी बोलते देखा। पूछने पर मालूम हुआ कि यही दो मुखिया हैं। एक को मैंने नोट-बुक में कुछ लिखते देख कर कौतूहल वश उसे पास बुलाया और उक्त काफ़ी देखना चाही। देखा तो उसमें लगभग शुद्ध देवनागरी लिपि थी। केवल दो-एक अक्षरों का अन्तर था। वह भी बहुत नहीं। उसकी भाषा तो नहीं समझ सकता था, परन्तु मैंने सब बड़ी आसानी से पढ़ लिया। मैंने अपनी डायरी उसे दी। उसे भी मेरी देवनागरी लिपि देख कर आश्चर्य हुआ। वह तो अंग्रेजों की रोमन लिपि या उर्दू की खरोष्ठी ही देखता आया था। उसने भी थोड़ी कठिनाई से मेरी डायरी पढ़ ली, परन्तु एक हिंदी की पुस्तक को सपाटे से पढ़ गया। जहाँ-जहाँ क्लिष्ट संस्कृत के शब्द थे, उन्हें

छोड़ कर शेष का आशय समझ गया। उसने मुझसे पूछा कि हम कौन से साहब के शिकारी का प्रबन्ध करने आए हैं? जब हमने उसे बताया कि हम किसी अंग्रेज के नौकर नहीं हैं, स्वयं शिकार के लिए आये हैं तो उसे भी बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने अपनी बोली में सबसे कुछ बातें की और हमसे बोला, “हमारे गाँव का बूढ़ा कहता है कि कोई चालीस वर्ष पहिले एक अंग्रेज के साथ हिन्दुस्तानी बाधू आया था, जो उक्त पहाड़ों में नाप (पैमाइश) के लिए गये थे। साहब लोगों के साथ बैरा अवश्य आये हैं। परन्तु काला साहब (इसका मतलब भारतीय शिकारी से था) कभी शिकार को नहीं आया। क्या आप लोग अंग्रेजों की भाँति सब कष्ट उठा लोगे? और बन्दूक लगाना भी जानते हो?” इन सब बातों को सुन कर हमें कुछ तो क्रोध आया और कुछ लज्जित भी होना पड़ा कि इन लोगों के हिन्दुस्तानियों के प्रति कैसे विचार हैं! जब भारतीय शिकारियों के विषय में बताया तो वह बोला, “काले साहब भले ही शिकारी होंगे, परन्तु हमारे इधर तो काश्मीर के महाराज या उनके नौकर या सरदार कोई भी आज तक नहीं आये। इससे हम तो यही समझते हैं कि काला साहब न परिश्रम कर सकता है और न बन्दूक लगाना ही जानता है।” इसका कहना भी ठीक था। जैसा सुना और देखा, विचारा कह रहा था।

जब मैंने उसका नाम पूछा तो उसने मुँह झिगाड़ कर ऐसी विचित्र ध्वनि में नाम बताया कि कई बार पूछने पर भी समझ में नहीं आया। तब मैंने उसे कागज़ पर लिखने को कहा। जब उसने लिखा तो पढ़ कर मालूम हुआ कि उसका

नाम 'कौंचोक छुलपैल' है। ये अक्षर पूरी ध्वनि को नहीं बता सकते। हमारी वर्णमाला में उक्त ध्वनि को व्यक्त करने के लिए कोई अक्षर ही नहीं है। सबसे ठीक यही अक्षर थे। अतः मैं भी उसे शुद्ध रूप में नहीं लिख सका। अब हम भविष्य में कौंचोक छुलपैल को सुभीते के लिए केवल 'कौंचोक' कहेंगे।

भोजन के समय और तो सब चले गए, परन्तु कौंचोक रह गया। आज दिन यहीं रहना था। अतः हमने अपने कपड़े और साबुन उसे देकर कहा कि इन्हें धुलवादे। ठण्ड के कारण स्नान तो नहीं किया, परन्तु कपड़े बदल लिये। लेह से अभी तक न स्नान किया था और न दाढ़ी ही बनाई थी। अतः विचार हुआ कि स्नान न सही, परन्तु दाढ़ी बनानी चाहिये, लेकिन कौंचोक ने रोक दिया। उसने बताया कि अंग्रेज तो श्रीनगर से ही दाढ़ी बढ़ाते आते हैं। फिर हमारी दाढ़ी तो अभी छः दिन की थी। ठण्ड से पुँह को बचाने के लिए दाढ़ी आवश्यक है। हम भी मान गये। बोपहर को फिर स्नो-त्रोट बनी। गफ़ारा बोला कि अब माँस नहीं गलता। उसका कहना भी ठीक था। इतनी ऊँचाई पर, जहाँ थोड़ी-सी आँच में पानी उबलने लगे, वहाँ माँस कैसे गलता ?

दोपहर में हमारे नौकर बूटों पर पालिश तथा कपड़ों की धुलाई आदि में लगे रहे। हम भी अपने नोट लिखते रहे।

संध्या समय कौंचोक फिर आया। मैंने उससे कहा कि और सब बातों का कष्ट तुम लोगों को अवश्य है, परन्तु खाने के लिए ईश्वर ने तुम्हें स्नो-त्रोट सरीखी स्वादिष्ट मछली दी है, जो हाथों से पकड़ी जा सकती है। यह सुन कर वह बोला कि मोटा किसी प्रकार की मछली नहीं खाते। मैं समझा कि यह उनके धर्म में निषिद्ध होगी तो वह बोला कि ऐसा नहीं है, परन्तु इसकी गन्ध और स्वाद उन्हें पसन्द नहीं। भला देखिये, इन गन्दों को भी मछली की बू आती है ! कैसा विचित्र संयोग है !

संध्या समय खबर मिली कि टट्टू भी आ गए और गाँव वाले सत्तू आदि बना कर तैयार हैं। यदि कल खुला रहा तो चांगचेन मो चला जायगा। कौंचोक को नेग्री तथा चांगचेन नदी के पास शिकार का अच्छा ज्ञान था तथा दूसरे को नेग्री के पहाड़ के पूर्व दक्षिण ओर के तोकफू-कोफू का पूरा पता था। आज रात को यह ठहरा कि मैं नेग्री की ओर और दाऊ साहब तोकफू-कोफू जावेंगे। मेरे कुलियों का अग्रगण्य कौंचोक तथा दूसरा दाऊ साहब के कुलियों का था।

सोमवार २३ जुलाई.

रात को वर्षा होने के कारण पहाड़ी पर बरफ पड़ा था। आज हम लोगों के टट्टूओं के अतिरिक्त मोटों के भी आठ टट्टू थे। अतः मुझे सन्देह हुआ कि इन लोगों ने बोझ, जितना अब तक लदता आया, नहीं लादा और व्यर्थ को दाँव अधिक लगेंगे। पूछने पर मालूम हुआ कि अधिक टट्टू कुलियों का ओढ़ना, खाना तथा छोटे तम्बू ले जा रहे हैं, जिनका किराया हम नहीं लिया जायगा।

बादल साफ होने लगे थे। अतः हम साँजे के लगभग चल दिए। मर्स-मिक्का लगभग १८,५०० फुट ऊँचा है। अन्त के ५०० फुट की चढ़ाई थोड़ी कड़ी है। यहाँ पर कुत्तों की भाँति कुछ घोड़ों की जीभें हाँफते समय निकल गई थी। मोटा भी सहारे के लिए घोड़ों के पूँछे पकड़े थे और बीस-पच्चीस गज चल कर घोड़ों के साथ रुक जाते थे और तुटनों पर हाँक रख कर दम लेते थे। बड़ा ही दयनीय दृश्य था। जी में आता था कि ऐसे में घोड़ों को बैठना बड़ा ही निर्दयता का काम है, परन्तु विवश थे। कहीं-कहीं पर घोड़े, भेड़-बकरें तथा याक के कंकाल भी मिल रहे थे, जो दूर की दुर्गमता के प्रतीक थे। रास्ते में जगह बर्फ पर चलना पड़ता था, परन्तु अधिक नहीं थी।

लगभग बारह बजे ऊपर पहुँचे, जहाँ

दरों की भाँति एक बड़ा पत्थर का ढेर था और कुछ भण्डियाँ लगी थीं। दम फूलने के मारे जोर से तो नहीं, परन्तु यथा-शक्ति सब ने 'लो सलो हर गलो' का नारा लगाया और सुस्ताने के लिए बैठ गये। निस्तब्धता छाई थी। कोई किसी से नहीं बोल रहा था। टट्टू भी चरने के बजाय चुप खड़े, जितना बन सकता था फेंफड़ों में हवा भर रहे थे। आकाश साफ था और मन्द-मन्द हवा बह रही थी। कुछ सिर-दर्द तथा जी मचलाने पर भी मैं आसपास की हिमाच्छादित पर्वत-श्रेणियों को देख रहा था और अपने ध्यान में मग्न था। इतने में दाऊ साहब ने अपना सिगरेट केस मेरी ओर बढ़ाया और बोले, "लीजिए, सिगरेट, पीजिए।" इनके इतना कहने से मेरा ध्यान टूट गया और मुझे इतना क्रोध आया, मानों किसी ने मेरी समाधि भंग कर दी हो। मैंने तमक कर कहा, "क्या आप समझते हैं कि मेरे पास सिगरेट नहीं है? मुझे जब पीना होगा, पी लूँगा, परन्तु आपने मुझे क्यों छेड़ा?" विचारे दाऊ साहब ध्वसा गये और लगे माफी माँगने। यह देख कर दोनों शिकारी, जो पास बैठे थे, समझाने लगे कि आज आकाश साफ है। इससे घास की बू का असर हो रहा है। क्रोध आना स्वाभाविक है। इससे दाऊ साहब को बुरा न मानना चाहिये। हम फिर चुप हो गये। इस प्रकार हम एक घन्टा बैठे होगे कि तोकफू-कोफू की ओर जाने वाले कुली अपने-अपने टट्टू सभालने लगे और उनके सुखिया ने हमारे पास आकर उत्तर-पूर्व की ओर एक दर्रे की ओर संकेत करके कहा, "हमें इस उत्पत्तिका में उतर कर दूसरा सामने वाला क्यूला पार करना है और उधर चार मील उतरने के पश्चात् हम डेरा डाल सकेंगे। इसमें हमें सन्ध्या हो जायगी। अतः हमारा चल देना अनिवार्य है। उत्तर की ओर अर्थात् पमजल जाने वालों को अब उतार दे और सात ही मील जाना है, जिसमें केवल तीन घन्टे लगेंगे। अतः यह पार्टी अभी ठहर सकती है।" इस पार्टी से उसका उद्देश्य मेरी पार्टी से था। यह सुन कर

बिना कुछ बोले हम सब उठ खड़े हुए।

चोटी से आधा मील के पश्चात् हमारे मार्ग पृथक्-पृथक् होते थे। अभी तक मैं दाऊ साहब से कुछ नहीं बोला था। कारण सिर का दर्द बढ़ता जाता था, जब हम अलग होने लगे तो दाऊ साहब ने प्रणाम कर पुनः माफी माँगी और कहा, "पहली अगस्त को अवश्य लौट आइये।" मैंने केवल सिर झुका कर 'हाँ' कर दी।

हम उत्तर की ओर बढ़े और वे उत्तर पश्चिम की ओर। रास्ते में दो जगह कियांग जंगली घोड़े मिले। इन्हें देखने का हमारा पहला अवसर था, परन्तु सिर दर्द और बेचैनी के मारे मैंने कोई ध्यान नहीं दिया। हम उतरते जा रहे थे, परन्तु उतार कम था। हम लोग चार मील गये होंगे तब तक दर्द असह्य हो गया। मैंने टट्टू रोका और उतर कर बोला, "मैं अब नहीं बढ़ सकता।" सब जानते थे कि समझाना बेकार होगा, परन्तु फिर भी उन्होंने मुझसे बहुत कहा कि इतनी ऊँचाई पर ठण्ड से कष्ट होगा, परन्तु मैं न माना। तब कौंचोक ने बाँडे और नीचे की ओर थोड़ी दूर पर दो नालों के संगम पर कुछ पत्थर की दीवारें बसा कर कहा, "देखिए वह रीमड़ी का पड़ाव है। यदि आप तीन चार मील और चल लेते तो आपको, हमको और घोड़ों को आराम मिलता, परन्तु आपको कष्ट बहुत है। अतः चलिए, रीमड़ी में ठहर जाँयगे। अच्छा हुआ जो आप इधर आये। यदि तोकफू-कोफू जाते तो क्यूला और पार करना पड़ता। तब आपकी क्या दशा होती? यह बात सुन कर हिम्मत बाँधी और रीमड़ी के पड़ाव तक पहुँच गया। लोगों ने बहुत कहा, परन्तु मैं टट्टू पर नहीं बैठा। ऐस्मिन खाई, काहवा (एक प्रकार की मसाले की चाय) तैयार की गई और पी, परन्तु कोई फर्क न पड़ा। मैं बराबर यही कहता रहा कि तम्बू लगाओ। मैं तो बिस्तरे पर लेटूँगा। जब सब समझ गए कि मैं नहीं हिलने का तो सामान उतारा गया। तम्बू में आग रक्की गई। पाँच बजे तक तीन बार

ऐस्पिन खाई और काहवा पिया, सिर दबाया गया तब कहीं थोड़ा ठीक हुआ, अन्यथा तन्द्रावस्था थी। सन्ध्या को किसी ने भोजन नहीं किया और रात भर करवटें बदलते रहे। किसी को नींद नहीं आई।

बड़े सबेरे शौच को उठ कर पदा हटाने के लिए गुसलखाने की ओर हाथ बढ़ाया तो बाँस की जोड़ की लोहे की साम में हाथ लग गया। वह इतना ठण्डा था कि मेरा हाथ वहीं चिपक गया। थोड़ा जोर लगाया तब वहाँ से हाथ खींच पाया। यह देख मैं कमिल के मास्टर की बात मान गया कि जाइंग में अवश्य लोहे से आदमी चिपक जाते होंगे।

रीमड़ी का पड़ाव लगभग १७,०० फुट ऊँचा होगा। यहाँ पर याक वाले मोटे कभी-कभी टहर जाते हैं, या मेरे सरीखे शिकारी, अन्यथा ऊँचाई और ठण्ड के कारण कोई वहाँ टहरना पसन्द नहीं करता।

मंगलवार २५ जुलाई

आज सबेरे छः बजे तापमान ४१ डिग्री था। सात बजे के लगभग मोखालोन चाय लाया और बोला, "रात को बहुत ठण्ड थी और ऊँचाई के मारे किसी को भी नींद नहीं आई। सबको ऐस्पिन खानी पड़ी। हुजूर की तबियत कैसी है?" मैंने कह दिया कि सिर में तो दर्द नहीं है, परन्तु नींद न आने से बेचैनी और भारीपन है। उसने बताया कि सामान लद गया और अब मेने तम्बू को लादने की देर है। बाहर निकल कर देखा तो जो नाला कल खूब बह रहा था, जम गया था। चारों ओर बर्फ की सफेद चादर-सी बिछी थी। तम्बू तोड़ कर लादने के लिए मोटा आ पहुँचे। मैंने कहा कि सामान को आगे चलने दो, परन्तु कौंचोक बोला कि अब जानवर मिलने की सम्भावना है। अतः हमें आगे रहना चाहिये। जब हम चलने लगे तो मुझे एक सफेद कुत्ता नज़र आया। मैंने मोखालोन से कहा कि यदि यह साथ रहा तो रात भर भोकेंगा, जिससे जानवर पास में

न रहेंगे और रास्ते में यह आगे दौड़ कर जानवर भगा देगा। मेरे प्रस्ताव को वे मान गए और जिस मोटा का कुत्ता था, उससे कह दिया कि वह कुत्ते को वापिस फोवरंग ले जाय।

आज ठण्ड बहुत होने के कारण हमें स्वेटर तथा कोट आदि पहिनने पड़े फिर भी चलते समय ट्यूट की लगाम पकड़ने में हाथ ठीक काम नहीं दे रहे थे। हम उत्तर की ओर बढ़ रहे थे और बराबर उतरते जा रहे थे। उधर सूर्य भी चढ़ता आ रहा था। अतः हमारी तबियत ठीक होती जा रही थी। रास्ते में तीन-चार जगह कियांग (जंगली घोड़े) मिले। मनुष्य को देख कर ये बहुत नहीं बौंकते। भुण्ड में रहते हैं और प्रायः सब सुर्ख रंग के होते हैं। पूँछ इनकी खच्चर जैसी होती है। शेष शरीर बिल्कुल घोड़े जैसा। ऊँचाई बड़े ट्यूट जितनी होती है। यदि इनको दूर से मनुष्य दिखाई दे तो दौड़ कर सौ-डेढ़ सौ गज तक आ जावेंगे और फिर भाग जावेंगे। इस प्रकार चलते-चलते कई बार देखने को आते हैं। आप यह समझेंगे कि अबकी बार तो भाग गए, परन्तु थोड़ी देर में देखेंगे कि दूसरी ओर से भागते चले आ रहे हैं। कियांग कई बार शिकारियों की शिकार इस हरकत से खराब कर देते हैं। एक तो इनके मार्ग से धूल के गुब्बारे उड़ते हैं। दूसरे बार-बार इनके भाग जाने और फिर लौट कर देखने आने से शिकार चौंक जाती है, या कम-से-कम चौकन्ती अवश्य हो जाती है, जिससे उसके पास पहुँचना कठिन हो जाता है। वही कारण है कि अपनी शिकार को खराब होते देख कर शिकारी चिढ़ जाता है और इन्हें मार डालता है।

एक जगह हमें अमन की मादा और उसका बच्चा दिखाई दिया। घोड़े से उतर कर दूरबीन से खूब देखा। वह चरती हुई पहाड़ चढ़ती जा रही थी। वह बड़ी तो चितरिया जितनी थी, परन्तु मोटी बहुत थी।

रास्ते में दोपहर का भोजन किया और लगभग तीन बजे पमजल पहुँचे। अन्य स्थानों की

जानवर
और
या कि

स्वेटर
चलते

क काम
रहे थे

सूर्य भी
ठीक

जगह
देख

हैं और
इनकी

बेलकुल
होती

दे तो
जावेंगे

विलते-
। आप

भाग
दूसरी

ग कई
खराब

धूल के
के भाग

शिकार
अवश्य

कठिन
शिकार

जाता है

उसका
दूरबीन

चढ़ती
जितनी

र लग-
तों को

अपेक्षा यह गरम जगह है। पमजल कोई गाँव नहीं है, परन्तु मसमिक नाले और चैंगचेन मो नदी के संगम पर, जो पड़ाव है उसीका नाम पमजल है। नाले के दोनों किनारे संगम से एक मील ऊपर तक जमुनियाँ (जल जामुन) के-से पत्तों वाले पेड़ों का जंगल है। हमने घने पेड़ जोभीला पार करने पर नहीं देखे। इनकी मुटाई दस-बारह इन्च से अधिक नहीं। जब हमें यह जंगल मिला तो इसमें फुदकते हुए सैकड़ों खरगोश दिखाई दिये। भारतीय खरगोश से ड्योढ़े और लम्बे बालों वाले होते हैं। देखने के लिए एक खरगोश मारा। जब मैंने मोटी से पूछा कि यदि वे खाना चाहें तो और मार दूँ तो कौंचोक ने बताया कि वे लोग खरगोश नहीं खाते। उनकी शोली में इसे 'रिवांग' कहते हैं। वैसे इन्हें कोई धर्म की रोक नहीं है, परन्तु वे इसके माँस को बहुत बुरा समझते हैं। कैसी विडम्बना है! महीनों का रक्खा हुआ गाय-भेड़-बकरी का माँस खा लेंगे, परन्तु तत्काल मारे खरगोश को न खावेंगे!

डैरा लगने के पश्चात् थोड़ी गरमी के कारण सूर्यास्त तक मैं बाहर बैठा रहा था। ज्योंही दिन छिप रहा था, चारों ओर से शीशियों खरगोश फुदकते दिखाई देते थे। इन्हें कोई नहीं मारता था। इससे डरते भी नहीं हैं। हमारे तम्बू से तीस गज पर कई बार खरगोश आकर चरते रहे। आज रात को थोड़ी नींद आई।

बुधवार २६ जुलाई.

आज सबेरे छः बजे तात्मान ४८ डिग्री था। यह तो पाठकों को पहिले ही बताया जा चुका है कि फ़ोवरंग तक मार्ग में यात्रियों के चलने से घोड़े की लीद आदि के चिन्ह मिलते थे और उसे रास्ता कहा जा सकता था। फ़ोवरंग से पमजल तक फिर भी कुछ मालूम पड़ता था कि यहाँ होकर गाय-भेड़-

बकरी निकली होगी, परन्तु आज हम जब सबेरे सात बजे नेघ्री की ओर पूर्व दिशा में चले तो कोई चिन्ह नहीं मिला। केवल दिशा के सहारे मोटे के जाने हुए पहाड़ों के अनुमान से जा रहे थे। मेरी जेब में, जिस जगह हम होते थे वहाँ का १ इन्च = ४ मील का पैमाने का नक्शा रहता था। इसमें मैं नई जगह के चिन्ह तथा नाम बनाता जाता था। मुझे मालूम था कि नेघ्री तथा अन्य शिकारी जगह चैंगचेन मो नदी के बाँए किनारे अर्थात् दक्षिण की ओर थे। यह वृत्तान्त मैं अन्य शिकारियों की शिकार-यात्रा की पुस्तकों में पढ़ चुका था। चैंगचेन मो नदी लनकला की ओर से पश्चिम की ओर बहती हुई पमजल से कुछ नीचे शायोक नदी में मिलती है, जो उत्तर की ओर से काराकोरम पर्वतमाला के बर्त के पानी को लाती है। इन दोनों के संगम के पश्चात् शायोक पूर्व की ओर मुड़ गई है और सिन्धु से जा मिली है।

लगभग पाँच मील चलने के पश्चात् हम चैंगचेन मो नदी के पास पहुँचे। मोटी ने जब बताया कि हमें नदी पार करना होगा तो मुझे आश्चर्य हुआ। मैंने कहा कि नदी के उत्तर की ओर जाने से तो शिकार नहीं मिलेगी। तब कौंचोक ने बताया कि यहीं नदी ने घूम खाई है। यदि बाँया किनारा पकड़े रहेंगे तो चढ़ाई-उतराई के अतिरिक्त चक्कर बहुत खाना पड़ेगा। सीधे जाने से चक्कर बच जायगा। और रास्ता समतल मिलेगा। यह बात अवश्य है कि नदी दो बार उतरना पड़ेगी।

यह देखने के लिए कि नदी में पानी कितना है, हमने सामान वालों से टट्टू लेकर पहिले उतरने को कहा। यह नदी यहाँ पर सम-भूमि होने के कारण पहाड़ी नदियों की भाँति न तेज़ बहती है और न सँकरी है। दोनों किनारों में लगभग दो सौ गज का अन्तर होगा और पानी की धारा लगभग अस्सी गज चौड़ी होगी। मोटी ने अपने बूट और चोगे उतारे और बिल्कुल नंगे हो गये। यह देख कर मुझे तो आश्चर्य

हुआ, परन्तु उन लोगों ने किसी प्रकार यह नहीं दिखाया कि वे भैंसों के हैं। बराबर बातें करते रहे और हम लोगों को वहाँ की शिकार का हाल बताते रहे। अगुआ के कहने पर सबने दोरों की भाँति घोड़ों को आगे किया और 'लो-लो' गाते हुए पानी में घुस गए। इस 'लो' शब्द के अतिरिक्त और कुछ नहीं बोले। प्रारम्भ में तो मैं समझा कि गाना प्रारम्भ करने के पूर्व सम्भव है, यहाँ की रीति ऐसी ही हो, परन्तु वे बराबर पन्द्रह मिनट तक, जब तक उस पार न हुए, बराबर 'लो-लो' को कई प्रकार से ऊँचे स्वर से गाते चले गये। एक जगह पानी लगभग पाँच फुट होगा। यहाँ पर टट्टुओं पर रखवा सामान भीगते देख कर मेरे नौकर गला फाड़-फाड़ कर गालियाँ दे रहे थे कि गहरे पानी को बचा कर निकलो, परन्तु 'लो-लो' के ऊँचे स्वर के गाने में वे कब सुनने वाले थे! मुझे तो हँसी आ गई। जब वे उधर निकल गए और गाना बन्द हुआ तो मोख्तालोन ने चार मोटे बुलाए। हमारी सलाह यह ठहरी थी कि घोड़े की काठी खोल कर मोटों के सिर पर की जाय तथा पतलून खोल कर नंगी पीठ पर चढ़ा जाय। इस प्रकार काठी और कपड़े गीले न होंगे।

मोटों के आने पर हमने ऐसा ही किया। मैंने लंगोट रहने दिया, परन्तु मेरे काश्मीरी

नौकरों के पास लंगोट नहीं था। गरम पाजामे उतार कर आगे-पीछे हाथ से कुरते दावे रहे। जब नदी में पानी छूने लगा तो ऐसा मालूम देता था मानों कोई चाकू से बार कर रहा हो। परन्तु किया ही क्या जा सकता था? उधर पहुँच कर लंगोट खोल कर गरम पतलून पहनी। नौकरों ने सब सामान को खोल-खोल कर देखा कि कितना भीगा है। भाग्यवश कोई हानि नहीं हुई। इस काम में हमें लगभग एक घण्टा लग गया। तब चले। कुछ मील जाने पर फिर नदी उतरनी पड़ी। अबही बार मोटों के बहुत कहने पर भी हम न माने कि पानी कम है। जब उनमें से दो आदमी पहिले उतरे और हमने देख लिया कि पानी कम से कम है तब हमने सामान सहित घोड़े उतारने की अनुमति दी, अन्यथा हमने कह दिया था कि सामान टट्टुओं पर नहीं, सिर पर डोआ।

उस पार पहुँचते हमें लगभग बारह बजे वाले थे। अतः यहीं पर भोजन किया। मैंने कौचोक से पूछा कि वे लोग केवल 'लो-लो' क्यों चिल्लाते थे? क्या वे गाना नहीं गा सकते? उसने बताया कि इस प्रकार चिल्लाने से पानी ठण्डा नहीं लगता। मैंने तो विश्वास नहीं किया, परन्तु हो सकता है कि इस प्रकार उनका ध्यान बँट जाता हो और पानी कम ठण्डा मालूम देता हो।

२३, कैट, }
नीमच }

(क्रमशः)

निवेदन

नवीन लेखकों की सेवा में

(१)

वनारसीदास चतुर्वेदी

[हमारे पास अनेकों नवयुवकों के इस आशय के पत्र आया करते हैं कि हम लेखक बनना चाहते हैं, कुछ परामर्श दाजिये। दूसरों को सलाह देना— बिना पूर्ण परिचय प्राप्त किये— बड़ा खतरनाक खेल है, फिर भी शिष्टाचार-वश हमें बासियों चिट्ठियाँ लिखना पड़ता है और बार-बार उनमें वही बातें दुहरानी पड़ती हैं! मुख्यतया अपने समय की वचन कला के लिए ही हमने अपने लेखक-जीवन की कुछ अनुभूतियों का प्रकाशित कर देने का निश्चय किया है। शायद उनसे किसी लेखक का प्रेरणा मिल जाय, कदाचित् कोई उन गलतियों से बच जाय, जो हमसे बन पड़ी थीं और सम्भवतः हम अपनी आकांक्षाओं की पूर्ति अन्य किसी लेखक में देख सकें—लेखक]

कोई चौतीस वर्ष पहले की बात है। सैमुएल स्मोल्स की पुस्तक 'सैलकहैल्य' मुझे पुरस्कार में मिली थी। उन दिनों मैं एफ. ए. के प्रथम वर्ष का विद्यार्थी था। उक्त पुस्तक के आधार पर 'आत्मावलम्ब' नामक एक लेख लिख कर मैंने काशी से निकलने वाले 'नवजीवन' पत्र को भेज दिया। स्वर्गीय पं० केशवदेव जी शास्त्री इसके सम्पादक थे। उन्होंने कृपा कर उसे मई-जून १९१२ के अंक में प्रकाशित कर दिया। अब जब कभी उस लेख को पढ़ता हूँ तो अपनी मूर्खता पर हँसी आती है। उस लेख में

शब्दाडम्बर की भरमार

की गई थी। संस्कृत हम नाममात्र को जानते हैं (वैसे थोड़ी-थोड़ी संस्कृत हमने सात वर्ष तक कक्षाओं में पढ़ी थी!) पर संस्कृत के श्लोकों को उद्धृत करने का मोह हमें प्रारम्भ से ही रहा है! अपने प्रथम लेख में हमने यह श्लोक उद्धृत किया था :—

“विधनै सहस्र गुणितैरपि हन्यमानाः ।

प्रारभ्य चोत्तम जनाः न परित्यजन्ति ।”

संस्कृत के अनेक कठोर शब्दों का प्रयोग उक्त लेख में किया गया था। 'आकाश' और

'बुणाक्षर' न्याय उक्त लेख में घुसेड़ दिए गये थे! एक वाक्य सुन लीजिए :—

“तात्पर्य यह है कि यदि हम परतन्त्रता की वैतरणी नदी को पार कर स्वतन्त्रता रूपी स्वर्ग-लाभ किया चाहते हैं तो हमें आत्मावलम्ब रूपी गाय की पूँछ पकड़ना चाहिये।”

हमारे सहायक सम्पादक वन्धुवर यशगज जी इस गाय की पूँछ का मौके-बेमौके जिक्र करके हमारा खूब मजाक उड़ाया करते हैं और उस पूँछ की वजह से हमें बार-बार लज्जित होना पड़ता है! नतीजा यह हुआ है कि उस लेख को हमने अलमारी में छिपा कर रख दिया है और किसी को नहीं पढ़ने देते! और उससे भी बढ़ कर दिल्लीगी और दुर्भाग्य की बात यह है कि उस मरखनी आत्मावलम्ब रूपी गाय की वह दुष्प्राप्य पूँछ अब भी हमारे हाथ में नहीं आ सकी—इस समय भी हम परावलम्बी और परोपजीवी बने हुये हैं और पराश्रय की वैतरणी में निरन्तर गोते खा रहे हैं!

उपमाओं का वण्डर

लेख का अन्तिम अंश पढ़ लीजिए :—

“किम्बहुना यदि हम सुन रूपी आकाश-मंडल

में विचरण करना चाहते हैं तो आत्मावलम्ब के विमान पर चढ़ने में विलम्ब क्यों ? यदि हम उन्नति की सीढ़ी पर चढ़ना चाहते हैं तो हमें आत्मावलम्ब का रस्सा पकड़ना चाहिये, नहीं तो बस धड़ाम-धम नीचे गिर पड़ेंगे। यदि हम राष्ट्रीय-मन्दिर बनाना चाहते हैं तो हमें आवश्यक है कि आत्मावलम्बी राजों (कारीगरों) को ढूँढ़ें। यदि हम स्वतन्त्रता देवी के दर्शन करना चाहते हैं तो हमें परावलम्ब का आवरण जो हमारी आँखों पर पड़ा है, दूर करके आत्मावलम्ब का चश्मा लगाना पड़ेगा।”

इसके बाद आत्मावलम्ब का ‘कोतल’ आत्मा-लम्ब का ‘जिह्वा वस्त्र’ आत्मावलम्ब के ‘पद-चाण’ और आत्मावलम्ब की ‘अमृतवटी’ का प्रवेश जिस तरह लेख में किया गया था, उसे देख कर आज लज्जा आये बिना नहीं रहती। अब जब कभी हम किसी नवीन लेखक की रचना में इसी प्रकार की आढम्बर-युक्त शैली देखते हैं तो हमें अपनी “गाय की पूँछ” और ‘कोतल’ की याद आ जाती है।

यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि उस लेख के छपने पर हमें अत्यन्त हर्ष हुआ था। अपने प्रथम लेख का प्रकाशित होना जीवन की एक महत्वपूर्ण घटना है। इसके सात वर्ष बाद सन् १९१६ में लीडर में हमें अपना प्रथम अंग्रेजी लेख देख कर उतना ही हर्ष हुआ था। रेल की एक भयंकर दुर्घटना हमारे नगर फीरोजाबाद के निकट ही हो गई थी। उसमें कई सौ व्यक्तियों की जानें गई थीं। उन अभाग्यवायल व्यक्तियों की कोई सेवा सुश्रूषा हमसे नहीं बन पड़ी और उनके लिये शायद हम उतने चिन्तित भी नहीं थे, जितने अपने लेख को प्रकाशित देखने के लिये ! इस दम्भ की भी कुछ सीमा थी ! अब हम अपनी मूर्खता पर हँस सकते हैं, पर अपने व्यक्तिगत अनुभव से हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि लेख लिखना Self-expression आत्मप्रकटीकरण का एक तरीका है और खसरे या चंचक की बीमारी की तरह ‘लिखास’ की बीमारी भी अधिकांश

विद्यार्थियों को लग ही जाती है। सौभाग्यशाली हैं वे, जो इससे बच जाते हैं और उनसे भी अधिक सौभाग्यशाली वे हैं, जिन्हें कोई सुयोग्य पथप्रदर्शक मिल जाय। अट-सट लिखने में और अपना मार्ग स्वयं बनाने में अपने समय का तो अपव्यय होता ही है, पाठकों का भी बहुत-सा वक्तु बर्बाद हो जाता है। अब तो हमारा यह दृढ़ विश्वास हो गया है कि लेखों को बिना किसी योग्यतर व्यक्ति को दिखलाये, बिना संशोधन कराये पत्रों को भेजना भयंकर सामाजिक अपराध है और इसके लिए पत्रकारी पिनलकोड में कम-से-कम पाँच-सात महीने सपरिश्रम कारावास का दण्ड तो मिलना ही चाहिये। सुप्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान डाक्टर भगवानदास ने लेखन ब्रह्मचर्य पर बहुत जोर दिया है और निस्सन्देह कमजोर मानस-सन्तान-निग्रह के लिए यह अत्यन्त आवश्यक भी हैं। अपने पत्र के लेखकों से हम प्रायः निवेदन किया करते हैं कि जो कुछ भी आर लिखें, सीढ़ी-सादी जवान में और सज्जेप से लिखें। स्वयं हम उस समय इस उपदेश पर कितना आचरण करते थे, उसकी मिसाल सुन लीजिये।

सारे क्लास पर सकट

‘मर्यादा’ के जुलाई सन् १९१२ के अङ्क में प्रकाशित मेरे एक लेख ने सारे क्लास पर सकट ही ला दिया। लेख का शीर्षक था ‘औरंगजेब के जीवन पर एक दृष्टि’ उन दिनों दिनों प्रोफेसर ईश्वरी प्रसाद जी (वर्तमान अध्यापक प्रयाग-विश्वविद्यालय) हमारे यहाँ आगरा कालेज में इतिहास पढ़ाया करते थे और कभी-कभी अनुवाद सिखाने का कार्य भी ले लिया करते थे। औरंगजेब के विषय में एक पुस्तक पढ़ाई जाती थी। उसी के आधार पर लिख कर मैंने वह लेख ‘मर्यादा’ को भेज दिया और उसके सुयोग्य सम्पादक पं० कृष्णकांत जी मालवीय ने मुझे प्रोत्साहन देने के ख्याल से उसे छाप भी दिया। हमारे किसी साथी ने मर्यादा का वह अङ्क प्रोफेसर साहब को दिखला दिया। वैसे भी

मैं उनका कृपा पात्र था। वे मेरी शरीर की को जानते थे और उन्हें यह भी पता था कि मेरे पूज्य पिता जी एक मामूली मुदरिस हैं, इसलिये मेरे साथ उनका व्यवहार बहुत ही सहृदयतापूर्ण था। अपने प्रिय शिष्य की इस करामात पर वे बड़े प्रसन्न हुए, क्लास के सामने मेरी प्रशंसा भी की और उसी लेख का प्रारम्भिक अंश क्लास भर को अनुवाद के लिए बोल दिया ! थोड़ी देर में सम्पूर्ण क्लास निम्नलिखित वाक्य का अनुवाद करती हुई और मुझे झेलती हुई दीख पड़ी :—

“औरङ्गजेब के जीवन पर एक दृष्टि

जिसने हिन्दू समुदाय के चन्द्र को राहु के समान प्रस्त कर लिया, जो कंटकाकीर्ण पथ पर दौड़ता ही चला गया, ठोकरें खाने और बहुत हानि उठाने पर भी जिसने अपने मार्ग का त्याग न किया, जिसने नखदन्त-युक्त केसरी को पिञ्जरबद्ध करना चाहा, ‘जिसने हरचे वाड़ा वादमा कश्ती दराब अन्दाख्तेम’ यह कह कर अपनी नौका समुद्र में छोड़ दी और मार्ग के अवरोधकों की उपेक्षा करता हुआ निज मतानुसार उसे खेता ही चला गया, परन्तु जिसकी नौका दुर्दम-नीति की दामिनी की दमक अविश्वास के मेघ और अत्याचार की झड़ी के कारण नाश के अथाह जल में निमग्न हो गई, पाठक कहेंगे वह कौन था ? वह था मुहीउद्दीन मुहम्मद औरंगजेब आलमगीर और वही हमारे इस चरित्र का नायक है। हम लोग सदा उसे बुरे शब्दों में स्मरण करते हैं। जिसने हमारे ऊपर अनेक अत्याचार किये, हमारे धर्म को नष्ट करना चाहा, हम पर विविध प्रकार के कर लगाये, यदि हम उसे बुरे शब्दों से सम्बोधन करें तो कोई आश्चर्य-जनक

बात नहीं है, परन्तु साथ-ही-साथ हमें उसके गुणों से भी शिक्षा लेनी चाहिये और निष्पक्ष भाव से उनकी प्रशंसा करने में भी नहीं हिचकना चाहिये। किसी व्यक्ति के जीवन-चरित्र अथवा किसी ग्रन्थ का समालोचना करते हुए उसके गुण और दोष दोनों का उल्लेख करना समालोचक का परमवर्ग है। केवल दोषों अथवा केशल गुणों का वर्णन करने वाला समालोचक सभ्य-समाज में पतित अथवा पञ्चपाती गिना जाता है।

ओलिवर क्रामवेल ने एक बार कहा था :—

हमारा चित्र ठीक वैसा ही बनाओ जैसे कि हम हैं, यदि तुम चेहरे के दागों (या गूथों ?) और सिकुड़नों को छोड़ दोगे तो हम तुम्हें एक पैसा भी नहीं देंगे।”

सच बात तो यह है कि आज चौतीस वर्ष बाद भी मैं उपरोक्त वाक्य का सन्तोष-जनक अनुवाद नहीं कर सकता। और “हर्चे वादा वादमा कश्ती दराब अन्दाख्तेम” इस पद्यांश में केवल ‘कश्ती’ शब्द का ही अर्थ समझ पाता हूँ। सन्तोष की बात यही है कि “स्वावलम्बन रूमी गाय की पूँछ” से जो काम न बन सका, वह इस ‘कश्ती’ ने कर दिया ! वद्यपि किसी विषय में मैं पारंगत तो नहीं बन सका, पर साहित्य-सरिता में लट्ठम-लट्ठम तरीके से अपनी नौका को खेता रहा हूँ। ‘मर्यादा’ की उन दिनों बड़ी धाक थी। ‘सरस्वती’ के बाद उसी का नम्बर था और उसमें किसी नवयुवक के लेख का प्रकाशित हो जाना निस्तन्देह गौरव जनक था। ‘मर्यादा’ के बाद तो अन्य पत्रों में लेख छपना आरंभ भी सरल हो गया। गुरुवर पं० लक्ष्मीधर जी वाजपेयी उन दिनों ‘आर्य मित्र’ के सम्पादक थे और

उन्होंने मुझे बहुत प्रोत्साहन दिया। 'आर्य-मित्र' के लिए उन्होंने बहुत से लेखों का अनुवाद मुझसे कराया, 'भारत सुदशा-प्रवक्त' में भी मेरे बहुत से लेख छपे और स्वर्गीय पं० रामजी लाल जी शर्मा ने अपने 'विद्यार्थी' के लिए भी कितनी ही सम्पादकीय टिप्पणियाँ तथा लेख मुझसे लिखाये। लेखक जीवन की प्रारंभिक अवस्था में एक ऐसा समय होता है, जब कि लेखक की भावनाएँ अत्यन्त कोमल होती हैं और उस समय थोड़ी-सी हिम्मत बँधा देने से बड़ा काम हो सकता है। किसी नवीन लेखक की साधारण रचना को अस्वीकृत करके लोटाना सहृदय सम्पादक के लिए अत्यन्त अप्रिय कर्तव्य हो जाता है और इस नाजुक आपरेषन में हमारे जीवन के सैकड़ों ही घण्टे व्यतीत हुए हैं। आज जब मैं अपने तुच्छ जीवन का लेखा-जोखा लेता हूँ तो पता लगता है कि मैं वीसियों व्यक्तियों का ऋणी हूँ और उन व्यक्तियों में महात्मा गांधी, कबीन्द्र श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर, दीनबन्धु ऐण्ड्रूज और सम्पादकाचार्य श्री रामानन्द चट्टोपाध्याय, स्वर्गीय पं० रामेश्वर भट्ट, श्री पं० अम्बिका प्रसाद जी वाजपेयी, पं० लक्ष्मीधर जी वाजपेयी इत्यादि प्रमुख हैं।

स्वर्गीय भट्ट जी की कक्षा में दो वर्ष तक हिन्दी और संस्कृत पढ़ने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ था। उन जैसे सजीव व्यक्तित्व वाले अध्यापक अब कठिनता से ही मिलेंगे। यदि मैं आज कुछ थोड़ा-सा लिख लेता हूँ तो वह इन गुरुजनों के आशीर्वाद का ही फल है। अगर कोई नवीन लेखक मुझसे लेखक-जीवन की सफलता का मन्त्र पूछते हैं तो मैं उन्हें गीता के चतुर्थ अध्याय का चौतीसवाँ श्लोक बता देता हूँ :—

“तद्विद्वि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया”

विनम्रता, बार-बार प्रश्न करना और सेवा यही उपाय है, जिससे हम गुरुजनों का आशीर्वाद पा सकते हैं। यद्यपि हमारी सफलता के लिए इस आशीर्वाद की अनिवार्य आवश्यकता है

तथापि बिना कठोर परिश्रम के कुछ नहीं सकता। इस प्रगतिशील जमाने में भले ही बात दकियानुसी समझी जाय, पर मैं गुरु बनाने और उनकी सेवा करके उनका आशीर्वाद लेने और भी विश्वास रखता हूँ। सुना है 'निगुण' शब्द साधु सम्प्रदाय में गाली के रूप में प्रयुक्त होता है। क्या ही अच्छा हो, यदि वह लेखक-मण्डल में इसी अर्थ माना जाने लगे !

सजीव भाषा

बिना किसी संकोच के मैं इस बात के स्वीकार करूँगा कि चौतीस वर्ष की कलम-घिमाई के बावजूद मुझे सजीव भाषा लिखना नहीं आ सका। हिन्दी की दूसरी शैली उर्दू न जानने के कारण मेरी भाषा में वह रवानी (प्रवाह) नहीं आ सकी, जो मेरे अनेक सहयोगियों की शैली में पाई जाती है। स्वर्गीय ब्रजमोहन वर्मा की-भी भाषा में इस जन्म में लिख नहीं सकता। कविवर माखनलाल जी जैसी काव्यमय भाषा लिखने के लिए मुझे कवि होना पड़ेगा और पालीवाल जी जैसी जोरदार शैली के लिए राजनैतिक जीवन का संघर्ष जरूरी है, पर कविता और राजनीति की चोमारियों से मैं दूर ही भागता रहा हूँ, इससे उन खट्टे अंगूरों की ह्छा ही नहीं करता। बन्धुवर हरेशङ्कर जी शर्मा के शब्द-भण्डार और भाषा-कालित्य पर मैं अनेक बार मुग्ध हुआ हूँ और स्वर्गीय पं० महावीर प्रसाद जी द्विवेदी ने मुझसे कहा था, “चौवेनी, भाषा लिखना इनसे (श्रीराम शर्मा) से सीख लो।”

यद्यपि मुझे स्वर्गीय पं० पद्मसिंह जी शर्मा, स्व० पं० माधव प्रसाद जी मिश्र तथा स्व० बबू बालमकुन्द जी गुप्त की लेख शैली अत्यन्त प्रिय रही हैं और पं० अम्बिका प्रसाद वाजपेयी की वामुहाविर हिन्दी का मैं कायल रहा हूँ तथापि व्यवहार में मुझे पूज्य द्विवेदी जी की लेख शैली ही अधिक उपयोगी मालूम पड़ती है। महात्मा गांधी जी ने एक जगह पर सुप्रसिद्ध अंग्रेज लेखक रस्किन की लेख शैली की प्रशंसा करते हुए लिखा था :—

“रस्किन की अंग्रेजी ऐसी है कि जिसे जनता सुगमता से समझ सकती है... ऐसा समय आगे चल कर आवेगा कि जब भाषा का प्रेम व्यापक हो जायगा और उन दिनों चुटीली और प्रभावशाली भाषा लिखने के इच्छुक फकीरी लादने को तय्यार नजर आवेंगे और जिस प्रकार रस्किन ने अपनी सुमधुर अंग्रेजी में उन भावों को व्यक्त किया है उसी तरह कोई लेखक गुजराती में भी लिखने को तय्यार हो जायगा।”

निस्सन्देह प्रभावशाली लेख शैली के निर्माण के लिए अत्यन्त कठोर साधना की, बंगाल गांधी जी, फकीरी लादने की जरूरत है, पर यह लेख शैली हमारे व्यक्तित्व की छाप ही हो सकती है। इसलिए नवीन लेखकों से मैं यही निवेदन करूँगा कि लेख शैलियों के चक्कर में न पड़े और किसी लेखक विशेष की लेख-शैली की नकल करने की गलती हर्गिज न करें। यदि हम अपने दिमाग को साफ रखें, हृदय को सख्तेदशील और जीवन-क्रम को यथासम्भव निर्दोष तो उनका प्रभाव हमारी लेख-शैली पर पड़े बिना न रहेगा। अध्यापक पून-सिंह जी की लेख शैली की लोग प्रायः प्रशंसा किया करते हैं। निस्सन्देह उन्होंने चार-पाँच ही लेख लिख कर अपनी स्टाइल की धाक हिन्दी जनता पर जमा दी थी। पर कितने पाठक ऐसे हैं, जो स्वर्गीय पूनसिंह जी की आजीवन साधना का वृत्तान्त जानते हों? वे सच्चे अर्थों में साधक थे, तपस्वी थे और पहुँचे हुए व्यक्ति थे। इनकी लेखशैली उनकी जाग्रत आत्मा का प्रतिबिम्ब थी। संवेदनशील हृदय की छाया थी और थी उनके विकसित मस्तिष्क का विस्तृत रूप।

प्रारम्भ कैसे किया जाय ?

यद्यपि लेखक जीवन को प्रारम्भ करने के लिए सर्वोत्तम उपाय तो यही है कि हम अपनी

अनुभूतियाँ ही पाठकों के समुख रखें, तथापि है यह वज्रा कठिन। विद्यार्थी जीवन में ऐसी अनुभूतियों को संपद कर लेना, जो दूसरों के लिए भी मनोरंजक तथा उपदेशप्रद हों, कोई आसान चीज नहीं। उदाहरणार्थ यदि आपने किसी खतरनाक वन की यात्रा की है, किसी दुर्गम पहाड़ी की चोटी पर चढ़े हैं या पैदल लम्बी सफ़र की है या किसी महापुरुष से बात-चीत करने का सौभाग्य आपको मिल गया है तो उसका विवरण छुपाना मुश्किल नहीं, पर ऐसे अवसर कभी-कभी ही हाथ आते हैं। इसलिए नवीन लेखकों से मेरा आग्रह है कि वे अनुवाद से प्रारम्भ करें। आस्ट्रिया के सुप्रसिद्ध लेखक स्टीफन ज़्विग ने आत्म-चरित में एक जगह लिखा है :—

“यदि कोई नवयुवक लेखक अपने लक्ष्य के विषय में अतिरिक्त हो तो उसे मैं एक हा परामश दूँगा, वह यह कि वह किसी महान लेखक की छोटी-मोटी पुस्तक का अनुवाद करे या फिर उसके आधार पर कोई ग्रन्थ लिख दे। नवीन लेखक जो भी सेवा आत्म-त्याग की भावना से करेगा, उसमें उसे अपनी कृति की अपेक्षा सफलता मिलने की विशेष सम्भावना रहेगा, क्योंकि भक्ति-पूर्वक किया हुआ कोई भी कार्य कदापि निष्फल नहीं जाता।”

अब प्रश्न यह है कि अनुवाद किस भाषा से किया जाय? मेरा खयाल है कि हिन्दी लेखक के लिए तीन चीजों का जानना अनिवार्य है :—

(१) हिन्दी की दूसरी शैली उर्दू।

(२) अंग्रेजी।

(३) बंगला, गुजराती, मराठी इत्यादि में

से कम-से-कम एक प्रांतीय भाषा।

(२६२)

बंगला सीखने के लिए हरिदास कम्पनी, मथुरा से हिन्दी-बंगला-शिक्षक दोनों भाग मँगा लेने चाहिये। देश की स्वाधीनता के दिन अब निकट ही हैं, इसलिए अंग्रेजी के बजाय किसी अन्य यूरोपीय भाषा, फ्रांसीसी, जर्मन, रशियन इत्यादि के जानकार भी हमें अपने यहाँ पैदा करने में सुविधा होगी। सम्भवतः चीनी भाषा का भी अध्ययन हमारे लिए आवश्यक हो जायगा, फिर भी इस समय और अभी बहुत वर्षों तक अंग्रेजी का आश्रय लिए बिना हमारा काम नहीं चलने का। वैसे अंग्रेजी भाषा से हमारी कुछ दुश्मनी है भी नहीं। जो भाषा अपने साधकों की असाधारण तपस्या के कारण अन्तर्राष्ट्रीय बन चुकी है उससे हम घृणा नहीं, स्पर्धा ही कर सकते हैं। इसके सिवाय जब तक हमारे देश के अनेक सुप्रसिद्ध नेता अपनी सर्वोत्तम रचनाएँ अंग्रेजी में ही प्रकाशित कराते हैं और हमारे देश के सर्वोत्तम दैनिक पत्र प्रायः अंग्रेजी में ही निकलते हैं तब तक अंग्रेजी से पिण्ड छुड़ाना मुश्किल ही है।

एक खतरा

निरन्तर अंग्रेजी पढ़ने और उससे मानसिक भोजन लेने में एक खतरा भी है और उसकी ओर से हमें सावधान रहना चाहिये। वह यह है कि उससे हमारी हिन्दी लेखशैली पर अंग्रेजी लेखशैली की छाप पड़ने लगती है और अंग्रेजी से प्रभावित हिन्दी लेखकों की, शैली जानदार नहीं बन पाती। स्वर्गीय पद्मसिंह जी शर्मा के विषय में एक किस्सा मशहूर है। वे एक बार महात्मना पंडित मालवीय जी की सेवा में उपस्थित हुए थे। उस समय

टीकमगढ़
(बुन्देलखण्ड)
२२-२-४६

कोई सज्जन मालवीय जी को 'लीडर' सुना रहे थे। जब वे जाने लगे तो मालवीय जी ने शर्मा जी से कहा आप ही 'लीडर' पढ़ कर सुनाइये। शर्मा जी ने उत्तर दिया, "मैं तो अंग्रेजी जानता ही नहीं।" मालवीय जी को इससे आश्चर्य हुआ और उन्होंने कहा, "हिन्दी तो आप बहुत अच्छी लिख लेते हैं।" शर्मा जी ने विनम्रता-पूर्वक निवेदन किया, "हिन्दी शायद इसीलिए अच्छी लिख लेता हूँ कि अंग्रेजी नहीं जानता।"

विशेषज्ञता

साहित्य-क्षेत्र में प्रवेश करने के लिए किसी विषय की विशेषज्ञता भी एक उत्तम साधन है। किसी नवयुवक ने एक सम्पादकाचार्य से पूछा, "सफल पत्रकार बनने का सर्वोत्तम साधन क्या है?" उसने उत्तर दिया, "किसी विषय का विशेषज्ञ बन जाना। उदाहरणार्थ आप आलुओं पर लिखना शुरू कीजिये। आलुओं के विषय में जहाँ भी जो कुछ निकला हो उसका अध्ययन कीजिये और दिन-रात आलुओं पर ही लिखा कीजिये। जिस दिन लोग आलुओं का महत्त्व समझेंगे, उसी दिन आप महत्त्वपूर्ण लेखक बन जायेंगे।"

किन-किन विषयों का विशेष अध्ययन किया जाय? कौन विषय हमारे युग-धर्म के अनुकूल है? और उनके लिए मसाला कहाँ मिल सकता है?

इन प्रश्नों का उत्तर देना मेरे लिये आसान नहीं; फिर भी अपने मित्रों तथा सहयोगियों की सहायता से द्वितीय लेख में इनके विषय में कुछ लिखने का प्रयत्न करूँगा।

घरेलू जीवन चरित—

मेरी माता जी

श्री मुरलीधर दिनोदिया बी. ए., एल-एल. बी.

[श्री दिनोदिया जी हिसार जिले के अंतर्गत पदोन नामक स्थान के निवासी हैं। उनके इन संस्मरणों से हम वात्सल्य, सेवा-परायणता एवं उदारता का पाठ सीख सकते हैं। अशिक्षित होने पर भी हम अपने गुणों से अपने समाज और देश के गौरव की वृद्धि कर सकते हैं, यह इन संस्मरणों से स्पष्ट ही है।—सम्पादक]

मेरी माता जी स्व० दाखानाई का जन्म पंजाब में हिसार जिले के बड़वा नामक गाँव में विक्रमाब्द १६३१ के लगभग हुआ था।

सिंगल गोत्रीय अग्रवाल रामदयाल जी भावठड़ी वाला उनके पिता थे। माता जी का विवाह उसी जिले में भिवानी से चार कोस पश्चिम में दिनोद नामक गाँव के बंसल गोत्रीय अग्रवाल हुक्मचन्द जी केजड़ीवाल के साथ सं० १६४२ में माघ शुक्ला पञ्चमी के दिन हुआ। मेरे पिता जी का जन्म सं० १६२२ में हुआ था। उनकी पूर्व धर्मपत्नी के प्रथम प्रसूति में निस्सन्तान पुत्र जाने पर उनका यह दूसरा विवाह था। गौर वर्ण, उन्नत नालिका, प्रशस्त ललाट, पूरी ऊँचाई और सुहृद दोहरा जात इस प्रकार शरीर-सम्पत्ति के लिहाज से माता जी का व्यक्तित्व आकर्षक एवं प्रभावशाली था।

माता जी के दस सन्तानें हुईं। एक बेटी और नौ बेटे, जिनमें से बेटी और छः बेटे उनके जीवनकाल में ही मर गये। मैं उनकी अन्तिम सन्तान हूँ और सहोदरा के स्नेह से आजीवन वंचित रहने का मुझे हमेशा खेद रहा है; लेकिन माता जी की वेदना तो कल्पनातीत है। सात सन्तानों का वियोग उन्हें सहन करना पड़ा, जिनमें एक बार दो बेटे कुछ दिनों के अन्तर से मरे और दो जवान बेटे कुछ दिनों के अन्तर से फिर स्वर्गवासी हुये। कभी-कभी मैं देखता कि माता जी उदास हैं अथवा रो रही हैं और अन्यान्य स्त्रियाँ उन्हें दिलासा दे रही हैं। मैं सोचता कि आज अकस्मात् ऐसा क्या हुआ?

पीछे मालूम होता कि आज उनके अमुक पुत्र की पुण्य तिथि (निवन-दिवस) है। हमारे समाज में जन्म-दिन मनाने की प्रथा तो कम ही देखने में आती है, पर मृत्यु दिवस किसी-न-किसी रूप में अवश्य मनाया जाता है।

सं० १६७२ में वैशाख कृष्ण ५ को हैजे से पिता जी की मृत्यु हो गई। सं० ६२, ६६ और ७४ की प्लेग, ७५ की कर्तिक वाली तपकाली और अन्यान्य दुर्घटनाओं से परिवार की भीषण जन-हानि हुई, उनका एक जवान बेटा हत्या के मुकदमे में फाँस लिया गया। परिवार को भारी आर्थिक धक्का भी लगा। इस प्रकार मेरी आँखों के सामने माता जी का दुःखमय जीवन ही आया; क्योंकि मैं तेरह वर्ष का ही था कि चैत्र कृष्ण ३ के दिन सं० १६८० में साधारण रोग से दो-तीन दिन अनबोल रह कर माता जी सदा के लिए चली गईं, मैं तो उस समय सेवा करने योग्य ही नहीं था और सच यह है कि उन्होंने सेवा किसी से भी नहीं करवाई। स्वयं सबकी की।

पिता जी की स्मृति-स्वरूप हमारे यहाँ उनका एक पुगने चलन का बड़िया अंगरखा रक्खा हुआ है, पर माता जी की याद तो केवल हृदय-पटल पर ही सुरक्षित है।

मेरी नानी मरदानी थीं। उन्होंने गाँव के सर्वेसर्वा ठाकुर की करारी भर्त्सना की थी और मुहल्ले में बे-वक्त आए एक पुरुष का खूब खबर ली थी। पर निरन्तर दुखों से पीड़ित रहने के कारण माता जी का स्वभाव ठीक इसके विपरीत था। उनके दिल में क्रूरता, स्नेह,

सहायभूति और समवेदना का सागर लहराया करता था। बच्चों को मारते-पीटते उन्हें कभी नहीं देखा गया। मुझे ठीक याद है, एक बार न जाने किस बात पर अपना जोभ प्रकट करने के लिए मुझे न पीट कर उन्होंने अपना ही सिर पीट लिया था। सजा देने का यह विचित्र तरीका देख कर मैं अवाक रह गया और अपनी भूल पर मुझे हार्दिक पश्चात्ताप हुआ।

बच्चों को गाली देती तो 'रामका मार्या' (मारा) न कह कर, 'राम का समार्या' (संवारा) कहती थीं। मुझे पाष के गाँव के एक पेंशनर राजपूत रिसालदार से मालूम हुआ कि उन दिनों उनके गाँव में कोई पाठशाला नहीं थी। वहाँ के बच्चे हमारे यहाँ के स्कूल में पढ़ने आया करते थे। रिसालदार भी पढ़ने आते थे। वह बताते थे कि उन दिनों हमारी माँ के हाथ का चुरमा उन्हें खूब खाने को मिलता था। इस छोटी-सी बात से माता जी का वात्सल्य प्रकट होता है। कुटुम्ब में या मुहल्ले में किसी के भी यहाँ होने वाले प्रसव का समाचार सुन कर बिना बुलाये, रात हो या दिन, माता जी सहायतार्थ अवश्य पहुँच जाती थीं। मुन पातीं कि अमृक के घर अन्न के अभाव में आन्न चूल्हा नहीं जला तो अनाज मेज देती थीं, मैंने देखा कि मुहल्ले की उन गरीब विधवाओं के यहाँ, जो आत्म-गौरव के कारण खुली सहायता स्वीकार नहीं कर सकती थीं, माता जी पीसने के लिए नौकर द्वारा अनाज देती थीं और जो नौकर को भी मालूम नहीं होने देना चाहती थीं, उनके यहाँ रात को स्वयं अनाज लेकर जातीं और रात को ही उनके यहाँ से आया ले आतीं। कभी दिन में जाना पड़ता तो रास्ते में मिलनेवालों से बहाना बना देती कि हमारी चक्की में आज कुछ खराबी हो गई है। इससे पीसने को अनाज दूसरे के यहाँ ले जा रही हूँ। और सचमुच माता जी दिखाने के लिए स्वयं भी पीसती थीं। ऐसे कार्यों में हिन्दू-मुसलमान का भेदभाव नहीं करती थीं।

नौकरों के साथ घर के आदमी का-सा बर्ताव करती थीं और उनके बच्चों के लिए चीजें देती

थीं। बीमारी में स्वयं उनकी देखभाल करती थीं।

जहाँ जातीं, वहीं आत्मीयता पैदा कर लेतीं। एक बार भिवानी स्टेशन पर उन्हें काफ़ी समय तक रुकना पड़ा तो स्टेशन-मास्टर की पत्नी को भायेली बना लिया। थोड़ी देर में ही स्नेह-सम्बन्ध पैदा करने की उनकी अपनी कला थी। उस स्नेह-सम्बन्ध को सदैव बनाए रखती थीं।

उनके 'राज्य' में हमारे परिवार में जेठानी-देवरानी अथवा सास-बहू की गृह-कलह कभी नहीं हुई। बहुओं के प्रति माँ का-सा स्नेह रखती थीं। मेरी चाची जी दुर्भाग्य से अल्पायु में ही विधवा हो गईं। उसी दिन से माता जी ने स्वयं गोटेदार कपड़ा पहनना छोड़ दिया। एक बार स्व० चाची जी ने चार महीने के लिए अन्न का त्याग किया था। हम वैष्णवों में भी जैनों की तरह व्रतों का बड़ा महत्त्व है। पिता जी ऐसा कठिन व्रत कभी न करने देते। माता जी ने चाची जी के इस अनुष्ठान में उनकी पूरी-पूरी सहायता की। चाची जी के वास्ते दूध के लिए उन्होंने गाय खरीद कर एक जाट के घर बँधवा दी और आवश्यकतानुसार दूध नित्यप्रति दोनों समय मँगा लेतीं। पिता जी के कानों भनक भी न पड़ने दी। उन्हें व्रत के पूर्ण होने के कई दिन बाद पता चला। माता जी और चाची जी ने सगी बहनों की तरह इतने लम्बे अर्धे तक सामं (सम्मिलित कुटुम्ब) निवाहा कि हमारे कुटुम्ब तथा रिश्तेदारियों में उनका उदाहरण दिया जाता है।

माता जी ईश्वर को बड़े विश्वासपूर्ण ढंग से 'सहस्रभुजा वाला' कहती थीं। तीर्थ, व्रत, दात-पुण्य के लिए परिवार में बड़ा अनुकूल वातावरण था। मेरे स्व० बाबा (दादा) तो प्रतिवर्ष कई महीने तीर्थों में निवास करते थे। पारिवारिक संकट के अवसर पर माता जी यात्राएँ और व्रत आदि खूब बोलती थीं। बच्चों के सिद्धांत पर अलग-अलग यात्राओं की कई-कई चोटियाँ रखी जाती थीं। सम्भवतः यह भी अपनी मानताओं को याद रखने का एक तरीका था।

क्योंकि ये चोटियाँ यात्रा करने पर तीर्थों में ही उतरवाई जाती हैं।

व्रत तो माता जी बहुत करती थीं। यहाँ तक कि जब हमारा (जुड़वाँ भाइयों का) जन्म हुआ, वे व्रत रख रही थीं और उस दिन उन्होंने गणेश-चतुर्थी का उद्घाटन किया था। गंगा माता के प्रति हिन्दुओं में विचित्र आस्था है। माता जी का कोई दाँत या दाढ़ गिरती तो उसे सम्हाल कर रख लेतीं। मैं पूछता कि इसका क्या बनेगा ? कहतीं कि मेरी मृत्यु के पश्चात् मेरे फूलों के साथ इन्हें भी गंगा जी में प्रवाहित कर देना। मैंने ऐसे कई दाँत-दाढ़ ढूँढ़ कर उनके फूलों के साथ गंगा में प्रवाहित करने के लिये मेजे थे।

जीव-टया का भाव माता जी में बहुत था। यथासम्भव चींटी भी न मरे, इतना खयाल रखती थीं। मुझे छुटपन में पत्तियों के प्रति स्वाभाविक आकर्षण था। घर में सहचराती-फुदकती फिरने वाली गोरैया को देख कर मेरा जी करता कि इससे खेलूँ। गोरैया को पकड़ने का मैं बहुत प्रयत्न करता। कभी किसी को पकड़ भी लेता तो माता जी बहुत नाराज़ होतीं। हजार मिन्नतें करने पर भी उन्होंने मुझे कभी पिंजरा मँगा कर नहीं दिया। उन्होंने मुझे गोरैया की एक बड़ी करुण कहानी सुनाई थी। कहानी की चिड़िया की वेदना भरी पुकार अभी तक मेरे कानों में गूँजती है।

कभी-कभी कोई ज़रूरतमन्द स्त्री माता जी से सौ-पचास रुपये ले जाती अथवा कोई जेवर बन्धक रख जाती। माता जी की यह 'महाजनी' रुपया बटोरने के लिए नहीं थी, बल्कि आवश्यकता के समय काम आने के भाव से थी। एक बार एक स्त्री अपनी नथ बन्धक रख गई। उसे पीहर जाना हुआ तो माता जी से यह कह कर नथ माँग ले गई कि पीहर से लौट कर वापिस कर दूँगी। बाद में जब वह नथ लौटाने आई तो माता जी ने यह कहते हुए उसी को दे दी, "लो वहन, तुम्हारे सुहाग की शोभा है। यहाँ रक्खी तो और वहाँ रक्खी तो,

एक ही बात है। रुपए जब रहे, दे देना।" रुपए आज तक नहीं हुये।

माता जी को आनी सम्पन्नता अथवा कुलीनता का किंचित अभिमान नहीं था। बड़ी-बूढ़ियों का यथोचित सम्मान करती और रिश्ते में छोटी स्त्रियों को सीख और असीम देतीं। कुटुम्ब में, मुहल्ले में तथा दूर-दूर तक गाँव में विरादरी, गैर-विरादरी में, हिन्दू-मुसलमानों के यहाँ दुःख-दर्द में ज़रूर जाती थीं। गाँव के स्त्री-पुरुष हिन्दू-मुसलमान, छोटे-बड़े सभी उनका सम्मान करते थे। हमारा कुटुम्ब बड़ा है। कुटुम्ब के स्त्री-पुरुष सभी उनके पास अपनी अपनी समस्याएँ लेकर आते और पारिवारिक राह रस्म के विषय में उनकी सम्मति लेते थे। हमारे समाज में पर्दा काफ़ी है। रिश्ते में बड़े पुरुषों और माता जी के बीच बातचीत के लिए मुझे कई बार 'मध्यस्थ' बनना होता था। माता जी पीहर जाती थीं तो वहाँ भी अपने कुटुम्ब के तमाम घरों में, विशेषतया दुःख दर्द वालों के यहाँ, अवश्य मिलने जाती थीं। वहाँ भी उनकी वही मान-प्रतिष्ठा थी। उनका पीहर और हमारा गाँव एक ही जिले में कोई पच्चीस कोस के अन्तर पर है, पर दोनों जगह की बोलियों में काफ़ी असमानता है। माता जी ने हमारे यहाँ की बोली को क़रीब-क़रीब मातृ बोली के समान अपना लिया था।

एक बार भिवानी से लौटते हुए बैल बेकाबू होकर भाग छूटे, बहली टूट गई, माता जी उछल कर नीचे गिर पड़ीं और रस्तियों में उलझी हुई काफ़ी दूर तक बहली के पीछे घसितती आईं। इस दुर्घटना का उनके स्वस्थ शरीर पर यद्यपि प्रकट रूप में कोई दुष्परिणाम दिखाई नहीं दिया तथापि उनकी शक्ति कुछ अंशों में क्षीण पड़ गई।

अंतिम दिनों में माता जी का चित्त बड़ा उद्विग्न रहता था। बहुओं की जीवन-प्रणाली उनकी पसंद की नहीं थी। इसी कारण उनके स्वाभाविक मिठास में कुछ अंतर पड़ गया था। मेरे भविष्य के संबंध में माता जी हमेशा चिन्तित रहा करती थीं। मृत्यु से एक दो दिन

पूर्व उन्होंने यही चिन्ता प्रकट की थी। अपनी मृत्यु के पश्चात् मातृ-पितृ विहीन बालक के रूप में मेरी कलना करके चितित होना ऐसी प्रेममयी माता के लिये सर्वथा उचित ही था। उनकी अंतिम सन्तान होने के कारण मेरे प्रति उनका विशेष मोह था। एक बार गांव से दो कोस पर डावर (जंगल में जलमयी भूमि) में एक साधु के पास मुझे ले गईं। मुझे इतनी याद है कि साधु ने मेरे हाथ की रेखाओं को देख कर और यह कह कर कि इस बच्चे के भाग्य में विद्या बिल्कुल नहीं लिखी, माता जी की चिन्ता को और बड़ा दिया था।

माता जी सुशिक्षिता तो क्या, साक्षर भी

दिनोद]

प्रार्थना ❀

श्री 'वचन'

तुम अनजाने दूर देश में
फिर भी तुमको रही पुकार,
नभ-मंडल भी ता चलता है
तारक-दल का ले आधार।

दैत्य कंदरा में बैठा है
तजकर न्याय-दया का नीति,
खड्ग हस्त है उठे न मेरे
कठों से विद्रोही गीत।

दूर देश के प्रियतम सुन लो
मेरे अंतर का उछवास,
तुम्हें विदित मेरा दुःख जिसमें
मेरा हो अंतिम विश्वास।

नहीं थीं। हमारे समाज के स्त्री-वर्ग में अजीब-सी धारणा पाई जाती थी कि पढ़ी-लिखी स्त्री जल्दी विधवा हो जाती हैं। लेकिन अपने होने पर भी माता जी हमारी अनेकों आधुनिक शिक्षित बहिनों से कहीं अधिक सुसंस्कृत, बुद्धमती और सेवा-पारायण थीं। अपनी जीवन-ज्योति से प्रकाश फैलाने वाले व्यक्तियों का समाज और राष्ट्र के निर्माण में बड़ा महत्व होता है। इसमें सन्देह नहीं कि माता जी ने अपने सीमित क्षेत्र में नारीत्व के गौरव की वृद्धि की। मेरे हृदय में 'मातृ-जाति' के प्रति आज जो श्रद्धा और सम्मान है, उसका श्रेय माता जी को ही है।

ओ अनजाने करो शीघ्र ही
मेरी ओर कृपा की कोर,
मेरे दिन पर शासन करता
द नव अत्याचारी घोर।

मेरा शीश झुकाए रहते
निशिदिन उसके ताड़क त्रास,
जिसमें मुझको याद न आए
गए दिनों का गर्वित हास।

❀ रुसी कव्यायित्री अन्ता आखमटोवा का १८२१ में लिखित कविता का रूपांतर।

माता भूमि:

श्री वासुदेव शरण अमवाल

जन्मदीय भावना का मुख्य उद्देश्य अपने पैरों के नीचे की धरती से नाता जोड़ना है। हमारे जीवन के अकुर पहले धरती में पनरते हैं, पीछे आकाश में फैलते हैं। भूमि के साथ जन का गाढ़ा सम्बन्ध जब तक जुड़ा रहता है तभी तक संस्कृति के नये नये लहलहाते पौधे फूटते हैं। भूमि से सम्बन्ध विच्छिन्न हुआ नहीं कि जन के मानस की भूमि ऊपर की तरह बाँझ हो जाती है। जाति का जीवन नव-निर्माण या नई-नई सृष्टि की भावना के साथ अमर रहता है। उत्पादन, सृष्टि या जन्म से संबंधित सकल पुण्य भावों की अधिष्ठात्री एक मात्र भूमि ही है। भूमि को ही सब प्राचीन संस्कृतियों में 'मही माता' कहा गया है। भूमि की उत्पादन-शक्ति अखंड और अक्षय्य है। इसी सनातन गुण के कारण भूमि की संज्ञा अदिति है। आर वेदों में भूमि को जो 'अदिति मातरं महीम्' कह कर प्रणम किया गया है, उस भाव में सांस्कृतिक निर्माण का भारी रहस्य छिपा है। युग युग में निर्माण के भाव को लेकर जीवित रहने वाली जातीय संस्कृति के लिए 'नमो मात्रे पृथिव्यै, नमो मात्रे पृथिव्यै' से बढ़ कर मूल मन्त्र और क्या हो सकता था? जिस व्यक्ति के हृदय में पृथिवी को प्रणाम करने का भाव सब प्रकार के नवीन धक्कों को सहते हुए भी अटूट बना रहता है, उसी का मानस उपजाऊ है। उस उपजाऊ मनो-भूमि में संस्कृति के नव-निर्माण के अकुर अवश्य पनप सकते हैं।

जान पड़ता है, इस यंत्र युग ने अपने लिए अस्तित्वता की भी एक नई परिभाषा गढ़ ली है और वह परिभाषा आज एशिया और यूरोप के दोनों भू-खण्डों में मानव का कल्याण करने के

लिए जिस दुर्वर्त भाव को लेकर उद्घोषित हो रही है, वह यह है :—

'माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः।'

'भूमि माता है, मैं उसका पुत्र हूँ', इस भाव की दृढ़ प्रतीति के कारण मनुष्य निज देश और संस्कृति के लिये सर्वस्व त्याग देने पर उतारूँ दिखाई पड़ता है। प्राचीन परिभाषा में जिस 'सर्वस्वदक्षिणयज्ञ' की बात सुनने में आती है, सर्व-सम्पत्ति में मातृभूमि ही आज उस ऊँचे यज्ञ की उद्दिष्ट देवता मान ली गई है। भूमि हमारी माता है, इस अलख का एक दूसरा सुनहला पक्ष भी है। नव-युग के मानव को उसकी और अधिक आवश्यकता है। 'भूमि माता है, हम उसके पुत्र हैं' इसी कारण तो हम सब अमेय बन्धुत्व के भाव से बंधे हैं। सब मनुष्य भाई-भाई हैं, इस महान् सत्य का प्रत्यक्ष कारण 'सब एक ईश्वर की सन्तान हैं', इसकी अपेक्षा सब मातृभूमि के समान पुत्र हैं, इस विश्वास में और भी सरलता से छिगा हुआ है। विश्व की रचना में सब पुत्रों की, जन्ती पुष्प-पृथक है, परन्तु विश्वव्यापी मातृत्व सब में एक समान है। प्रकृति की दृष्टि से यह अखण्ड मातृत्व भाव ही सब को एक सूत्र में पिरोए हुये है। माता के प्रति अद्विजल विश्व के मातृत्व मात्र के प्रति पुत्र का सनातन प्रणाम भाव है। यही अवस्था निज मातृभूमि और विश्व की अखण्ड भूमि के सम्बन्ध की है। निज भूमि को जो सच्चे अर्थों में माता स्वीकार कर लेता है वह दूसरी भूमि के लिए द्रोह-बुद्धि को अपने हृदय में स्थान दे ही नहीं सकता। भूमि मात्र के प्रति आदर का भाव विश्वबन्धुत्व की सबसे खरी और सच्ची कसौटी है।

दीनबन्धु के चरण चिन्हों पर कुमारी मार्जरी साइक्स का संक्षिप्त परिचय

एक भारतीय मित्र

“यह कौन अंग्रेजी महिला हैं, जिनका लम्बा कद, अजीब सादगी और चिट्ठी-पत्री का बड़ा-सा पुलिन्दा जगल में दबाए व्यस्त पावों से डाक घर की तरफ बढ़ना मुझे बरबस दीनबन्धु एन्ड्रूज की याद दिलाए दे रहे हैं।”

मानव महिमा के उदात्त गायक खन्धनाथ ठाकुर के शांति-निकेतन में एक दिन किसी अतिथि ने अपने पथ-प्रदर्शक मित्र से अनायास ही उक्त प्रश्न पूछ लिया था। जिन महिला की ओर संकेत था, उनका नाम मिस मार्जरी साइक्स है। शांति-निकेतन के दीनबन्धु-भवन की वे परिचालिका हैं। इस विभाग का उद्देश्य श्रद्धा और लगन के साथ ईसाई संस्कृति का गहरा अध्ययन करना और उसके सर्वोत्तम अंश को भारतीय अध्येताओं के निकट सुबोध बनाना है, जिससे पूर्व और पश्चिम के बीच की विपुलाकार खाई कुछ कम हो सके। अंग्रेजी में दीनबन्धु के नाम के प्रथम तीन वर्णों को लेकर कौतुकवश उनका एक दूसरा अर्थ लगाना मुझे आता है। श्री. एफ. ए. से मैं सोचा करता हूँ, “क्राइस्टस् फेथफुल एपासल्” अर्थात् प्रभु यीशु के सच्चे अनुगामी। बहिन मार्जरी साइक्स को देख कर दीनबन्धु की याद आना कुछ अजब नहीं। केवल कद की लम्बाई, कामकाज की क्षिप्रता, विविधता और सजीवता में ही नहीं, सदी वेशभूषा, अध्यात्म के प्रति सहज अनुगम और साधारण कहलाने-वाली असाधारण जनता के प्रति अपने सहज प्रेम के द्वारा भी वे अनायास ही गरीबों के साथी एन्ड्रूज का स्मरण दिलाती हैं।

मिस साइक्स एक क्वेकर महिला हैं और इस तनिक से परिचय में ही शायद उनका बहुत-सा परिचय छिपा हुआ है। मित्रों की इस मंडली ‘सोसायटी आफ फ्रैन्ड्स’ का सदस्य बनना उन ईसा मसीह के सेवक बनना है, जो स्वयं सबके सेवक थे, जो व्यापक और शाश्वत ईसा मसीह है। इस मण्डली का उद्देश्य प्रभु यीशु के सन्देश

को व्यवहार में उतारना है। ईसाइयत के उन कट्टर धर्म प्रचारकों से यह समाज बिल्कुल ही विपरीत है, जो अभी हाल तक भी जीजस काइस के सन्देश को जुलियस सीजर का व्यवसाय बनाया करते थे।

मार्जरी साइक्स आज से लगभग बीस वर्ष पहले इस देश में आई थीं। इस लम्बों अवधि में काम की दृष्टि से उन्होंने प्रधानतया शिक्षादान का काम किया है, स्कूलों में भी और कालेजों में भी, उत्तर-भारत में भी और दक्षिण-भारत में भी। दक्षिण ने उनके जीवन क्रम को कई तरफ से प्रभावित किया है। दक्षिण भारतीय भोजन से शुरू करके वहाँ की दृढ़ धार्मिकता तक सभी उनके जीवन की निजस्व मौलिकता में समा गई हैं। दक्षिण में काम करते हुए उन्होंने वहाँ की भाषा भी खूब अच्छी तरह सीख ली है और आतामिलनाड के निवासी के समान ही वे तामिल बोला करती हैं। भाषा सीख कर वहाँ के निवासियों के साथ और भी एक हुआ जा सका है, यही मिस साइक्स का गहरा विश्वास है।

केवल दक्षिण में ही नहीं कुछ वर्ष पहले शांति-निकेतन में भी आते हैं। उन्होंने चट्टांगला सीख डाली थी और आज तो वे पुस्तकों की रचनाओं को मूल से अंग्रेजी में अनुवाद करने वालों में अग्रणी हैं।

एक काम उन्हें बहुत प्यारा है, जिसे वे उत्तम और दक्षिण दोनों जगह समान भाव से कर आ रही हैं। गाँवों में रहने वाली जनता के जीवन के साथ गहरी आत्मीयता बनाए रखने के जीवन संप्राम में निःस्व होकर जूझने वाली धरती माता की सन्तानों को प्रेरणा देना, उन

मुख-दुःख के भागीदार बनना। जब वे मदरास में थी, वहाँ के निम्न कहलाने वाले सामाजिक स्तर के शिशु समुदाय को लेकर एक नर्सरी स्कूल चलाया करती थीं। स्कूल आज भी चल रहा है और दूर रह कर भी वे उसकी परिचालना में हाथ बटाया करती हैं। स्कूल के बच्चों के साथ उनका नियमित पत्र-व्यवहार रहता है।

उम्र के लिहाज से मार्जरी साइक्स चालीस के उस पार पहुँच चुकी हैं, लेकिन काम-काज और पढ़ने-लिखने की उनकी क्षमता शायद उनसे आधी उम्र वालों को भी आज लज्जा सकती है। ब्रिटिश-रानी का दैनिक बोझ, साहित्यिक सृष्टि, अनुवाद, संशोधन, रिलीफ का काम, शांति-निकेतन आने वाले विदेशी अतिथि अभ्यागतों की देख-भाल, गाँव के बाशिन्दों के साथ मेल-जोल आदि नानाविध कामों से शुरू करक अपने निजी जीवन के छूटे-बड़े सभी कामों को अपने ही हाथों सम्भल करते हुए मिस साइक्स अनायास ही हमें चकित कर देती हैं। उनका विश्वास है कि मनुष्य रविवार के लिए नहीं बनाया गया, बल्कि रविवार ही मनुष्य के उपयोग के लिए है। फलस्वरूप छुट्टी उन्हें शायद ही कभी रहती हो, लेकिन काम-काज के इस बीहड़ वन में भी वे अपनी दृष्टि अन्तर की ओर ही केन्द्रित रखती हैं। दीनबन्धु एन्ड्रूज की तरह वे भी अनुभव करती हैं कि आत्मा के लन्द में बँधे न रहने से रोज-मर्रा के सभी कामकाज बेसुरे हो जाया करते हैं। इसलिये काम के ताल के साथ एकांत की लय मिलाए रखना वे ज़रूरी समझती हैं।

दीनबन्धु ही की तरह दो और भी चीजों से उनका वैराग्य है—बैंक का संचय और परिधानों से भरी हुई अलमारी। वाईविल की भाषा में, परमधाम में रहने वाले हमारे पिता के हृदय में हम बच्चों के लिए गहरी ममता है। जो इसमें विश्वास करता है वह कभी संचय करके पिता के आगे अविश्वासी नहीं बनेगा। हम अपना कामकाज उन्हीं की सेवा के रूप में करते चलें और अपनी देखरेख का दायित्व हम उन्हीं

को सौंप दें, इस सिद्धान्त को वे सदा अमल में लाने की कोशिश किया करती हैं, किन्तु एक विषय में वे दीनबन्धु से अलग भी हैं। अपनी जग-सी आमदनी और बहुत से स्वर्च को वे सुनिश्चित वज्र के द्वारा नियन्त्रित रखती हैं, जब कि चार्लो एन्ड्रूज इस विषय में बिल्कुल ही लापरवाह रहा करते थे। प्रायः ही किसी दाता ने उन्हें किसी विशेष काम के लिए कुछ अर्पित किया। लेकिन दाता महोदय के जाने के बाद ही एन्ड्रूज उस विशेष काम को मंगल के अन्याय कामों के बीच बहुत अलग करते नहीं देख पाते थे और दग्धनारायण के किसी भी स्वरूप के आगे उसे निछुवर कर बैठते थे। इस तरह जनता और जनार्दन में उनके लिए कोई प्रमेद न था, लेकिन मिस साइक्स की सावधानी और एन्ड्रूज की बे पवाही दोनों का मूल तो एक ही है, सेवा।

शांति-निकेतन में जिस दिन प्रसंगवश मिस साइक्स ने पहले-पहले पञ्जाबी लिवास पहना उस दिन किसी ने मज़ाक में ही कहा था, “वे सरहद के उस पार की रहने वाली जान पड़ती हैं।” बात तो सच है, लेकिन अपने आलांकारिक अर्थ में ही। मिस साइक्स भारतवर्ष की उत्तर-पच्छिमी सरहद के उस पार की रहने वाली नहीं है, बल्कि प्रेम और सेवा को सँकीर्ण करने वाली हर तरह की सरहद के उस पार उनका निवास है। यही कारण है कि हर श्रेणी और समुदाय में तथा हर जगह वे बिल्कुल घर ही की तरह आश्वस्त भाव से प्रवेश करती हैं। जिससे मिलती हैं, उससे सहज प्रीति के साथ ही मिलती हैं। जिससे बिछुड़ती हैं, उससे भाई-बहिन ही तरह बिछुड़ती हैं।

एन्ड्रूज के नाम के साथ कौतुक-पूर्वक जो नया अर्थ जुड़ गया है, उही अर्थ में उनका बड़ा सच्चा परिचय भी छिपा हुआ है, ‘प्रभु यीशु के सच्चे अनुगामी।’ इसी तरह कौन जानता है, मिस मार्जरी साइक्स के नाम के प्रथम दो बर्णों का अर्थ भी आने वाली गीढ़ी अपने ही दंग में करें, एम. एस. अर्थात् ‘मास्टर्स सर्वेंट’ ‘प्रभु की सेविका’ ही सच्चा परिचय छिपा हुआ है।

स्व० स्टीफन ज़िवग

(संस्मरण)

श्री सूनाररायण व्यास

आस्ट्रिया की अपनी यात्रा के समय मैंने जिन विद्वानों कलाकारों से परिचय प्राप्त किया था, उनमें श्री ज़िवग महाशय प्रमुख थे।

'बडगेस्टाइन' के पन्द्रह रोज के निवास में सहसा डॉ० ओटोगिर्की * से भेंट हो जाने पर, विभिन्न विषयों की चर्चाओं में एक रोज आस्ट्रियन साहित्य-सेवियों की बात भी चल पड़ी। मैंने वार्ता-प्रवाह में पूछा कि इस समय यहाँ किस साहित्यिक को आप प्रथम श्रेणी का समझते हैं ? डा० ओटो क्षण भर मौन रह कर बोले, "आपने 'श्रेणी' की बात कह कर थोड़ा मुझे उलझन में डाल दिया, परन्तु आप मेरी सम्मति से मि. ज़िवग से जरूर मिलिये, वे इस राष्ट्र के बहुत बड़े विद्वान लेखक हैं, उनकी कला से यूरोप ही नहीं, अमेरिका तक चमत्कृत है। आस्ट्रिया के और विद्वान यदि साहित्य-शरीर के विभिन्न अवयव हैं तो मि. स्टीफन ज़िवग मस्तक-स्थानीय सम्मान के अधिकारी हैं।"

"मि. ज़िवग के विषय में आप यह बतला देते तो उत्तम होता कि उनका प्रिय विषय कौन-सा है ?" मैंने पूछा।

डा० गिर्की गम्भीरता-पूर्वक बोले, "उनका विषय ही नहीं बतलाये देता हूँ, बल्कि उनको 'फोन' पर आपका परिचय भी दिये देता हूँ। वे मेरे अच्छे मित्र हैं और समवयस्क हैं।"

मैंने कहा, "बहुत धन्यवाद ! इस कृपा के लिए मैं आपका आभारी रहूँगा। मैं तो मन-ही-

* डा० गिर्की आस्ट्रिया के बहुत बड़े डाक्टर और विद्वान साहित्यिक माने जाते हैं। उस प्रदेश में उनकी बड़ी ख्याति है। उनके पास देश-विदेश से राजा-रईस इलाज के लिये आते रहते हैं।

मन-संकोच करने लग गया था कि उनसे किस प्रकार परिचय किया जा सकेगा।"

"धन्यवाद की तो कोई बात नहीं।" डा० गिर्की ने कहा, "आपसे प्राचीन भारतीय साहित्य की बहुत सी रसमय बातें अवगत हुई हैं। मि. ज़िवग तो आपसे मिल कर सुग्ध हो जाएँगे। ऐसे सरल और आकर्षक व्यक्ति हैं कि एक बार मिलने पर मोहित कर छोड़ते हैं। वे चतुर्मुख प्रतिभा वाले व्यक्ति हैं। श्रेष्ठ नाटककार हैं। इस कला में उनकी सर्व प्रियता एक स्वर से मान्य हो चुकी है, किन्तु इससे भी अधिक वे 'जीवन-वृत्त' लिखने में एक मात्र निष्णात हैं। ऐसी रसमय लेखनी बहुत कम यूरोपीय लेखकों की होगी। फ्रांस की इतिहास विश्रुत समझी मेरी एन्टोईनेटी की जीवनी लिख कर उन्होंने इतिहास के उस काल का प्रत्यक्ष चित्र अङ्कित कर दिया है। इस कृति ने सारे यूरोप में उनकी प्रतिभा से शिक्षित समूह को कायल कर दिया है। इस प्रकार क्वीन ऑफ स्कॉट्स, रोम्यारोलॉ—आदि की जीवनी भी इतनी सुन्दरता से लिखी गई हैं कि लेखक की 'कला' उज्ज्वल किरणों की तरह सर्वत्र प्रकाशित हो गई है। मि. ज़िवग जीवनी लेखक और नाटककार ही नहीं आस्ट्रियन समाज जीवन के उत्कृष्ट कथाकार भी हैं। उनके कई उन्मत्त और गर्लें उनकी प्रतिभा और कीर्ति के अनुराग लोक-प्रिय हुई हैं। इसके अतिरिक्त वे प्रौढ़ विचारक, दार्शनिक और सफल विवेचक (आलोचक) भी हैं। पुरातत्त्व और भारतीय संस्कृति भी उनके अनुराग का विषय है। मैंने बतलाया न कि मि. ज़िवग की प्रतिभा गम्भीर-से गम्भीर विषय और ललित-साहित्य पर समान है। इस पर भी वे गर्व रहित सीधे-सादे सहृदय मानव की भेद्यता है।"

मैंने कहा, “डाक्टर साहब ! आप ऐसे पुरुष से अवश्य परिचय करवाइये, मेरी यह यात्रा इन साहित्य-तीर्थों के दर्शन से सफल हो जायगी।”

हमारी यह बात खतम हुई कि डा. गिर्की ने फोन की घण्टी खट-खटा दी। अबे मिनट के बाद ही परस्पर बातें शुरू हो गईं। बात-चीत आस्ट्रियन भाषा में थी। मैं तो कुछ भी समझ न सका, परन्तु भावों के उतार-चढ़ाव, आँखों की गति और मुँह पर चर-चर हँसी देख कर दो मित्रों की बातों की कुछ-कुछ कल्पना करता रहा। तीन-चार मिनट की बात खतम कर डा. गिर्की ने मुझे बतलाया कि शाम को चाय के लिए मैं और वह दोनों निमन्त्रित हैं। बोले, “आपकी स्वीकृति के बिना ही मैंने धृष्टता-पूर्वक अपनी और आपकी संयुक्त मंजूरी दे दी है। आपको असुविधा तो न होगी न ? भलेमानस कह रहे थे कि शाम को हम दोनों भोजन उनके साथ ही करें। उनकी श्रीमती कुछ खास चीजें तैयार करेंगी। तब अपने देखा होगा कि मैं हँस पड़ा था। मैंने उनसे कहा कि मित्र ! यह मीठी बात मैं पसन्द कर लेता, लेकिन मेरे साथी धार्मिक वृत्ति के—शाकाहारी हैं।”

मैंने शाम को मिलने का वादा कर डा. गिर्की से बिदा ली और अपने होटल में आकर पलंग पर लेट गया। मन में अनेक प्रकार के विचार उठने लगे—किन् प्रकार मि. ज्विग मिलेंगे, कैसे होंगे। मेरे सामने भाषा की भी एक समस्या थी—विचारों के आदान-प्रदान में एक सर्वथा नवीन आस्ट्रियन भाषा का सामना था। ऐसी अनेक चिन्ताएँ, संकोच, मिलनानन्दोत्साह की कल्पना करते-करते मेरी आँख लग गई।

जगने पर घड़ी में देखा तो आध घण्टे का समय बाकी था। तुरन्त मैंने अपनी तैयारी शुरू की। कपड़े पहिने और चाय बुलवा कर डाक्टर गिर्की के निकट जाने के लिये ‘मित्र’ के साथ हो लिया।

डा. गिर्की मेरी प्रतीक्षा कर रहे थे। तुरन्त अपनी कार मँगा कर हम लोग मि. ज्विग के मकान की ओर चल पड़े।

एक बड़े कलाकार के समक्ष जाते हुए मेरा दिल अन्दर-ही-अन्दर न जाने कैसा हो रहा था कि इतने में हमारी कार एक छोटे-से, किन्तु मनोहर उद्यन-द्वार के सामने आकर रुकी। हॉर्न सुनते ही नौकर ने दरवाजा खोला और उस उद्यन के अन्दर के द्वार पर एक महिला, जो प्रीक्षा में ही खड़ी मालूम होती थी, “हलो-डाक्टर !” कह कर हँसती हुई आगे बढ़ी और डा. गिर्की ने मेरा परिचय देते हुए बतलाया कि यही मेरे मित्र सुदूर के भारतवासी हैं। श्रीमती मिना ने को हाथ बढ़ाना ही चाइती थी कि मैंने दोनों हाथ जोड़ कर नम्रता प्रदर्शित की—और डाक्टर ने साथ ही परिचय दे दिया कि यही भिसेज ज्विग हैं। श्रीमती ज्विग ने भी मेरी नकल करते हुए हाथ जोड़ दिये, पर नकल ठीक-ठीक न होने के संदेह पर वे लजा गईं और डाक्टर से कहने लगीं, “मुझे इस हाथों के जोड़ देने की ‘स्टाइल’ में अजीब नम्रता की भावना मालूम हुई। मुझे तो यह पसन्द है। अब से डाक्टर ! मैं यही व्यवहार आरंभ करूँगी।”

मेरी दृष्टि उस द्वार पर खड़े हुए एक पुरुष की तरफ आकर्षित हो रही थी। मैं असमंजस में था कि क्या मि. ज्विग यही हैं, या अन्दर किसी कमरे हैं ? परन्तु लता-कुञ्ज के झुगमुट से द्वार के सम्मुख होते ही वे ही सज्जन साढ़ियाँ उतरे, डाक्टर ने सामने आते ही परस्पर परिचय करा दिया। हम लोग सामने वाले कमरे में पहुँचे और कुर्सी पर बैठ गये।

मि. ज्विग एक प्रौढ़ वयस्क-पचास और साठ की अवस्था वाले व्यक्ति दिखाई दिये। साधारण मझोला-सा कद, गोल चेहरा, प्रतिभा का परिचायक भव्य ललाट और भौंहें तथा तेजस्वी-नेत्र, गहरी-भरी हुई मूँछें, सरलता और सात्विकता का प्रतीक उनका चेहरा, कोमल मधुर भाषण शैली, सादा वेष, एकांत-सुन्द तथा खुले दिल से खिलखिला कर हँस देने वाला आकर्षक व्यक्तित्व, मि. ज्विग का था।

हाँ, मैं यह बताना भूल ही गया कि जब मैंने मि. ज्विग से हाथ मिलाया तो उनकी श्रीमती

ने टोकते हुए डाक्टर गिर्की से कहा, “वही भारतीय स्टाइल का व्यवहार मुझे तो अधिक प्रिय लगता है। ‘शेकहेड’ नहीं।” डाक्टर गिर्की की ओर मुखातिब हो मि. ज्विग ने पूछा, “क्या मामला है?” गिर्की ने उन्हें सारा किस्सा समझाया। मि. ज्विग थोड़े मुस्करा दिये और श्रीमती ने ‘हाथ-जोड़ कर’ फिर वही नक़ल कर दी।

अब वे मेरी ओर मुड़े। बीच-बीच में मुझे वे मुस्कराहट के साथ देखते भी जाते थे, जैसे बोलने में सकुचा रहे हों ?

आखिर मौन भंग कर बोले, “आपके विषय में मेरे इन घनिष्ठ मित्र ने बहुत-कुछ फ़ोन पर बतलाया। मैं भी मिलने को उत्सुक हो गया। यदि आपसे ये भेंट न कराते तो मैं इनके स्वार्थ-पन पर इनसे झगड़ता !”

मैंने कृतज्ञता व्यक्त करते हुए कहा, “डाक्टर गिर्की आपके परम-स्नेही हैं। इनका तो मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ कि आपके दर्शन का सौभाग्य इन्हीं की कृपा से मुझे प्राप्त हुआ। साहित्य-देवता के द्वार पर पहुँच कर और उसकी पवन प्रतिमा के समुख उपस्थित हो, कितना सुख-समाधान अनुभव कर रहा हूँ, यह भाषा से व्यक्त करने में असमर्थ हूँ और फिर आस्ट्रियन भाषा में आपसे अपने मनोभाव व्यक्त न कर सकने की असमर्थता पर तो और भी संकुचित हुआ जा रहा हूँ।”

मि. ज्विग बालमुलभ-सरलता के साथ बोले कि—“मैं पूर्व के विद्वान की मित्रता का गर्व अनुभव कर रहा हूँ, और मेरे मित्र ! मैं संकोच में दब रहा हूँ।

“पर”—मैंने नम्रता से कहा, “आप विद्या-सयोवृद्ध हैं। मैं तो अभी आपके सामने बालक हूँ। मित्रता का सौभाग्य मेरा कहाँ ? मैं तो जिस प्रदेश की यात्रा कर रहा हूँ, वहाँ के देवों के दर्शन से अपना पुण्य लेने चला आया हूँ। मेरे देवता मन्दिरों के अतिरिक्त उन कलाकारों में रहते हैं, जो साहित्य-सर्जक होने के कारण सृष्टि-कर्त्ता की समता रखते हैं। रही संकोच वाली

बात, तो इसमें हम लोग समान स्थिति में हैं। मेरा अवलम्बन तो ये मेरे साथी हैं, वैसे मैं इस आरकी भाषा में संस्कृत की बहुत-कुछ समता का भास पा रहा हूँ। जितने शब्दों को मैंने जाना-पूना है, वे संस्कृत-‘तद्भव’ हैं, ऐसा लगता है। कहीं मैं छः मास रह जाऊँ तो इस भाषा का समझना और दृढ़-पूढ़ा प्रयोग करना सीख लूँ।”

श्रीमती स्मित मुद्रा के साथ चाय लेकर आई। मैंने उनके इस श्रम और कृपा के लिए धन्यवाद दिया और वही सँज हाथ जोड़ दिए। प्रत्युत्तर में वे भी हाथ जोड़ कर बोलीं, “अब तो मैं सीख गई।” इस पर सभी हँस पड़े !

चाय लेते हुए मि. ज्विग ने कहा, “संस्कृत सीखने की मेरी भी बहुत आकांक्षा रही है। पर अब कल मैं ऐसी जगह हूँ जहाँ मेरी यह कामना पूरी नहीं हो सकती। आठ-छः मास मेरा आतिथ्य स्वाकार करें। आप मेरी भाषा सीखिये और मैं संस्कृत सीखूँ ! पर मैं समझता हूँ कि मैं इतना भाग्य-शाली नहीं हूँ। हाँ अपने कौन-कौन शब्दों को भारतीय संस्कृत भाषा के समान पाया ?”

मैंने कहा, “मेरा अशोभाग्य होता यदि इन विद्वत् समागम का सुयोग पाता !” फिर मैंने आस्ट्रियन भाषा के ‘द्वे’-‘त्रय’ आदि दस-बारह शब्दों को बतलाया कि ये शब्द तो ऐसे हैं जिनकी ‘मात्रा’ के इधर-उधर कर देने से संस्कृत के बन जाँगे। मि. ज्विग भाषा का इतना अधिक सम्म जानकर विस्मित हुए। ज्विग ने फिर कहा, “पर यह तो बतलाइए कि अपने हमारे इस ‘आस्ट्रिया’ को देख कर क्या सम्मति बनाई है।”

इस प्रश्न पर मैं एक क्षण उत्तर में पड़ा गया। परन्तु तुम्हें ही समझते हुए कहा, “आस्ट्रिया जैसे प्रदेश को मैंने अभी देखा ही क्या है ? दूसरे भाषा से भी अनभिज्ञ हूँ। किन्तु जो मैंने अपनी विहंगम दृष्टि से देखा—समझा है मुझे यहाँ के जीवन में जो सरलता, आतिथ्य-प्रियता, विनम्रता, ग़नीबी कृषि-जीवन, ज्ञान और शील के दर्शन हुए हैं, उनसे मैंने भी इस प्रदेश में भारत की अधिकांश में समता पाई है।” मैंने

मैंने अपने विभिन्न स्थानों की रहन-सहन, व्यवहार आदि के अनुभव तथा ग्रामीण प्रवास को जानकारी की बातें बतलाईं तो उन्होंने प्रशंसा में जो शब्द कहे, उन्हें मैं यहाँ उद्धृत नहीं कर सकता।

लगभग एक घण्टे तक और भी भारत संबंधी विभिन्न बातें हुईं। कालिदास के विषय में मैंने उनका बहुत अनुगम देखा। उन्होंने 'शाकुन्तल' का अनुवाद पढ़ा था। बड़ी प्रशंसा की। जब उन्हें यह मालूम हुआ कि मैं उसी जगह का रहने वाला हूँ, जहाँ इस विश्वाग्रथ महाकवि की प्रतिभा का विकास हुआ था तो उन्होंने बहुत हर्ष व्यक्त किया। डाक्टर गिर्की जो अब तक चुप थे, कहने लगे, "आपने मुझे तो यह बतलाया ही नहीं था?" म. जिवग ने अपनी पत्नी को कालिदास की महत्ता पर अपनी भाषा में कुछ बतलाया और शायद यह भी बतलाया कि मैं वहीं का हूँ। वह मैंने तब समझा, जब वह फिर बिना कारण ही मेरी नकल में 'हाथ जोड़' बैठी। पर ज्योंही उनके हाथ जुड़े, सभा हँस पड़े! म. जिवग ने कालिदास पर और उनकी रचना पर और भी चर्चा की। मैं तो हजारों कोस दूरी पर अपने इस महाकवि की भूमि के निवासी होने के कारण एक विदेशी विद्वान् की निगाह में आदृत होकर मन-ही-मन म-संकोच आत्मानन्द-विभोर हो रहा था। मेरे मालव की इस महान् आत्मा ने जगद्भ्रज ही तो किया है! मैंने उन्हें साहित्यिक और ऐतिहासिक दृष्टि से जो भी बतलाया, वे मेरी ओर एक-एक अतृप्त लालसा से देखते रह गये। इसके बाद म. जिवग अपनी एक पुस्तक 'पाण्डु-लिपि' उठा लाए और कहने लगे, "मैंने 'शाकुन्तल' से ही प्रेरित होकर यह नया नाटक लिखा था। विषय-चर्चा भिन्न है, परन्तु मैंने जब 'शाकुन्तल' पूरा किया तब नाटक लिखने की पुनः प्रेरणा जाग्रत हुई। इसलिये मैं इसका श्रेय 'शाकुन्तल' को दे रहा हूँ।"

उस 'नाटक' का विषय और कथानक उन्होंने मुझे समझाया। नाटक का नाम 'जेरे-भिया' था। बाद में (सम्भवतः सन् ३८ या ३९ में)

यह नाटक न्यूयार्क में सफलता-पूर्वक खेला गया था और उसकी बहुत ही प्रशंसा हुई थी।

विविध रस-विभोर की चर्चा और भी बहुत होती रही। बातों में वे दाने लग्न हो गए थे कि समय का हम सभी को भान नहीं रहा। अन्त में मैंने उनसे बहुत समय लेने के लिए सविनय क्षमा माँग कर आज्ञा चाही।

वे उठ खड़े हुए। उनकी पत्नी और स्वयं मि. जिवग दोनों ही ने आग्रह किया कि जब तक आर आरिष्टा के इस नगर में रहे, दोपहर की चाय के लिए हम लोगों को म-अवसर दें, वनां हम लोग ही वहाँ चले आएँगे!

मैंने रोज न आ सकने की अपनी कठिनाई प्रकट करने हुए विनम्र-पूर्वक क्षमा चाही और अवसर मिलते ही सेवा में उपस्थित होने का वादा किया। दरवाजे तक वे विनम्र दम्पति हम लोगों को स्नेह-पूर्वक पहुँचाने आये। श्रीमती तो नमस्कार करना सीख ही गई थी। वे हम दोनों को भारतीय नमस्कार ही से विदा कर रही थीं और पुनरागमन का आग्रह भी। डाक्टर गिर्की से तो उन्होंने वायदा लिया कि वे मुझे फिर मिलाएँगे।

इस के बाद मैं एक बार और मि. जिवग से मिला। इस मुलाकात में उस रोज जैसा संकोच नहीं था। भारतीय नाट्य शास्त्र, कथा-सहित्य और पुगaten सभ्यता के विषय में कोई दोटाई घण्टे तक बतें होती रहीं। डाक्टर ओटो आज भी हम लोगों के साथी थे।

मैं आज की समय चर्चा से उनकी विज्ञावा-वृत्ति, सरलता और ज्ञान-गांभीर्य के साथ हृदय की मृदुता से बहुत प्रभावित हुआ। उन्होंने अपनी रचनाओं की कुछ प्रतियाँ मुझे स्नेह स्मृति-पूर्वक भेंट कीं। मेरे बार-बार रोकने और संकोच जाहिर करने पर भी फल तैयार कर मेरी तरतरी में देने का क्रम उन्होंने जारी रखा। जब चर्चने की बारी आई और मैंने उन्हें यह बतलाया कि अब परसों मैं यहाँ से इटली के लिए प्रस्थान करने वाला हूँ और आपकी मधुर-मिठन स्मृति के इन महान् क्षणों को जीवन की निधि समझ

कर हृदय में सादर स्मरण करूँगा तो मैंने देखा वह महान् साहित्य-सृष्टा गद्-गद् हो मुझे आत्मय स्नेह-पाश में कस लेना चाहता था, छोड़ने को तैयार न था।

एक पारिवारिक स्नेह स्थापित कर क्षणिक भेंटों में ही मुझे उन्होंने अपना लिया था। बहुत ही दुःख के साथ मैंने उनसे बिदा ली, परन्तु किसे पता था कि यही बिदा अन्तिम होगी !

उनकी तथा उनकी धर्मवर्ती की आत्महत्या को वृत्तान्त पाठक 'मधुकर' में पढ़ ही चुके हैं।

मि. स्टीफन जिवग आज इस लोक में नहीं हैं, परन्तु उनका जीवित साहित्य समस्त आस्ट्रिया को और स्वार्थीनता के उपासकों को निःसन्देह अनु-

प्राणित करता रहेगा। पश्चिम का यह तनका विद्वान् केवल जनार्जन तक ही दार्शनिक नहीं था किन्तु अपने देश के साथ उसका कितना आत्मनैक था कि अपने देश की पगचीनता को अग्रानों निपीड़ा मान कर वह प्राणोत्सर्ग के लिए विवश हो गया ! मि. जिवग की महायात्रा के वृत्त में रोमांचित हो उठा, एक बार सारा आस्ट्रिया और वह मिलन-माधुरी का चित्र स्मृति पर घुप गया। मुझे हर्ष है कि ऐसे सच्चे कलाकार के दर्शन और स्नेह का सौभाग्य मैं पा सका। हार्दिक श्रद्धा के साथ आज उस महान् दम्पति की पावन स्मृति में भाव-भरित सुमनांजलि समर्पित कर रहा हूँ।

उज्जैन]

हमारा पुस्तकालय

हिमालय—

मासिक साहित्य, प्रथम पुस्तक, सम्पादक श्रीयुत शिवपूजन सहाय और श्रीयुत रामवृत्त वेनीपु। प्रकाशक पुस्तक-भण्डार, हिमालय प्रेस, पटना। मूल्य १) वार्षिक मूल्य १०)।

हिमालय का हम हार्दिक अभिनन्दन करते हैं। हिन्दी-जगत् श्री शिवपूजन जी तथा वेनीपु जी जैसे कुशल लेखकों से जैसे सुसम्पादित पत्र की आशा कर सकता है, हिमालय उसके सर्वथा अनुरूप है।

अङ्क का प्रारम्भ देश रत्न डाक्टर राजेन्द्र प्रसाद जी की आत्म-कथा से होता है। इस लेख में श्रद्धेय बाबू जी के सरल व्यक्तित्व का प्रति-विम्ब है। लेख शैली में दिखावट का नामो-निशान नहीं, आडम्बर के घटाटोप से वह कोसों दूर है और जो कुछ कहा गया है, विलकुल सीधे-सादे ढंग पर। महात्मा गांधी जी को छोड़ कर यदि भारतवर्ष का कोई भी नेता भारतीयों के हृदय के निकट-से-निकट तक पहुँच सका है, जिसकी रहन-सहन बातचीत, जीवन-क्रम साधारण-जनता से इतने मिलते-जुलते हैं तो वे आदरणीय

राजेन्द्रबाबू ही हैं। उनके मित्रों में बातचीत करने में किसी को भी संकोच नहीं हो सकता। इसे पढ़ते हुए ऐसा मालूम पड़ता है कि माता श्रद्धेय बाबू जी हमसे ही बातें कर रहे हैं। इतने प्रतिभाशाली और मेधावी होते हुए भी वे अपने स्वभाव को इतना सरल कैसे बनाये रख सके हैं, यह जिज्ञासा कितने ही पाठकों के हृदय में होगी। इस आत्म कथा के प्रारम्भिक अंशों में उनकी उत्कण्ठा की पूर्ति हो जायगी; पर अगले अध्यायों को पढ़ने के लिए हम सब अत्यन्त उत्सुक हैं। गंगाजी की तरह निर्मल इस आत्म-कथा का उद्गम 'हिमालय' में ही होना चाहिये था। पर उसे घर घर पहुँचाने के लिए शीघ्र ही उसके सस्ते-से-सस्ते मूल्य पर पुस्तकाकार छपना अत्यन्त आवश्यक है।

द्वितीय लेख आचार्य श्री नरेन्द्रदेव जी का 'व्यक्ति और समष्टि' लेख बहुत विद्वत्पूर्ण और उसके समझने के लिए पाठक में काफ़ी योग्यता होनी चाहिये। हम यह मानते हैं कि किसी भी पत्रिका के सारे लेख साधारण पाठक

शेष टायटिल २ पर

गीता-मन्दिर और 'कर्मयोग'

यदि हम से कोई पूछे कि वर्तमान युग में घोरतम पाप क्या है तो हम बिना किसी सङ्काच के यही कहेंगे कि मानव-मानव के बीच में भेद की खाई खोदना ही आज का जघन्य पाप है, फिर चाहे वह खाई अछूतपन की हो या प्रांतीयता, साम्प्रदायिकता अथवा जातीय विद्वेष की। इस मुलक में हम सबको मिल कर रहना है और हिन्दू, मुसलमान, पारसी, ईसाई, जैन, बौद्ध इन सब में पारस्परिक सद्भावना उत्पन्न करना ही हम सबका परम-धर्म है। हम तो रंग विद्वेष को भी घृणित पाप मानते हैं और किसी के चमड़े का रंग गोरा है या पीला, काला या गेहूँआ इस बात से हमें कोई सरोकार नहीं। मानव-मानव समान हैं और इसी समानता के धरातल पर हमें एक-दूसरे के साथ व्यवहार करना है। इसलिए हमारे देश की सबसे बड़ी आवश्यकता है ऐसी संस्थाओं की स्थापना करना, जो धर्म, सम्प्रदाय, जाति प्रान्त और राष्ट्र-विशेष की संकीर्ण सीमाओं से ऊपर उठ कर समग्र मानव-समाज के कल्याणार्थ उपयोग करें।

आगरे का गीता-मन्दिर एक ऐसी ही संस्था बनने जा रहा है। उसके उद्देश्यों का जिक्र करते हुए मन्दिर के उत्साही सन्त श्रीयुत महेन्द्र जी ने लिखा है :—

“वन्दी गृह में जन्म लेकर और राष्ट्रीय संस्था होते हुए भी गीता-मन्दिर कोई राजनैतिक संस्था नहीं है। उसका मुख्य उद्देश्य मानव की मानवता को ऊँचा उठाना है। समाज ऊँचा उठे—यह उद्देश्य होते हुए भी यह संस्था सामाजिक न होकर सांस्कृतिक अधिक रहेगी। मनुष्य मात्र अपने धर्म को समझे और धर्म पर आरुढ़ रहे—इस उद्देश्य से गीता-मन्दिर के द्वारा धर्म का उपदेश तो दिया जायगा, पर यह धार्मिक (साम्प्रदायिक) संस्था बन कर रूढ़िवाद का प्रचार न करेगी, न किसी धर्म विशेष के पीछे चलेगी। सभी धर्मों, मतों, पंथों में समन्वय हो, समता बढ़े और विद्वेष के भाव दूर हों—इसका प्रयत्न गीता-मन्दिर करेगा। संक्षेप में गीता-मन्दिर

‘आचारः प्रथमो धर्मः’ के सिद्धान्त पर चल कर केवल गीता का ही प्रचार न कर गीता में बताए हुये मानव धर्म का प्रचार करेगा और वह धर्म इतना ऊँचा, इतना विशाल और इतना व्यापक होगा कि उसके आगे मत-मतान्तर के बन्धन ढीले पड़ जायेंगे।”

हम की बात है कि उक्त मन्दिर ने अपने उद्देश्य के अनुरूप कार्य भी प्रारम्भ कर दिया है। आगरा नगर से सर्वा तीन मील की दूरी पर एक विशाल उद्यान में, जहाँ स्वच्छ वायु, स्वास्थ्य-प्रद जल और मुक्त-आकाश मुफ्त में हा मिलता है और जहाँ बुद्धि-जीवियों के लिये अन्य सुविधाओं की, पुस्तकालय इत्यादि की भी आयोजना की जा रही है, गीता-मन्दिर का प्रधान कार्यालय खुल गया है।

पर जहाँ तक हम समझते हैं गीता मन्दिर केवल बुद्धि-जीवियों का ही आश्रय-स्थल नहीं बनना चाहता। वह बुद्धि और श्रम में—बुद्धि-जीवियों और श्रम-जीवियों के कार्य में—समन्वय उत्पन्न करना चाहता है। संक्षेप में यों कहिए कि जिस प्रकार कबीन्द्र श्री स्वर्णनाथ ठाकुर के शान्ति-निकेतन (महाविद्यालय) और श्री निकेतन (ग्राम-संगठन सम्बन्धी संस्था) एक-दूसरे के पूरक हैं, उसी प्रकार छोटो स्कूल पर ही सही गीता-मन्दिर भी ज्ञान और कर्म को साथ-साथ लेकर चलना चाहता है। वह अपने उद्देश्य में कहाँ तक सफल होगा और इस पथ को घट-वृद्ध का रूप धारण करने में कितने वर्ष लगेंगे, ये प्रश्न ऐसे हैं कि जिनका उत्तर आनन्द फानन में नहीं दिया जा सकता।

गीता-मन्दिर के पीछे आगरे के सुप्रसिद्ध उद्योगी श्रीयुत बा० श्रीचन्द्र जी दौनैरिया की साधना है और सौभाग्य से उन्हें हिन्दी-जगत् के परम तपस्वी सम्पादक श्रीयुत हरिशङ्कर जी शर्मा का सहयोग प्राप्त हो गया है। उनके अतिरिक्त संयुक्त-प्रांत के प्रसिद्ध प्रकाशक तथा नागरी-प्रचारिणी-सभा, आगरा के कर्ता-वर्ता श्रीयुत महेन्द्र जी ने उक्त संस्था के मन्त्रित्व का भार अपने ऊपर ले लिया है। यों समझ लीजिए कि

आगरे की प्रायः समस्त साहित्यिक तथा सांस्कृतिक शक्ति इस संस्था के साथ है।

यद्यपि हमारा हृदय विश्वास है कि बिना साम्यवाद के प्रबल प्रचार और व्यावहारिक कार्यक्रम के मानव-मानव में एकता का स्वप्न देखना खाम-खाली है, तथापि हम वैचित्र्य को नष्ट नहीं करना चाहते और प्रत्येक मनुष्य को उसकी बुद्धि के अनुसार प्रयोग करने देने की पूर्ण स्वाधीनता देने के पक्ष में हैं। मानव-मानव की एकता के स्वप्न को वास्तविक जगत् में चरितार्थ करने के उद्योग में समाज से और शासन से भी संपर्क अनिवार्य है और यदि गीता-मन्दिर सजीव संस्था बना रहना चाहता है तो बहुत सम्भव है कि उसे स्वदेशी सरकार से ही लड़ाई लड़नी पड़े, पर अभी प्रारम्भ में बहुत दूर तक विभिन्न विचारों के आदर्शी गीता-मन्दिर के प्लेटफार्म पर इकट्ठे होकर कार्य का संचालन कर सकते हैं।

'कर्मयोग' गीता-मन्दिर का मुख्य-ग्रन्थ है। उससे दो अङ्क अभी प्रकाशित हुए हैं, जिनमें प्रारम्भ से अन्त तक सुराज्य सामग्री है। 'कर्मयोग' के किसी लेख पर नैतिक दृष्टि से ऐतराज नहीं किया जा सकता—इस कसौटी पर वह अपने सुयोग्य सम्पादक श्री हरिशङ्कर जी की भाँति खरा कुन्दन ही दिखे होगा और सुसंस्कृत से-सुसंस्कृत कुटुम्ब में कर्मयोगी बाल-बच्चों तथा माँ-बहनों द्वारा निरन्तरकोच पढ़ा जा सकेगा है। जो कुछ लिखा गया है, ऊँचे तल से और शर्माजी का नाम ही इस बात की गारंटी है कि निरन्तरकोच की चीज उनमें छुपने ही न पायेगी।

प्रथम अङ्क में देश के और हिन्दी-जगत् के सुप्रसिद्ध लेखकों के सन्देश और लेख हैं। आचार्य श्री क्षितिमोहन सेन, सम्पादकाचार्य पं० अश्विनी प्रसाद जी बालप्रेम, श्री कन्हैयालाल नाथिकलाल मुन्शी, वैद्यकीय श्री नरदेव शास्त्री श्रीयुत गुलाबराय जी, श्रीयुत आङ्गनूदत्त जी बालीवाल, श्रीराम जी शर्मा, हजारा प्रसाद जी द्विवेदी शास्त्राचार्य इत्यादि सुप्रसिद्ध लेखकों के लेख तो हैं हा, पर साथ-ही-साथ नवयुवक लेखकों को भी उचित प्रोत्साहन दिया गया है।

कुरुक्षेत्र, (टीकनगर)

सर्वश्री शान्ति प्रसाद पाठक, दयाराङ्गर शर्मा और रामप्रसाद त्रिघाथी इत्यादि की रचनाएँ सुगम्य हैं।

प्रथम अङ्क में मनुष्य हरिशङ्कर जी की 'गीता-सन्देश' नामक कविता इतना प्रसाद गुण युक्त है कि उसे अलग ट्रेन्च के आकार में छपना चाहिये और द्वितीय अङ्क में 'हिन्दी-उर्दू' पर बात-चात भी खाली अच्छी चीज है, जो अगली पत्री में भी उद्धृत होनी चाहिये।

सर सैयद अहमद राजनैतिक कार्यकर्ता के साथ-साथ अच्छे निबन्ध लेखक भी थे, इसका पता हमें 'कर्मयोग' से हो लगा। 'गाय' की मान्यता पर ख्वाजा हसन निजामी साहब का नाट्य-रस देने योग्य है। भीरु मजी की शंख-पुगी के पड़ने में गद्य-काव्य जैसा आनन्द तो आता ही है, पर उसके पीछे एक महान सन्देश भी है। द्वितीय अङ्क के अग्रलेख 'सद्भावना का दुर्भिक्ष' (वैकलीयता का कष्ट) में ठीक-ठिकाने की बात आई है। उसमें हमारे राष्ट्रीय (या अन्तर्राष्ट्रीय) रोग का ठीक निदान बतलाया गया है। सम्पादक टिप्पणियाँ (पशु-रक्षा का प्रश्न, मेले और त्योहार और बाजार के प्रचण्ड पुजारी तथा बोट और बिरादरी) इस बात की सूचक हैं कि 'कर्मयोग' की तीव्र-दृष्टि आस-पास के अस्वच्छ नागरिक जीवन पर पड़ रही है और वह उनका और सतर्क है।

हिन्दी-जगत् को एक विचार पत्र की आवश्यकता थी—तपस्वी श्रीयुत पं० सुन्दरजी की 'कर्मयोग' के बाद इस कमी की पूर्ति अत्यन्त 'मविष्य' इत्यादि के द्वारा किया गया पर यह स्थाया नहीं हो सका और अब हमने 'कर्मयोग' उस अभाव की पूर्ति करने के लिए अवतारित हुआ है।

'कर्मयोग' की बागडोर एक ऐसे व्यक्ति हाथ में है, जो वास्तविक अर्थ में अमजीवी और जिनकी साहित्यिक तपस्या वर्तमान युग हिन्दी-जगत् में अरनी मिसाल नहीं रखती। कर्मयोग लूट फाले—छूले और अपने आत्म-जनता के जीवन-क्रम, रहन-सहन, साहित्यिक सांस्कृतिक धरातल को ऊँचा करे, यही कामना है।

—बनारसीदास चटुर्जी

समय कर

पाक्षिक पत्र

वर्ष ५]

फरवरी १९४६

[अंक १३-१४

पत्रकार-कला अंक

विषय-सूची

१. निवेदन	... पं० बनारसीदास चतुर्वेदी	३०८
२. रोडिन से सीख	... स्टीफन ज्विग	३१४
३. पत्रकार-विद्यालय	... एक योजना	३१६
४. अंग्रेज श्रमजीवी पत्रकारों का संगठन	... श्री जगदीशप्रसाद चतुर्वेदी	३२२
५. क्रिश्चियन साइन्स मानीटर	... अनूदित	३२६
६. पत्रकार का कर्तव्य	... सी. पी. स्कॉट	३३२
७. लद्दाख यात्रा की डायरी	... ले० क० सज्जनसिंह	३३३
८. विराट (उपन्यास)	... स्व० स्टीफन ज्विग	३३६
९. सिंहावलोकन	... रिपोर्ट	३४४
१०. सम्पादकीय	...	३५३

सम्पादक

सहकारी सम्पादक

बनारसीदास चतुर्वेदी

यशपाल जैन बी. ए., एल-एल. बी.

प्रकाशक

प्रेमनारायण खरे

इस अंक का मूल्य १=)

वार्षिक
तीन रुपया }

श्री वीरेन्द्र-केशव-साहित्य-परिषद्
टीकमगढ़ (सी. आई.)

{ एक प्रति
तीन आना

हाई स्कूल में तीस रुपए मासिक पर अध्यापक थे। १९१३ में एफ. ए. पास करने बाद आर्थिक कठिनाई के कारण हमें अपनी पढ़ाई छोड़ देनी पड़ी थी और यदि १५ जून सन् १९१३ को हमें पण्डित तोतागम जी के दर्शन न होते तो जीवन भर हमें स्कूल टीचरी का ही काम करना पड़ता। इसका मतलब यह नहीं कि उक्त पैतृक पेशे के प्रति हमारे हृदय में कोई अग्रदा है, पर दर-असल उसमें हमारी रुचि नहीं थी। लेखक-जीवन के प्रति हमारे हृदय में विशेष आकर्षण था और १५ जून को हमें अपनी रुचि का एक विषय—‘प्रवासी भारतीय’ मिल गया। प्रवासी भारतीयों की सेवा जीवन का एक मुख्य उद्देश्य बन गई। इसीलिए १५ जून हमारे लिए स्मरणीय तिथि है।

आज अपनी अनुभूतियों के बल पर हम यह कह सकते हैं कि नवयुवक लेखक के लिए किसी विषय का विशेष अध्ययन कर लेना ही साहित्य-क्षेत्र में प्रवेश करने का सर्वश्रेष्ठ मार्ग है। आज का युग विशेषज्ञता या Specialisation का है।

महापुरुषों से परिचय—

कहावत है ‘ज्यो पलास संग पान के पहुँचे राजा हाथ।’ प्रवासी भारतीयों के कार्य की वजह से हमारा परिचय देश-विदेश के अनेक महा-पुरुषों से हो गया। उसी के कारण हमें महात्मा गान्धी जी, दीनबन्धु ऐन्ड्रूज, माननीय श्री निवास शास्त्री तथा सम्पादकाचार्य सी. वाई. चिन्तामणि जी के कृपा पात्र बनने का अवसर मिला। सम्पादक शिरोमणि अम्बिका प्रसाद जी वाजपेयी ने कृपा कर हमारी पुस्तक ‘प्रवासी-भारतवासी’ की भूमिका लिखी। मि० पोलक तथा श्रीयुत कृष्ण-राम मेहता से घनिष्ठ सम्बन्ध हुआ और भई भवानी दयाल जी का बन्धुत्व प्राप्त हुआ। इसके सिवाय कांग्रेस की ओर से पूर्व अफ्रीका की यात्रा का सुअवसर भी हमें मिला और सबसे अधिक सौभाग्य की बात यह हुई कि चार वर्ष तक हमें साकरमती आश्रम में रहने का मौका मिल गया। समाचार-पत्रों में जो कीर्ति या विज्ञापन मिला,

उससे आगे चल कर कार्य करने में बड़ी सुविधा हुई। ‘फिजी द्वीप में मेरे २१ वर्ष’ की सफलता के हमें सचमुच बड़ा आश्चर्य हुआ। उसके तीन संस्करण हिन्दी में छपे, दो बार उसका अनुवाद बंगला में हुआ, चार बार गुजराती में और उसका मराठी अनुवाद भी छपा। दीनबन्धु ऐन्ड्रूज उसके अनेक अंशों का अंग्रेजी में अनुवाद कराते फिजी द्वीप को ले गये और श्रीयुत लक्ष्मण सिंह जी चौहान ने उसके आधार पर ‘कुची प्रथा’ नामक नाटक लिखा, जो ज्वलंत हो गया! उसके बाद तो हमने प्रवासी-भारतीयों के विषय में बहुत काफ़ी लिखा था। हमारी सवा सात सौ पृष्ठ की ‘प्रवासी-भारतवासी’ नामक पुस्तक सन् १९१८ में प्रकाशित हुई थी।

हमारे जैसे साधारण तथा निर्धन व्यक्ति के लिये, जिसे विश्वविद्यालय की उच्च शिक्षा प्राप्त करने का अवसर नहीं मिला था, सेवा का एक विस्तृत क्षेत्र मिल जाना परम सौभाग्य की बात थी।

‘कोतल’ विषय भी—

जहाँ हम प्रत्येक लेखक से यह अनुरोध करते हैं कि वह किसी एक विषय का विशेषरूप से अध्ययन करे वहाँ एक कोतल विषय भी चुनने की सिफारिश करते हैं। पुराने ज़माने में जब डाक घोड़ों पर चला करती थी, कितने ही मुकामों पर कोतल घोड़े रक्खे जाते थे, जो थके हुए घोड़ों को आराम देते थे और डाक को आगे बढ़ाते थे। आदमी आखिर आदमी है, मशीन तो है नहीं। उसकी तबीयत निरन्तर एक ही काम करते हुए ऊब जाती है, इसलिये उस वक्त थकावट मिटाने के लिए या रुचि परिवर्तन के खयाल से दूसरा काम भी होना चाहिये। प्रवासी-भारतीयों के कार्य के सिवा हमें दूसरा विषय जो प्रिय था वह है जीवन-चरित लिखना।

विषयों का चुनाव—

हाँ, विषयों के चुनाव में एक बात अवश्य सोच लेनी चाहिये, वह यह कि जो विषय आप-

वास की जनता के लिए उपयोगी हों तथा जिनके बारे में अपनी अनुभूतियाँ आसानी से प्राप्त की जा सकें और जिनके विशेष अध्ययन की सुविधा भी निकट के स्थलों पर मिल सके, उन्हीं को चुनना अपेक्षाकृत अधिक लाभदायक होगा। उदाहरण के लिये हम कुछ विषय यहाँ लिखे देते हैं :—

(१) ग्राम संगठन

- (क) ग्रामीण उद्योग धन्धे
- (ख) खादी
- (ग) पशु-पालन और गोरक्षा
- (घ) ग्रामीण पुस्तकालय
- (च) ग्रामों का स्वास्थ्य
- (छ) लोकवार्ता, ग्रामगीत, ग्रामीण कहानियाँ, ग्रामों में प्रचलित शब्दों तथा मुहावरों का संग्रह।

(२) किसान आन्दोलन

(३) मजदूर आन्दोलन

(४) समाजवाद

(५) स्त्री-समाज की दशा

(६) बच्चों का पालन-पोषण और शिक्षा

(७) प्रारम्भिक शिक्षा

(८) प्रौढ़ शिक्षा

(९) निरक्षरता निवारण

(१०) हिन्दू-मुसलिम एकता

(११) साहित्य और उसके भिन्न-भिन्न अङ्ग

(प) इतिहास

(फ) जीवन-चरित

(ब) पुरातत्व

(भ) पत्र लेखन

(१२) संस्कृत साहित्य

(१३) प्रान्तीय भाषाओं का इतिहास

(१४) प्रवासी भारतीय

(य) आधुनिक प्रवास

(र) प्राचीनकाल में भारतीय उपनिवेश

(१५) पत्रकार कला

(१६) भारत के सामाजिक आन्दोलन

(१७) भिन्न-भिन्न जनपदों का इतिहास

(१८) विश्वबन्धुत्व

और भी अनेक उपयोगी विषय सुझाये जा सकते हैं। एक बार पत्रकार बन्धुओं के विचारार्थ एक ऐसी ही सूची हमने 'विशाल भारत' में प्रस्तुत की थी। उसे पढ़ कर गुरुवर परिचित पद्मसिंह जी शर्मा ने लिखा था कि उसमें भाषा शैली जैसा आवश्यक विषय छूट गया है। इसलिये उक्त विषय को भी शामिल कर लेना चाहिये।

केन्द्रीय पुस्तकालय —

विषय के चुनाव के बाद यह प्रश्न उठता है कि उसका विशेष अध्ययन कैसे किया जाय? सबसे बड़ी बाधा जो नवीन लेखक के मार्ग में आवेगी वह है आवश्यक ग्रन्थों के मिलने में कठिनाई। इसके लिये अच्छे पुस्तकालयों से सम्बन्ध रखना निहायत ज़रूरी है। बहुत से हिन्दी लेखकों को भी इस बात का पता नहीं है कि कलकत्ते की इम्पीरियल लाइब्रेरी पुस्तकों के मूल्य के रूप में पन्द्रह-बीस रुपये जमानत के तौर पर जमा करके और दुर्गर्भ डाक व रजिस्ट्री का खर्च लेकर पुस्तकें उधार दिया करती है। क्या ही अच्छा हो यदि कोई केन्द्रीय संस्था हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन या नागरी-प्रचारिणी-सभा, काशी अथवा कोई जनपदीय संस्था किसी सम्मन्न पुस्तकालय का निर्माण कर दे, जहाँ से समय-समय पर ग्रन्थ उधार भेजे जा सकें।

ग्रामीण और घरेलू पुस्तकालय—

दूर के कोने में पड़े हुए ग्रामों के निवासी लेखकों के लिये सबसे मुश्किल चीज यही है कि नगर के पुस्तकालयों से किताबें प्रायः नहीं मिल पातीं। इसलिये ग्रामीण पुस्तकालयों की स्थापना अत्यन्त आवश्यक है और उससे भी अधिक

जरूरी है, उपयुक्त पुस्तकों का चुनाव। शिक्षा-प्रसार के साथ-साथ ऐसे पुस्तकालयों की स्थापना तो होगी ही, पर हमें इस बात में शक है कि उनमें ऐसे उपयोगी ग्रन्थ भी नखे जा सकेंगे, जो लेखकों के काम आ सकें। जो लोग प्रकाशकों की तिरुदमां से कुछ परिचित हैं, उन्हें यह बतलाने की जरूरत नहीं कि प्रकाशक किन किन उपायों का अवलम्बन करके अपनी रहीं-सहीं किताबों को चुनाव में शामिल करा देते हैं। आखिर सरकारी अफसर भी हम लोगों की तरह के साधारण जीव ही होते हैं और उन पर तरह-तरह के दबाव डाले जाते हैं। इसलिये हमें सरकारी पुस्तकालयों के भण्डार से न बैठे रहना चाहिये। छोटे-छोटे निजी पुस्तकालयों का निर्माण अत्यन्त आवश्यक है। अपने यम या नगर के साधन-सम्पन्न व्यक्तियों का आश्रय लेने में कोई बुगई की बात नहीं, यदि उनमें कुछ साहित्यिक रुचि हो और वे अपने धरेलू पुस्तकालय के लिये कुछ किताबें मंगा सकें।

हमारी चालाकी—

एक बार हमें अनुवाद कार्य के लिए आप्ते के अंग्रेजी-संस्कृत कोष की बड़ी आवश्यकता थी। हमने बम्बई से या शायद पूना से उसे वी. पी. द्वारा मंगा भी लिया, यद्यपि पैसे पास नहीं थे। सौभाग्य से हमारे ही मुहल्ले में हमारे नामासी एक बनारसीदास चतुर्वेदी और भी रहते थे। वे बड़े उदार-हृदय थे और साधन-सम्पन्न भी थे। पोस्टमैन हमारी गरीबी से परिचित था, इसलिए उसने यही समझा कि पाँच रुपये का वी. पी. उन्हीं बनारसीदास ने मंगाया होगा! इसीलिए वह वी. पी. उन्हीं के पास ले गया और उन्होंने उसे छुड़ा भी लिया। रुपये-पैसों के मामले में 'अस्वीकृति' शब्द उनके कोष में था ही नहीं! जब हमें पता लग गया कि वी. पी. छूट गई है तब हमने उनसे अपने षडयंत्र का वृत्तान्त कहा। सुन कर खूब हँसे और बोले, "हम भी सोचते थे कि किताब आ कैसे गई! हमने तो मंगाई नहीं थी, पर वी. पी. वापस करना हमने

ठीक नहीं समझा। खोली तो इसमें निकली!" फिर कहा, "अच्छा अब तुम किताबें रख लो। तुमारी हुस्नियारी की है।"

तलाश करने पर किसी भी नगर में दो-व्यक्ति ऐसे मिल सकते हैं, जो उत्साही लेखकों के लिए Reference Books (ग्रन्थ) मंगा दें।

भार्ग दर्शक—

लेख लिखना भी तैरने की तरह है। प्रारम्भ में थोड़ा-सा सहारा मिल जाने से भी शिक्षित व्यक्ति अपनी भाषा में अपने साधारणतया प्रकट कर सकता है। हाँ, और जोरदार भाषा लिखने के लिए तो वर्षों साधना करनी पड़ेगी। तैरना हमने आकाश और सैंतालीसवीं साल में सीखा था और दस-गज आसानी से तैर सकते हैं। शुरु-शुरु कोई हिम्मत बँधाने वाला मिल जाय तो मजबूत होकर लेखक बन जाना कोई मुश्किल बात नहीं।

एक बार कलकत्ते में स्वर्गीय सी. चिन्तामणि ने हमारे सामने दसवें दर्जे के विद्यार्थी से कहा था :—

"लेख लिखना जानते हो?" उसने कहा। "नहीं साहब, मैं तो एण्ट्रेंस क्लास में पढ़ रहा हूँ।" इस पर चिन्तामणि जी ने कहा, "सो क्या हुआ? तुम सीख सकते हो।" "लेख लिखना कठिन नहीं।" चिन्तामणि जी ने निरन्तर सम्पादकाचार्य की प्रोत्साहन देने की प्रवृत्ति देख कर हमें अत्यन्त दर्प हुआ था। वही प्रवृत्ति अपनी पराकाष्ठा में स्वर्गीय पण्डित प्रदीप जी शर्मा में पाई जाती थी। इस विषय में अद्वितीय थे। न जाने कितने लेखकों को उत्साहित किया था।

एक उत्तम परम्परा—

उर्दू कवियों में गुरु बनाने की जो परम्परा उसका हमारे हिन्दी-जगत् में बिल्कुल लोप हुआ है। हमने पढ़ा था कि उर्दू के सुप्रसिद्ध

साहब के प्रातःकाल काल का सर्वोत्तम समय
ने शिष्यों की कविताओं में हस्ताक्षर देने
की प्रवृत्ति है। हमारे यहाँ यह परम्परा स्वर्गीय
द्विवेदी जी और उनके प्रमुख शिष्य अमर शशीद
गोरा शङ्कर जी विद्यार्थी तक रही और तत्पश्चात्
नवयुवक सरस्वती नदी की तरह हिन्दी-भारत के स्वार्थ-
(समय) रेगिस्तान में विलीन हो गई है। आज हिन्दी
कितने लेखक दीख पड़ते हैं उनमें कितने
द्विवेदी जी और गोरा शङ्कर जी तथा पं०
दुर्गाधर जी द्वारा उत्पादित किये गए थे। इन
शक्तियों का लेखक तो इस त्रिमूर्ति का अत्यन्त
से श्रेणी हैं। इस प्रोत्साहन प्रथा या दाद देने के
ने भरे में विहार-पूर्वक तो हम फिर लिखेंगे, इस
समय हिन्दी के अनुभवी लेखकों की सेवा में केवल
वर्षों की रचना ही निवेदन करना चाहते हैं कि वे यथा-
शक्ति और यथाशक्ति नवयुवक लेखकों का
समर्थन प्रदर्शन किया करें।

शिष्यत्व की भावना—

साथ ही प्रारम्भिक लेखकों से थी हम प्रार्थना
करेंगे कि वे धैर्य से काम लें और शिष्यत्व की
भावना को विकसित करें। सुना है कि महामति
के महादेव गोविन्द रानाडे अपने शिष्य गोखले से
एक-एक रचना को तीन-तीन बार लिखवाते
थे। 'काता और ले दौड़े' की नीति लेखक-
जीवन के लिये घोर विघातक है। जर्मनी के
महाकवि गेटे ने अपनी सर्वोत्तम रचना फौस्ट
को साठ वर्ष में पूरा किया था। साठ वर्ष तक
ने निरन्तर उसमें संशोधन ही करते रहे।
एक बात नवयुवक लेखकों को न भूलनी चाहिये,
यह कि किसी भी सक्रिय सम्पादक के पास
रचना वृत्त नहीं बच सकता कि वह बैठे-बैठे
समस्त प्रारम्भिक लेखकों को पत्र भेज-भेज कर
प्रोत्साहन देता रहे। जरूरत इस बात की है कि
नवयुवक लेखक अपने आस-आस के अनुभवी
लेखकों से परिचय प्राप्त करें और उनकी सुविधा-
नुसार वक्तन-क-वक्तन उनकी सेवा में उपस्थित
होते रहें। यही नहीं उनके कार्य भार को हलका
करने को प्रयत्न भी करें। यदि प्राचीन काल में
मकतबों में मौलवी साहब की चिलम भरते-भरते

विद्यार्थी उर्दू पढ़ जाते थे तो वर्तमान युग में
भी सम्पादकों को चाय पिला-पिला कर लेखन-
कला का कुछ तो अभ्यास किया ही जा सकता
है। दुर्भाग्य की बात है कि सभी हिन्दी-सम्पादक
चायामृत का पान नहीं करते, ऐसे बालस्वभाव
सम्पादकों के लिये दूध या फल का प्रबन्ध होना
चाहिये।

जो महाभुक्त विना शिष्यत्व की भावना के
लेखक बनना चाहते हैं, वे "हरां लगे न फिटकरी
रंग चोखोइ आवै।" वाली कहावत चरितार्थ करते
हैं। एक व्यक्ति ने गुरु जी को कोंदा देकर अपने
लड़के को पढ़वाया था। जब परीक्षा हुई और
उस लड़के से पूछा गया कि सोलह दूनी कितने
होते हैं? वह बोला, "आठ!" तब से यह कहावत
चल पड़ी है, "कोंदा देंगे पूत पढ़ाये सोलह दूनी
आठ।" भ्रष्ट में सम्पादकों को तंग करके जो
महाभुक्त लेखक बनना चाहते हैं, यदि वे अन्त
में सोलह दूनी आठ बतलाने वाले विद्यार्थी की
तरह ज्ञानी सिद्ध हो तो हमें कोई आश्चर्य न
होगा। हाँ, पत्र-व्यवहार द्वारा भी कुछ पत्र-
प्रदर्शन हो सकता है, पर पत्र लिखना भी एक
कला है और उसे सीखने की जरूरत है। पर
वह एक भिन्न विषय है और उसके लिए एक
अलग ही लेख चाहिये।

पुनश्च :—

किसी लोकोपकारी विशेष विषय का निरन्तर
अध्ययन और मनन स्वयं हमारे जीवन के लिये
भी लाभदायक हो सकता है। अपनी रचनाओं
का हम अपने जीवन से अलग नहीं कर सकते
और यदि हमारा जीवन असंयत है तो उसका
कुप्रभाव हमारी मानस-सन्तानों में भी प्रतिबिम्बित
होगा। आचार्य विनोबा जी ने अपने एक भाषण
में 'ब्रह्म' का अर्थ कोई बृहत् कल्पना बतलाया
था। यदि हम कोई बृहत् कल्पना अपने सम्मुख
रख लें और दिन-रात उसको चरितार्थ करने के
लिए परिश्रम करें तो हमें खुद अपना जीवन संयत
करने में बड़ी मदद मिलेगी।

आचार्य विनोबा जी के निम्नलिखित शब्द
ध्यान देने योग्य हैं :—

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and Gangotri
 “देह के बाहर जाकर कोई भी कल्याण ले—जनक शुक्ति को पहचान लेंगे।”

हूँदिए। अगर किसी ने हिन्दुस्तान के गरीब लोगों को भोजन देने की कल्पना अपने सामने रखी है तो इसके लिये वह अपनी देह समर्पण कर देगा। वह मान लेगा कि मेरा कुछ भी नहीं है, जो कुछ है वह सब गरीब जनता का है। जनता की सेवा उसका ब्रह्म हो गई। उसके लिए जो आचार वह करेगा वही ब्रह्मचर्य है।.... ऊँचा आदर्श सामने रखना और उसके लिए संयमी जीवन का आचरण, इसी को मैं ब्रह्मचर्य कहता हूँ।”

सच बात तो यह है कि आज के युग में संयत जीवन व्यतीत किये बिना हम किसी भी लोकोपकारी विषय के विशेषज्ञ नहीं बन सकते।

एक बात और—

यदि लेखक के मनमें समाज-सेवा की लगन हो तो इस गरीब मुल्क में लेखों के लिखने के लिए मसाला तो हर जगह बिखरा पड़ा है। क्रांति के पहले के एक रूसी लेखक ने लिखा था :—

“क्या तुम लेखक बनना चाहते हो? यदि हाँ, तो मनुष्य जाति के पुराने जमाने से संचित दुःख समूह का इतिहास पढ़ो। अगर उसे पढ़ते हुए तुम्हारा हृदय विदीर्ण न हो तो अपनी लेखनी फेंक दो। तब सब कोई तुम्हारे पाषाण हृदय की

कवीन्द्र श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर के शब्दों में—

“मूढ़ स्लान इन मूक मुखों में तुम्हें जगानो होगी भाषा,
 भ्रान्त शुष्क टूट वक्त्रों में तुम्हें गुँजानी होगी आशा।
 तुम्हको कहना होगा उनसे टेर कि “अना श श उठाओ!”
 क्षण भर देखूँ साथ तुम्हें मैं, एक जगह तुम जुट तो जाओ।
 तुम जिससे भयभीत, भीरु है वह अन्याय कि तुम से व्यादः;
 भाग खड़ा होगा, तुमने जिस दम जगने का किया इरादा।
 आगे बढ़ कर खड़े कि जब हो जाओगे तुम उसके आगे,
 चल देगा संकुचित त्रस्त वह, जैसे पथ का कूकुर भागे।
 उससे विमुख देवता उसका कोई नहीं कहीं भी सायो,
 मुँह से कर प्रलय की बातें, किन्तु हीनता जाने छातो।
 कवि, तब ठठ कर चलो! अगर बाकी है अब तक प्राण तुम्हारा,
 आज प्राण लो साथ कि हे कवि! आज वही हो दात तुम्हारा।”

[अनुवादक—श्री भवानी प्रसाद मिश्र
 ‘विश्व-भारती’ से]

रोडिन से सीख

स्टीफन जिब्रन

जब मैं पेगिस में लिख-पढ़ रहा था, मेरी अवस्था पन्चीस वर्ष की होगी। बहुत-से आदमी मेरी प्रकाशित साहित्यिक रचनाओं की प्रशंसा पहले ही से कर चुके थे और उनमें से कुछ मुझे भी पसन्द थीं। पर अपने मन-ही-मन मुझे ऐसा लगता था कि मैं और भी अच्छा लिख सकता हूँ, लेकिन मैं नहीं जान पाता था कि कहीं कहाँ और किस बात की है।

उस समय एक महान पुरुष ने मुझे एक बड़ा सबक दिया। वह देखने में उन छोटी-सी घटनाओं में से एक थी, जो जीवन-क्रम ही बदल देती हैं।

एक दिन प्रसिद्ध वेल्जियन लेखक वरहेरन के घर पर एक वृद्ध चित्रकार शिलर-कला की अवनति पर खेद प्रकट कर रहे थे। मैं युवक था और कुछ झगड़ालू भी। मैंने इस विचार का जोरों से विरोध किया। मैंने कहा कि क्या इसी नगर में एक ऐसा शिल्पकार नहीं रह रहा है, जो माइकेल ऐंजेलो की सानी का है? क्या रोडिन के 'पेन्स्यूर' और 'बालज़क' उतने ही चिरस्थायी नहीं होंगे, जितना कि उनमें प्रयुक्त हुआ संगमरमर।

जब मेरा आवेश समाप्त हुआ तो वरहेरन ने खुश होकर मेरी पीठ ठोकी और कहा, "मैं कल रोडिन से मिलने जा रहा हूँ। तुम भी मेरे साथ चलना। जो आदमी किसी व्यक्ति की इतनी प्रशंसा करता है, उसे उससे मिलने का अधिकार है।"

मैं प्रसन्नता से खिल उठा। पर दूसरे दिन जब वरहेरन ने मुझे रोडिन से मिलाया तो मैं एक शब्द भी नहीं कह सका। जब कि वे दोनों मित्र बात कर रहे थे, मुझे ऐसा लगा कि मेरा प्रवेश अनिच्छित और अनधिकारपूर्ण था।

परन्तु महान पुरुष बड़े दयालु भी होते हैं। जैसे ही हम चलने को हुए रोडिन मेरी तरफ मुड़े और बोले, "मेरा खयाल है कि तुम मेरी कुछ मूर्तियाँ देखना चाहोगे, पर मुझे खेद है कि यहाँ पर कुछ नहीं है। हाँ, रविवार को तुन हमारे गाँव आओ और मेरे साथ भोजन करो।"

रोडिन के गाँव के सीवे-सादे मकान में हम लोग एक छोटी-सी मेज़ पर खाना खाने बैठे। थोड़ी ही देर में उनकी कोमल आँखों की उत्साह-पूर्व दृष्टि तथा व्यक्तित्व की सरलता ने मेरी परेशानी दूर कर दी।

उनकी मूर्त्तिशाला में तैयार मूर्तियाँ थीं और सैकड़ों छोटे-छोटे मूर्तियों के टुकड़े थे—कहीं एक हाथ था, एक बाजू था या एक उँगली ही थी। ऐसी मूर्तियाँ थीं, जिनको बनाना उन्होंने प्रारम्भ किया था, फिर छोड़ दिया था। उस स्थान को देख कर ऐसा मालूम होता था कि वहाँ जीवन-व्यापी अविश्रान्त जिज्ञासा और पराक्रम विद्यमान है।

रोडिन ने लबादा पहन लिया और वे एक कारीगर से मालूम पड़ने लगे। वह एक मूर्ति के सामने रुके।

एक स्त्री की मूर्ति के ऊपर से गीला कपड़ा हटाते हुए उन्होंने कहा, "यह मेरी सबसे ताज़ी कृति है। मैं समझता हूँ, यह बिल्कुल तैयार हो चुकी है।"

मिट्टी की वह मूर्ति बहुत ही अच्छी तरह बनी थी। लेकिन एक मिनट की जाँच के पश्चात् वह गुनगुनाये—"वहाँ! ठीक कंधे के ऊपर। लाइन ज़रा कड़ी है। माऊ कीजिएगा!"

और उन्होंने अपनी कन्नी उठा ली और वह धीरे-से मिट्टी पर चलने लगी और माँस में

और भी मुलायम चमक आ गई। उनके मजबूत हाथों में फिर से जीवन आ गया, उनकी आँखों में चमक आ गई। “आर वहाँ...” “आर वहाँ...” उन्होंने फिर कुछ बदला। फिर वे पछे हटे। फिर उन्होंने कुछ अजब शब्द गुनगुनाते हुए मूर्ति तल बो पलटा। कभी उनकी आँखें खुशी से चमकने लगती, कभी भौंहों पर परेशानी स्पष्ट दीख पड़ती। उन्होंने मिट्टी के कुछ टुकड़े साने, उन्हें मूर्ति से जोड़ा, कुछ को हटाया।

यह क्रम आध घण्टे तक चला, फिर एक घण्टा हुआ। पर उन्होंने एक भी शब्द मुँहसे न कहा। उन्हें सिवा उस सुन्दर मूर्ति की कल्पना के जो वे बनाना चाहते थे और कुछ नहीं दिखाई दे रहा था। वह अपने काम के साथ वैसे ही अकेले थे, जैसे ईश्वर सृष्टि का निर्माण करते समय था।

अन्त में, आराम की साँस लेकर, उन्होंने कन्नी को फेंक दिया और मूर्ति के चारों ओर गीले कपड़ों को सावधानी के साथ लपेट दिया, जैसे कोई पुरुष अपनी प्रियतमा के कन्धों पर शाल लपेट रहा हो! और इसके बाद वे जाने के लिए मुड़े।

वह दरवाजे तक पहुँचे होंगे कि उन्होंने मुँहे देखा। उन्होंने मेरी ओर घूरा। तब उनको याद आई और वे इस अशिष्टता पर चौंक पड़े। वे बोले, “माफ़ कीजिएगा महाशय! मैं बिल्कुल भूल ही गया था। पर आप जानते हैं...” मैंने उनसे हाथ मिलाया और कृतज्ञता

पूर्वक उनके हाथ को दबा दिया। शायद उनको मालूम हो गया था कि मैं क्या अनुभव कर रहा था, क्योंकि वे मुस्कराये और कमरे से बाहर निकलते समय उन्होंने अपनी बाँह मेरे गले में डाल दी।

मैंने उस दिन जितना सीखा उतना स्कूल के तमाम वर्षों में नहीं सीख सका था। तब से मैं जान गया हूँ कि उन कार्यों को जो अच्छे आर करने लायक हैं, कैसे करना चाहिये।

इस अनुभव से ज्यादा कि कैसे एक व्यक्ति समय, स्थान और संसार को एक दम भुल सकता है, मुझे और किसी चीज़ ने प्रभावित नहीं किया है। उस घण्टे भर में मैंने सारी कला और सारी भौतिक सफलताओं का भेद जान लिया और वह है एकाग्रता—एक व्यक्ति की सारी शक्तियों का एक कार्य के पूरा करने में पूर्ण उपयोग करना, चाहे कार्य छोटा हो या बड़ा और अपनी इच्छा-शक्ति को, जो प्रायः विकेंद्रित होकर फैल जाती है, एक ही चीज़ पर केन्द्रित करना।

अब मुझे अनुभव हुआ कि मेरे कार्य में किस चीज़ की कमी थी। अर्थात् मुझ में उस उत्साह का अभाव था, जो व्यक्ति को पूर्णता प्राप्त करने की इच्छा के सिवाय प्रत्येक वस्तु भुलता देता है। मनुष्य को अवश्य इस योग्य होना चाहिए कि अपने काम में अपने को बिल्कुल भूल जाय। मैं अब जान गया कि इसके अतिरिक्त और कोई दूसरा चमत्कार नहीं है।

[अनुवादक—श्री जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी]

केवल एक ही कला है—छोड़ना। यदि मैं जानता कि कैसे छोड़ा जाता है तो कोई दूसरा ज्ञान न चाहता। वह आदमी जो यह जानता है कि कैसे शब्दों को छोड़ा जा सकता है किसी दैनिक पत्र को इलियाड जैसा महाकाव्य बना सकता है।

—आर. एल. स्टीवेंसन

पत्रकार विद्यालय

एक योजना

[पत्रकार विद्यालय की यह आयोजना और पाठ्य-क्रम 'मधुकर' कार्यालय के श्रीयुत यशपाल जैन बी. ए., एल-एल. बी. और श्री जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी बी. ए., एल-एल. बी. द्वारा तैयार किए गये हैं। निस्सन्देह इसमें कुछ त्रुटियाँ हैं, जिनका संशोधन विशेषज्ञों द्वारा हो सकता है।]

जो महानुभाव इस विषय में रुचि रखते हों उनसे प्रार्थना है कि वे अपने परामर्श से अप्रैल के अन्त तक लिख भेजें।—

बनारसीदास चतुर्वेदी

अध्यक्ष

अखिल भारतीय हिन्दी-पत्रकार-संघ]

टीकमगढ़.

1. इस संस्था का नाम 'पत्रकार-विद्यालय' होगा।

2. विद्यालय में शिक्षा का माध्यम हिन्दी होगा।

3. विद्यालय का शिक्षा-क्रम तीन वर्ष का होगा।

4. विद्यालय की परीक्षा में उत्तीर्ण विद्यार्थियों को 'पत्रकार शास्त्री' की उपाधि दी जायगी।

5. विद्यालय का संचालन एक विद्यालय समिति के अधीन होगा, जिसमें सदस्य होंगे। विद्यालय का प्रबन्धन अपने पद के कारण उसका एक सदस्य होगा।

6. विद्यालय का प्रारम्भ मास से होगा।

7. विद्यालय में निम्नलिखित योग्यता के विद्यार्थी भर्ती किये जा सकेंगे :—

अ. काशी विद्यापीठ के 'शास्त्री' हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के 'साहित्य रत्न', गुरुकुल कांगड़ी के 'विद्यालंकार', पंजाब विश्वविद्यालय के 'प्रभाकर', अंग्रेजी विश्वविद्यालयों के बी. ए. और उपरोक्त परीक्षाओं के समान अन्य परीक्षा पास स्नातक।

ब. बी. ए. पास विद्यार्थियों में उन्हीं को भर्ती किया जा सकेगा, जिन्होंने बी. ए. या इण्टर में हिन्दी एक विषय लिया हो या उतनी योग्यता रखते हों।

आ. अंग्रेजी लिखने, बोलने व अनुवाद करने की क्षमता हो।

इ. राजनीति, इतिहास तथा अर्थशास्त्र का साधारण ज्ञान हो।

अथवा

ब. किसी दैनिक, साप्ताहिक और मासिक-पत्र के सम्पादकीय विभाग में कम-से-कम दो वर्ष तक नियमित रूप से कार्य करने वाला पत्रकार।

नोट- १. सम्पादकीय विभाग में रिपोर्टर व प्रूफरीडर भी सम्मिलित किये जा सकते हैं।

२. अंग्रेजी और हिन्दी का पर्याप्त ज्ञान सबके लिए आवश्यक होगा।

३. प्रान्तीय भाषाओं के पत्रकार भी भर्ती किये जा सकते हैं, यदि अपनी भाषा में उपयुक्त योग्यता के अतिरिक्त हिन्दी और अंग्रेजी भली प्रकार समझने की क्षमता रखते हों।

४. भर्ती होने से पहले प्रत्येक विद्यार्थी को योग्यता सिद्ध करने के लिए प्रवेश परीक्षा देनी होगी।

५. विद्यालय में निम्नलिखित विषयों की शिक्षा दी जायगी :—

अ. १. पत्रकार-कला का परिचय और इतिहास।

२. सम्पादन।

३. अमल लेखन।

४. समाचार संग्रह ।
 ५. रिपोर्टिंग ।
 ६. भेट (इन्टरव्यू) ।
 ७. रेखाचित्र (स्केच) और चुटकियाँ ।
 ८. प्रचार (प्रोपेगण्डा) ।
 ९. सामग्री प्रदर्शन (मेक अप) ।
 १०. प्रूफ रीडिंग ।
 ११. अनुवाद ।
 १२. आलोचना ।
 १३. स्वतन्त्र लेख-लेखन, कहानियाँ, आदि ।
 १४. छापेखाने का ज्ञान ।
 १५. कार्यालय तथा प्रेस का प्रबन्ध ।
 १६. बिक्री और प्रचार ।
 १७. विज्ञापन ।
 १८. पत्रकार और कानून ।
 १९. हिन्दी-अंग्रेजी शोर्ट हैण्ड ।
 २०. टाइप राइटिंग ।
 २१. फोटोग्राफी ।
- ब. १. साहित्य ।
२. राजनीति ।
 ३. इतिहास व भूगोल ।
 ४. अर्थशास्त्र ।
 ५. नागरिक शास्त्र ।
 ६. संस्कृति और जीवन-यापन के तरीके ।
 ७. मनोविज्ञान ।
 ८. स्वास्थ्य और खेल कूद ।
- स. १. एक प्रान्तीय भाषा ।
१०. प्रथम वर्ष में निम्नलिखित विषय पढ़ाए जायेंगे :—
१. पत्रकार-कला का परिचय और इतिहास—
अ. योरोप व अमेरिका में पत्रकार-कला का विकास ।
आ. हिन्दी पत्रकार-कला का इतिहास ।
 - इ. प्रान्तीय भाषाओं की पत्रकार-कला इतिहास ।
 - ई. छापेखाने का इतिहास ।
 - उ. देश-विदेश के प्रमुख पत्रकार ।
२. राजनीति—
- अ. मूल सिद्धान्त ।
 - आ. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति ।
 - इ. अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के सिद्धान्त प्रयोग ।
 - ई. शासन पद्धतियाँ ।
 - उ. राजनैतिक मत : साम्यवाद, समाज गान्धीवाद इत्यादि ।
 - ऊ. भारतीय कांग्रेस का इतिहास ।
 - ए. भारतीय राजनैतिक पार्टियों का और विकास ।
 - ऐ. अल्प-संख्यकों की समस्या ।
 - ओ. प्रवासी भारतीयों की समस्या ।
 - औ. देशी राज्यों की समस्या और आंदोलन ।
३. इतिहास—
- अ. भारत का इतिहास ।
 - आ. संसार का इतिहास ।
 - इ. संसार की राज्य क्रान्तियाँ और महत्त्व ।
 - ई. संसार का संक्षिप्त भूगोल ।
४. नागरिक शास्त्र—
- अ. मूल सिद्धान्त ।
 - आ. नागरिक के अधिकार और कर्तव्य ।
 - इ. नागरिक स्वाधीनता ।
 - ई. विदेशों में नागरिक अधिकार ।
 - उ. समाज सुधार के आन्दोलन ।
५. छापेखाने का ज्ञान—
- अ. टाइप की पहिचान ।
 - आ. लाइनो टाइप, मोनो टाइप ।

इ. स्टीरियो ग्राइफिंग ।

ई. छपाई की मशीनों की पहिचान और साधारण ज्ञान ।

६. रिपोर्टिंग—

अ. साधारण सिद्धान्त, रिपोर्टिंग का इतिहास और रिपोटर की विशेषता व दायित्व ।

आ. भाषा शैली व समाचार के प्रकार ।

इ. स्थानीय रिपोर्टिंग ।

ई. सम्वाददाता

उ. स्पेशल रिपोर्टिंग, व्यापार, खेलकूद, सभा-सम्मेलन, न्यायालय, धारा सभा आदि ।

७. भेंट (इण्टरव्यू)—

अ. भेंट की आवश्यकता ।

आ. प्रकार ।

इ. भेंट-सम्बन्धी आवश्यक बातें ।

ई. भेंट की वर्णन शैली ।

८. प्रूफ रीडिंग—

अ. आवश्यकता ।

आ. प्रूफ की श्रेणियाँ ।

इ. प्रूफ पढ़ने की परिपाटी ।

ई. संशोधन सम्बन्धी नियम ।

९. मनोविज्ञान ।

१०. स्वास्थ्य और खेलकूद ।

अ. भारत की स्वास्थ्य समस्या ।

आ. खेल कूदों की उपयोगिता ।

इ. विभिन्न प्रकार के खेलकूदों का व्यावहारिक ज्ञान ।

११. द्वितीय वर्ष का पाठ्य क्रम :—

१. साहित्य—

अ. विदेशी साहित्य ।

आ. हिन्दी साहित्य ।

इ. संस्कृत व प्राकृत साहित्य ।

ई. प्रान्तीय भाषाओं का साहित्य ।

उ. जनपदीय साहित्य ।

२. संस्कृति व जीवन-यापन के तरीके—

अ. भारतीय तथा विदेशी दर्शन और दार्शनिक ।

आ. भारतीय तथा विदेशी कला और कलाकार ।

इ. भारतीय तथा विदेशी संगीत और संगीतज्ञ ।

ई. हिन्दू-मुस्लिम संस्कृति का आदान प्रदान ।

ए. भारत के सांस्कृतिक केन्द्र ।

ऐ. विभिन्न देशों के रहन-सहन के तरीके और उनकी विशेषताएँ ।

ओ. जीवन-यापन के साधारण सिद्धान्त ।

३. सम्पादन—

अ. सम्पादक का दायित्व और पाठकों के प्रति कर्तव्य ।

आ. सम्पादन कला का विकास ।

इ. नीति-निर्धारण ।

ई. कार्यालय व्यवस्था ।

उ. उप-सम्पादन ।

ऊ. शीर्षक ।

ए. भाषा-सम्पादन ।

४. समाचार संप्रद—

अ. समाचारों का महत्त्व ।

आ. समाचारों का चुनाव व संकलन ।

इ. समाचार संपादन ।

ई. समाचार समितियाँ ।

ए. संवाददाताओं की नियुक्ति और नियंत्रण ।

ऐ. रिपोटर्स का कार्य वितरण ।

५. रेखाचित्र और चुटकियाँ (Personal Journalism)—

अ. रेखाचित्रों की उपयोगिता ।

आ. विदेशों में रेखाचित्रों का विकास ।

इ. भारत में रेखाचित्रों का प्रारम्भ और विकास ।

ई. प्रमुख देशी विदेशी रेखाचित्र लेखक

उ. रेखाचित्र लेखक के लिए आवश्यक बातें ।

ए. विनोद ।

६. अनुवाद—

अ. अनुवाद की भाषा और शैली ।

आ. पारिभाषिक शब्दों का ज्ञान ।

इ. शब्दानुवाद ।

ई. भावानुवाद ।

उ. सारलेखन ।

७. सामग्री प्रदर्शन (मेकअप)—

अ. चित्र सम्पादन ।

आ. समाचारों की महत्वानुसार व्यवस्था ।

इ. विभिन्न टाइपों का इस्तेमाल ।

ई. वागज के आकार का ज्ञान ।

उ. कालम का ज्ञान व अन्य आवश्यक बातें ।

८. पत्रकार और कानून—

अ. पत्रों की स्वाधीनता और उस पर नियन्त्रण ।

आ. प्रेस एक्ट व आर्डिनेन्स ।

इ. फौजदारी कानून की प्रमुख धाराएँ ।

ई. मान हानि ।

उ. अदालत की तौहीन ।

ऊ. कापी राइट विधान ।

ए. सेंसर ।

९. आलोचना—

अ. पत्रकार कला और आलोचना ।

आ. आलोचनाओं की उपयोगिता ।

इ. आलोचना के मूल सिद्धान्त ।

ई. आलोच्य वस्तुओं का चुनाव ।

उ. आलोचनाओं के प्रकार ।

ऊ. पर्यालोचन ।

१०. एक प्रान्तीय भाषा का अध्ययन ।

१२. तीसरे वर्ष का पाठ्य-क्रम :—

१. अर्थशास्त्र—

अ. मूल सिद्धान्त और विचार धाराएँ ।

आ. राजस्व ।

इ. मुद्रा नीति और प्रचलन ।

ई. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार व विनिमय ।

उ. भारतीय आर्थिक अवस्था व समस्याएँ ।

ऊ. यातायात के साधन ।

ए. उपयोग और आयात-निर्यात ।

ऐ. ग्रह उद्योग और ग्राम-सुधार ।

ओ. कृषि समस्या व आवश्यकता ।

औ. मजदूरों का सवाल व ट्रेड यूनियन आन्दोलन ।

अं. कांग्रेस और किसान ।

२. विज्ञापन—

अ. विज्ञापनों के भेद ।

आ. विज्ञापन प्राप्त करने के तरीके ।

इ. विज्ञापनों का प्रदर्शन ।

ई. पत्रों की नीति और विज्ञापन ।

उ. विज्ञापन सम्पादन ।

ऊ. विज्ञापन समितियाँ ।

३. कार्यालय तथा प्रेस का प्रबन्ध ।

४. बिक्री और प्रचार—

अ. पत्र का विज्ञापन ।

आ. एजेन्सियाँ और कमीशन ।

इ. बिक्री बढ़ाने के तरीके ।

ई. विदेशी पत्रों की बिक्री और उसके कारण ।

उ. भारतीय पत्रों की बिक्री और उसके बढ़ाने के तरीके।

अ. व्यंग चित्रों का महत्त्व।

आ. प्रारम्भ और विकास।

ऊ. ग्राहकों के साथ व्यवहार और उनको सुविधाएँ।

इ. प्रसिद्ध देशी-विदेशी व्यंग्य चित्रकार।

७. अग्रलेख—

अ. अग्रलेख की आवश्यकता और विशेषता।

आ. अग्रलेख की सामग्री और प्रयोजन।

इ. अग्रलेख के प्रकार।

ई. अग्रलेख की शैली।

उ. टिप्पणियाँ।

ऊ. देशी-विदेशी अग्रलेखों का अध्ययन।

१२. प्रत्येक वर्ष के पाठ्य-क्रम के साथ-साथ पत्रों तथा प्रेस में विद्यार्थियों को व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त कराया जायगा।

१३. विद्यालय द्वारा एक प्रेस तथा एक साप्ताहिक पत्र संचालित होगा।

१४. साधनहीन, पर प्रतिभा-सम्पन्न विद्यार्थियों के लिये कुछ आर्थिक सुविधाएँ भी दी जायगी।

१५. विद्यार्थियों से १०) रु० प्रति मास शुल्क लिया जायगा।

१६. विद्यालय का निम्नलिखित स्थायी और मासिक व्यय होगा :—

१. स्थायी—

अ. फर्नीचर ५०००)

आ. पुस्तकालय ६०००)

इ. टाइप राइटर्स (पाँच) १५००)

ई. पुस्तक निर्माण और प्रकाशन १००००)

उ. रेडियो (दो) ५००)

ऊ. कैमरा तथा तस्स्वन्धी सामान १०००)

योग. २४०००)

नोट १. पुस्तक रचना की मद में दस हजार रुपये प्रतिवर्ष तीन वर्ष तक व्यय करने होंगे।

२. पुस्तकालय में भी छः हजार रुपये प्रतिवर्ष तीन वर्ष तक खर्च करने होंगे।

६. स्वतन्त्र लेख, कहानियाँ आदि—

अ. स्वतन्त्र लेखन की आवश्यकता।

आ. स्वतन्त्र लेखों के प्रकार।

इ. लेखों की सामग्री।

ई. लेखन पद्धति व शैली।

उ. पारिश्रमिक।

ऊ. भारत में स्वतन्त्र लेखकों की दशा।

ए. कहानी, धारावाहिक उपन्यास आदि।

ऐ. नवीन लेखकों के लिए ज्ञातव्य बातें।

७. प्रचार (प्रोपेगन्डा)—

अ. आवश्यकता और तरीके।

आ. आन्दोलनों का संचालन।

इ. जनमल का संगठन।

ई. भारतीय पत्रों के प्रमुख आन्दोलनों का इतिहास।

८. हिन्दी अंग्रेजी शीघ्र-लेखन (शौर्ट हैंड)

९. टाइप-राइटिंग

१०. फोटोग्राफी

११. व्यंग चित्र (कार्टून)

२. मासिक—

अ. प्रधान अध्यापक	५००)	मा०	६०००)
आ. व्यवस्थापक	२५०)	"	३०००)
इ. अध्यापक ६	२००)	" प्रत्येक	१४४००)
ई. क्लार्क २	१००)	" प्रत्येक	२४००)
उ. दफ्तरी १	६०)	"	७२०)
ऊ. चपरासी २	४०)	" प्रत्येक	६६०)
ए. अतिथियों का स्वागत	१००)	"	१२००)
ऐ. सवारी	८०)	"	६६०)
ओ. बाहर के व्याख्यानदाताओं के लिए			२४००)
औ. थोड़ा-थोड़ा समय देने वाले अध्यापकों के लिए			२४००)
अं. छात्रवृत्ति दस विद्यार्थियों के लिए (२५ के हिसाब से)			३०००)
क. विलायती और देशी पत्र			१०००)
ख. स्टेशनरी तथा आफिस का सामान			१०००)
ग. खेलकूद			१०६०)
घ. पाक्षिक गोष्ठी और उत्सव			१०००)
ङ. यात्राएँ			१०००)
च. फुटकर			७६०)

योग. ४३२६०)

नोट. १. विद्यालय भवन, छात्रावास, प्रैस तथा पत्र का व्यय इसमें शामिल नहीं किया है।

२. दूसरे और तीसरे वर्ष में दो-दो अध्यापक और बढ़ाने होंगे, लेकिन विद्यार्थियों की संख्या बढ़ जाने से उनका व्यय निकल आवेगा।

३. साप्ताहिक पत्र का अधिकांश व्यय पत्र की बिक्री और विज्ञापन द्वारा पूरा किया जायगा। उसके लिए अलग स्टाफ रखने की आवश्यकता नहीं है।

४. दूसरे वर्ष से विद्यार्थियों को व्यावहारिक शिक्षण देने के लिए दो पृष्ठ का एक प्रयोगात्मक दैनिक पत्र भी प्रकाशित करना होगा, जिसकी छपाई में अनुमानतः ६००) रु० साल का खर्च होगा।

५. पाठ्य-क्रम तैयार करने में इस बात का ध्यान रखा गया है कि विभिन्न विषयों पर हिन्दी में उपयुक्त पाठ्य-पुस्तकें उपलब्ध नहीं हैं उन्हें दूसरे और तीसरे वर्षों में पढ़ाया जाय, जिससे पहिले वर्ष में कुछ पाठ्य-पुस्तकें तैयार हो सकें।

अप्रज श्रमजीवी पत्रकारों का संगठन

श्री जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी

एक समाचार-पत्र रिपोर्टर की पत्नी बीमार थी और बच्चा मर चुका था। पत्नी की दवा के लिए पैसे नहीं थे, डाक्टर ने उधार देने से मना कर दिया था। उसका बिल काफ़ी बढ़ चुका था। बच्चे को दफनाने का प्रबन्ध करने के लिए भी पैसे नहीं थे। वह पड़ोसियों से चन्दा कर नहीं सकता था; क्योंकि आखिर को तो वह पत्रकार था और चन्दा माँगना पेशे की शान के खिलाफ था। तब उसने एक साथी पत्रकार वाट्स से सलाह माँगी। वाट्स ने क्रियात्मक सलाह यानी यथासम्भव सहायता दी, पर वह इस घटना को भूल न सके। ऐसी घटनाएँ क्यों होती हैं और उन्हें कैसे रोका जा सकता है, इस सवाल ने उनका और अंग्रेजी भाषा के पत्रकारों के इतिहास को ही बदल दिया।

पत्रकारों की दशा—

उन दिनों इंग्लैण्ड के पत्रकारों की आर्थिक हालत बहुत ही खराब थी। लन्दन नगर में पत्रकार का प्रारम्भिक वेतन पचहत्तर रुपये मासिक से भी कम था और प्रान्तों के पत्रों में तो बहुत-से स्थानों पर रिपोर्टरों को साठ रुपये से भी कम मिलता था। बारह घण्टे से लेकर पन्द्रह घण्टे तक काम करना पड़ता था और दिन के किसी समय भी वे काम के लिए तलब किए जा सकते थे। वर्ष में अधिक से अधिक एक सप्ताह की छुट्टी मिलती थी। एक विवाहित रिपोर्टर का वेतन इतना कम था कि कई रिपोर्टर दरवाज़े-दरवाज़े पत्र बाँटते थे और विज्ञापनों की दलाली करते थे। अनेक पत्नियों को छोटी-मोटी दूकानें खोल कर काम चलाना पड़ता था। विज्ञापनों में लिखा रहता था—रिपोर्टर चाहिए, जो देहात और शहरों का काम कर सके, साइकिल जानता हो, खेलों का जानकार हो, नाटकों में रुचि हो, अच्छी तरह प्रूफ पढ़ सके, भला परिवार और अच्छे सम्बन्ध हों। वेतन वही साठ,

पचहत्तर, नब्बे। सीखने वालों की संख्या बढ़ रही थी और उनको कम वेतन पर रख लिया जाता था। पत्रकारों को जो वेतन मिलता था उससे अधिक नगर के कूड़ा ढोने वालों, जहाज के खलाशियों और समाचार-पत्र कार्यालयों में ही कम्पोज़िटर्स, मशीनमैनो व लाइनो अपरेटर्स को मिलता था। पत्रकार अपनी स्थिति से असन्तुष्ट तो थे, पर अपनी दुर्दशा को दूर करने का कोई उपाय उन्हें नहीं मिल रहा था। इंग्लैंड के अन्य मजदूरों की स्थिति यदि पत्रकारों से अच्छी थी तो उसका कारण यह था कि उनकी अलग-अलग ट्रेड यूनियनें थीं जो उनके हितों की रक्षा करती थीं। पर पत्रकार के 'गौरवपूर्ण पेशे' के लिए ट्रेड यूनियन की कल्पना भी बीभत्स थी। उनकी अपनी जर्नेलिस्ट्स इन्फर्नटिव्यूट थी, जिसके सदस्य पत्रकार और संचालक दोनों ही होते थे। वहाँ वे लोग पेशे के गौरव और महत्त्व को बढ़ाने वाले उपायों पर विचार करते थे। चूँकि उन बैठकों में कभी-कभी मालिकों की लड़कियाँ भी सम्मिलित होती थीं और चाय पिलाती थीं तथा बैठकों का सभापतित्व अक्सर संचालक लोग करते थे, इस कारण वहाँ वेतन व अन्य घरेलू झगड़ों पर चर्चा करना सम्भव था उचित नहीं था! आज जिस तरह हिन्दी पत्रकार ट्रेड यूनियन के नाम से चौंकते हैं, ठीक उसी प्रकार इंग्लैंड में तत्कालीन पत्रकार अपने को श्रमजीवी कहने में अपमान अनुभव करते थे।

पर धीरे-धीरे पत्रकारों में यह भावना उदित होने लगी कि उनकी ट्रेड यूनियन हो जिससे उन्हें भी वे सुविधाएँ मिल सकें, जो उनके प्रेस के अन्य कर्मचारी पा रहे थे, जो किसी ट्रेड यूनियन से सम्बद्ध थे। इंग्लैंड के प्रसिद्ध औद्योगिक व ट्रेड यूनियन केन्द्र मैचेंस्टर के पत्रकारों में इस भावना का पल्लवित होना प्रारम्भ हुआ। वे ट्रेड यूनियनों की बैठकों की कार्यवाही रिपोर्ट करने

जाते तो उनके मन में विचार उठता कि क्यों न उनकी अपनी ट्रेड यूनियन हो जो उनके अधिकारों और हितों की उसी प्रकार रक्षा करे जिस प्रकार यह मजदूर सभाएं कर रही हैं।

श्रमजीवी आन्दोलन का प्रारम्भ—

‘मैनचेस्टर गार्जियन’ के सहयोगी पत्र ‘ईविनिंग न्यूज’ में वाट्स चीफ रिपोर्टर थे। यद्यपि उनके मन में ट्रेड यूनियन स्थापित करने का विचार बहुत दिनों से था, पर वहाँ उन्हें ऐसे पत्रकार मिले, जो श्रमजीवी पत्रकार-संघ स्थापित करने के लिए दीवाने थे। आश्चर्यजनक बात यह थी कि उन दोनों पत्रों में पत्रकारों की स्थिति अन्य पत्रों की अपेक्षा बहुत अच्छी थी। संचालक सम्पादकाचार्य सी. पी. स्काट उदार थे और पत्रकारों व उनके संगठनों का सम्मान करते थे। नगर से उन दिनों समाजवादी पत्र ‘क्लेरियन’ भी निकलता था, जिसने अपनी निर्भोक्ता तथा सुसम्पादित साहित्यिक सामग्री के बल पर अच्छी ख्याति प्राप्ति कर ली थी। फ्रैंक रोज नामक एक मजदूर नेता और पत्रकार, जो पहले इङ्गलैण्डियर थे, इस पत्र की ‘ट्रेड यूनियन की चिट्ठी’ लिखते थे। २७ जुलाई १९०६ के अङ्क में उन्होंने एक लेख ‘पत्रकारों की ट्रेड यूनियन’ लिखा। इस लेख ने श्रमजीवी पत्रकार-संघ का आन्दोलन शुरू कर दिया और बाहर के पत्रकारों ने भी इस बारे में अपने विचार लिखे। चर्चा चल निकली और पत्रकारों की बैठकें होने लगीं। २० अक्टूबर १९०६ को मैनचेस्टर व जिले के असी पत्रकारों की एक सभा हुई। सभा ने निश्चय किया कि श्रमजीवी पत्रकारों का एक संघ बने और एक विधान समिति बना दो। एक माह बाद एक और बड़ी सभा हुई, जिसने नियमों को स्वीकार किया और बरमिंघम नगर में एक राष्ट्रीय सम्मेलन बुलाना तय किया। अन्य स्थानों में भी श्रमजीवी संघ बनाने की चर्चा चल पड़ी थी। राष्ट्र के श्रमजीवी पत्रकारों के नाम एक वक्तव्य निकाला गया, जिसमें विधान समिति की सिफारिशें थीं। केवल श्रमजीवी पत्रकारों के लिए ही सदस्यता सीमित रखी गई और मालिकों, मैनेजर्स तथा डायरेक्टरों

को अलग रक्खा गया। समिति की सिफारिश थी कि इस शर्त को कड़ाई से चरता जाय और वास्तव में वह बरती भी इस कड़ाई से गई कि संघ के प्रमुख संस्थापक व कार्यकर्ता लीथम को जो तीन वर्ष लगातार संघ के सभापति रहे, एक पत्र के प्रबन्ध सम्पादक हो जाने पर संघ की सदस्यता से प्रथक हो जाना पड़ा, यद्यपि वह पद छोड़ने के बाद वे पुनः संघ में आ गए। संघ के उद्देश्यों में तीन मुख्य थे :—

(१) वेतन, काम की स्थिति और पद के स्थायित्व सम्बन्धी शिकायतों को दूर करना।

(२) वेकारी, बुढ़ापे तथा अन्य संकटों में सहायता के लिए फण्ड कायम करना।

(३) पत्रकार वृत्ति से सम्बन्धित व्यवहार व शिष्टाचार के प्रश्नों का निपटारा करना।

इन सिफारिशों को समस्त राष्ट्र के पत्रकारों के पास भेजा गया। मैनचेस्टर के उत्साही कार्यकर्ता स्पेन्सर, रिचार्डसन, वाट्स, लीथम आदि ने विभिन्न स्थानों का दौरा किया और ट्रेड यूनियन का महत्व समझाया। बरमिंघम में ‘गार्जियन’ के चीफ रिपोर्टर आर. सी. स्पेन्सर के सभापतित्व में २९-३० मार्च १९०७ को जो प्रथम राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ, उसमें प्रत्येक उत्साही क्षेत्र के प्रतिनिधि आये थे। वहाँ पत्रकारों के राष्ट्रीय संघ (National Union of Journalists) की स्थापना की गई। नीति, नियम, अर्थ संचय सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण निश्चय किए गये और वाट्स को प्रधान मन्त्री नियुक्त किया गया, जो पर उन्होंने अवैतनिक रूप में जीवनपर्यन्त १९१८ तक निभाया। संघ के परिश्रमपूर्ण कार्य ने उनकी उम्र ही कम कर दी और वे बीमार पड़ गये। पर आज इंग्लैंड के पत्रकारों को जो सुविधाएँ मिली हैं उसका बहुत-कुछ श्रेय उन जैसे साधकों की लगन को है। उनका घर और पत्र का कार्यालय संघ के कार्य से ही चिरा रहता था। उनके साथी उनके पत्र का कार्य अपने सिर ले लेते थे और पत्नी तथा बच्चे उनके घर पर क्लर्क व चरसियों का काम करते थे। उनकी मृत्यु के बाद उन्हीं के कार्यालय के श्री रिचार्डसन ने संघ

का मन्त्रित्व अठारह वर्ष तक निभाया और संघ के महत्वपूर्ण आन्दोलनों को संचालित किया।

वद्यपि संघ का कार्य बड़े उत्साह से प्रारम्भ हुआ, चन्दा समय पर प्राप्त होता रहा, शाखाएँ संगठित हुईं व कार्यकर्त्ताओं के दल-के-दल तैयार हुए, फिर भी मार्ग में बड़ी कठिनाइयाँ थीं। लन्दन नगर के, जहाँ पत्रकारों की संख्या अत्यधिक थी, पत्रकार ट्रेड यूनियन में सम्मिलित होने में शिथिल होते थे। पत्रकार अपना जुद्ध वेतन बताना असम्मान-जनक समझते थे। इन्स्टीट्यूट जिसके पास अर्थाभाव न था, न वैतनिक कार्य-कर्त्ताओं का अभाव था, नगर-नगर में बहुत पहले से संगठित थी और उसे संचालकों का बल था। पर पत्रकारों की दयनीय अवस्था, कार्य-कर्त्ताओं के परिश्रम और देश में श्रमजीवियों के संगठन के प्रति बढ़ती सहानुभूति के कारण संगठन का काम चल निकला, सदस्य संख्या बढ़ने लगी और शाखाएँ स्थापित हुईं। संघ का पत्र निकलना भी प्रारम्भ हुआ। संघ का कार्य चलाने के लिए चन्दा प्रत्येक बैठक में करना पड़ता था। वार्षिक शुल्क बत्तीस शिलिंग रक्खा गया था, जो तत्कालीन बहुत-से पत्रकारों के एक सप्ताह का वेतन होता था, पर बिना इसके कार्य चलना असम्भव था। पहले छः

महीनों में सदस्य संख्या ७७३ हो गई, २२ शाखाएँ स्थापित हुईं और १०७ पौन्ड १ शिलिंग ७३ पेन्स चन्दा में प्राप्त हुआ। तीन वर्ष बाद १६६२ सदस्य बन चुके थे, ५४ शाखाएँ स्थापित हो चुकी थीं और २०५३ पौन्ड रक्षित कोष में जमा थे। १६४२ में संघ के ७४३२ सदस्य थे और ६६५३ पौन्ड की वार्षिक वचत थी। इस समय तक संघ बेकार, मालिकों से आन्दोलन में भाग लेने के लिए दण्ड प्राप्त, युद्ध पीड़ित, विधवा, अनाथ तथा अन्य आकस्मिक दुर्घटना में ग्रसित, व बड़े पत्रकारों को २०६,०३१ पौन्ड (लगभग ३१,३५,४६५ रुपये) सहायता में दे चुका है। आज इसके कार्यालय में वैतनिक मंत्री (वेतन ७५० - ५० - १००० पौन्ड वार्षिक), वैतनिक संगठनकर्त्ता, फायनेन्स अफसर व भरा-

पूरा कार्यालय है। आज सदस्यता शुल्क भी प्रति-वर्ष तीन पौन्ड अठारह शिलिंग है, जो एक प्रांतीय पत्रकार के प्रारम्भिक वेतन का चार दिन का वेतन होता है।

संचालकों से संघर्ष—

संघ के बाल्यकाल से ही संघर्ष प्रारम्भ हो गया। वस्तुतः इन संघर्षों ने ही पत्रकार संघ को बल दिया। 'सालफोर्ड टाइम्स' नामक पत्र के एक पत्रकार को, जो दो महीने टायफाइड से बीमार रहे थे, पन्द्रह दिन का नोटिस देकर निकाल दिया गया और बीमारी का वेतन नहीं मिला। संघ ने मुकदमा लड़ने का तय किया। अदालत ने अपने फैसले में संघ के इस दावे को स्वीकार कर कि पत्रकारों को बीमारी में पूरा वेतन व कम-से-कम एक मास का नोटिस मिलना चाहिये, सञ्चालक के विरुद्ध डिग्री दे दी।

'शेफील्ड टेलीग्राफ' नामक दूसरे पत्र में एक सदस्य रिपोर्टर नियुक्त हुआ। तीन सप्ताह बाद उन्हें एक एग्रीमेण्ट पर दस्तखत करने पड़े, जिसमें लिखा था कि पत्र छोड़ने के बाद वह नगर के इर्द-गिर्द बीस मील तक के किसी पत्र कार्यालय में किसी भी हैसियत से काम नहीं कर सकेंगे। पर कह यह दिया गया कि इसको लागू नहीं किया जायगा। उन्होंने कुछ समय बाद वह पत्र छोड़ दिया और छः माह उपरान्त दूसरे स्थानीय पत्र में नौकरी करली। इस पर 'टेलीग्राफ' ने उन्हें एग्रीमेण्ट की याद दिलाई और पिछली नौकरी देने का वायदा किया। जब वे न हटे तो उनके खिलाफ दावा दायर किया गया कि उनको दूसरी जगह काम करने से रोका जाय। मुकदमा लड़ा गया और संघ की ओर से विशिष्ट पत्रकारों ने गानाहियाँ दी कि ऐसी प्रथा कहीं भी प्रचलित नहीं है और अनैतिक है। पर जज ने पत्र के माफिक फैसला दिया। इसकी अपील की गई। काफ़ी धन का प्रश्न था और नगर की पत्रकार संघ शाखा भी अधिक धन व्यय करने का विरोध कर रही थी। पर कानूनी सलाहकार (जो अवैतनिक थे) की राय पर अपीली दायर करना तय हुआ और उसमें संघ विजय

हुआ। इसमें अदालत से खर्च मिलने के बाद भी दो सौ पौण्ड व्यय हुआ, पर विजय भी अभूत-पूर्व थी। वर्षों से यह काम चला आ रहा था और संघ की कार्यवाही पर ही रुका।

‘थोर्क शायर हेरल्ड’ नामक पत्र में पत्रकारों से इतना अधिक काम लिया जाता था कि हालत असह्य हो उठी। संघ की कार्य-समिति का डेपूटेशन अधिकारियों से मिला, पर कोई फल न निकला। उलटे प्रधान रिपोर्टर को अनुशासन के नाम पर निकाल दिया गया। तब अन्य पत्रकारों ने इस्तीफा दे दिया और संघ ने उनको आर्थिक सहायता दी व देश के अन्य पत्रकारों से ‘डेली-न्यूज’ में एक विज्ञापन निकाल कर आरील की कि उस पत्र में काम न करें। नगर में सभाएं हुईं और संघ के मुख-पत्र में सारा केस छपा। जिन सदस्यों ने काम करना चाहा उनसे जवाब तलब किया गया। यह प्रतिबन्ध कई वर्ष तक रहा। पर जब प्रतिबन्ध हटा तो वहाँ की हालत बहुत सुधर गई थी। इस आन्दोलन के फलस्वरूप अन्य पत्रों की भी हालत सुधरी।

पार्लामेंट द्वारा कानून बनवाने और पत्रकार-हितों के विरोधी कानूनों में संशोधन कराने का भी काम संघ ने किया। स्थानीय अदालतों में तथा बच्चों की अदालतों में पत्रकारों के प्रवेश, तलाक अदालतों के फैसले के प्रकाशन आदि के सम्बन्ध में कानून बनवाये गए और बिलों में संशोधन कराये गए। पार्लामेंट की प्रेस गैलरी के सदस्यों तथा पार्लामेंट के पत्रकार सदस्यों की एक शाखा संगठित की गई, जो इन प्रश्नों और गैलरी के पत्रकार हितों का ध्यान रखती रही। इस शाखा में भू० पू० अर्थ मन्त्री फिलिप स्नोडन, वर्नन वार्टलेट, आर्थर हेरडर्सन, होरेवेलिशा जैसे विशिष्ट राजनेता व पत्रकार भी रहे हैं। मजदूरों को अनिवार्य बीमा कराने का जो इन्श्योरेन्स बिल स्वीकृत हुआ, उसकी धाराएँ पत्रकारों पर भी लागू हों, इसका भी सफल प्रयत्न किया गया। विदेशों में पत्रकारों को भेजने, सेंसरशिप के विरोध तथा फौजी अदालतों से

पत्रकारों की रक्षा के भी विभिन्न प्रयत्न किये गये।

वेतन-वृद्धि का आन्दोलन —

पर संघ का सबसे महत्वपूर्ण कार्य वेतन वृद्धि का आन्दोलन रहा है। प्रथम अधिवेशन में ही एक न्यूनतम वेतन निश्चित करने का प्रस्ताव आया था और छै पौण्ड मासिक सुभाषा भी गया था। लेकिन उस समय यह सोचा गया कि पहले जाँच कर ली जाय। पर पत्रकार अपना वेतन बताने में सझोच करते थे—जैसा कि आज के हिन्दी पत्रकार करते हैं—और आँकड़े एकत्र करने में काफ़ी समय लगा। स्थानीय शाखाएँ इस बारे में आगे बढ़ना चाहती थीं, पर यही उचित समझा गया कि एक राष्ट्रीय नीति तय हो जाय। १९१४ के वार्षिक अधिवेशन में एक राष्ट्रीय कार्यक्रम निश्चित हुआ। स्थानीय शाखाओं ने इसके बल पर कुछ तरकियाँ प्राप्त कीं, परन्तु आन्दोलन ने जोर तब पकड़ा जब लन्दन की न्यूज पेपर प्रोप्राइटर्स असोशियेशन ने (जिसमें लन्दन के अधिकांश संचालक सदस्य थे) संघ को प्रतिनिधि संस्था मान कर पत्रकारों के वेतन सम्बन्धी उसकी बहुत-सी माँगों को स्वीकार कर लिया। खेल के पत्रों के तथा महिला पत्रकारों को छोड़ कर २१ पौण्ड तथा २१ पौण्ड मासिक के प्रारम्भिक वेतन (रिपोर्टों, उक्त सम्पादकों तथा प्रेस गैलरी के पत्रकारों के लिए) स्वीकार किये गये। महिला पत्रकारों, खेल के पत्रकारों व प्रेस फोटोग्राफ़रों का मामला संघ लड़ता रहा और बाद में ये माँगें भी स्वीकृत हो गईं।

उत्तर इंग्लैण्ड के पत्र संचालकों ने समझौता कर लिया और पत्रकारों को एक युद्ध बोनस देना स्वीकार किया। लन्दन नगर में भी युद्ध बोनस मिलने लगा था। १९१६ में देश के पत्र सञ्चालकों की सबसे बड़ी संस्था न्यूज पेपर सोसायटी से एक समझौता हुआ जिसमें संघ के सदस्यों को वारह पौण्ड मासिक से सत्रह पौण्ड मासिक तक का न्यूनतम वेतन स्वीकार किया गया।

युद्धोपरांत संघ ने इस समझौते को बदलना चाहा और अपनी दूसरी माँग रखी। पर सोसायटी ने उन्हें स्वीकार नहीं किया। हाँ, संघ की पंच फैंसले की माँग मान ली। संघ ने विभिन्न श्रेणी के पत्रों के खर्चाल से बाईस पौण्ड मासिक से बीस पौण्ड मासिक तक का वेतन माँगा था। पंचायत में संघ का मामला उत्साही मन्त्री रिचार्डसन ने बड़ी योग्यता से रक्खा। फैंसले में सोलह पौण्ड से लेकर बाईस पौण्ड तक की माँग स्वीकार कर ली गई।

दक्षिण इंग्लैंड तथा स्कॉटलैंड के पत्रकारों के लिए भी संचालकों से ऐसे ही समझौते किए गये। १९२१ में लन्दन के पत्रकारों ने अपने निखले समझौते को रद्द कर नए ग्रेड निश्चित करने की माँग रखी। वे ४२ पौण्ड मासिक न्यूनतम वेतन और एक मास की छुट्टियाँ चाहते थे। पत्र संचालकों ने इस माँग पर बहुत आपत्ति की और कहा कि पत्र दे ही नहीं सकते। पर जब शाखा ने बहुमत से यह तय कर दिया कि माँग मंजूर न होने पर हड़ताल की जाय तो माँग मंजूर कर ली गई। इन समझौतों में धावर परिवर्तन होते रहे और न्यूनतम वेतन तथा अन्य सुविधाओं में तरक्की होती रही। जूनियर पत्रकार तथा नौसिखियों के ग्रेड आदि निश्चित हुए और यह भी तय हुआ कि पत्र-कार्यालय में कितने सीनियर व जूनियर रहें। एक बार हड़ताल की धमकी दे देने या पार्लामेंट की शरण लेने के सुभाव पर न्यूज-पेपर सोसायटी ने साढ़े पाँच दिन का सप्ताह भी मान लिया।

अन्य श्रमजीवियों के साथ सम्बन्ध—

वेतन वृद्धि के आन्दोलन में संघ को जो सफलता मिली उसका एक बहुत बड़ा कारण था। अकेले पत्रकारों का संचालकों पर पूरा दबाव नहीं पड़ता था और वे उनकी बात सुनने से भी इन्कार कर देते थे। ट्रेड यूनियन आन्दोलन की मूल भावना भी अन्य श्रमजीवियों का साथ देने की थी। पर पत्रकार इसके लिए काफ़ी समय में

तैयार हुए। प्रेस के समस्त कर्मचारियों की काम के विचार में अलग-अलग यूनियनों थीं और उनका संघ 'प्रिंटिंग एण्ड किट्टिंग ट्रेड्स फेडरेशन' कहलाता था। लगभग छह साल तक यह विवाद चलता रहा कि उस संघ से सम्मिलित हुआ जाय नहीं। संघ में जो उग्र विचारधारा वाले थे वे तो पक्ष में थे, मैनेजर ने इस दिशा में भी नेतृत्व किया, पर अन्य पत्रकार विशेषतः लन्दन के इसके विरुद्ध थे। धीरे-धीरे यह विरोध कम होता गया और १९१६ में बहुमत ने सम्बद्ध होना निश्चित किया। इस फेडरेशन की बड़ी शक्ति थी। प्रेस के समस्त कर्मचारियों पर प्रभाव होने के कारण कार्यालय का सारा कार्य बन्द किया जा सकता था। न्यूजपेपर सोसायटी ने जो समझौता किया या लन्दन के संचालकों ने ४२ पौण्ड मासिक वेतन की माँग को स्वीकार किया उसके पीछे इस संघ का बल था। लन्दन के पत्रकारों की माँग तो फेडरेशन के अधिकारी होयस महोदय लेकर गये थे और उनके समर्थन का तत्काल प्रभाव पड़ा। संचालकों व नौकरों की सम्मिलित उद्योग कौन्सिल में, जो सरकार द्वारा अधिकार प्राप्त संस्था थी, इस फेडरेशन का प्रतिनिधित्व था।

ट्रेड यूनियन कांग्रेस से सम्बद्धित होने में काफ़ी समय लगा। पत्रकार संघ में विभिन्न विचारधाराओं के व्यक्ति थे और ट्रेड यूनियन कांग्रेस सिर्फ मजदूर दल का समर्थन करती थी। यह सम्बन्ध भी १९२६ की हड़ताल के बाद जब पत्रकार संघ ने हड़ताल नहीं की, पर ट्रेड यूनियन कांग्रेस ने समाचार-पत्रों में हड़ताल कराने का निश्चय किया, टूट गया और फिर १९४० में पत्रकार संघ पुनः कांग्रेस से सम्बद्धित हुआ। इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि पत्रकारों में ट्रेड यूनियन भावना का पूरा-पूरा विकास बड़ी कठिनाई और काल के प्रभाव से ही हुआ।

लाड नार्थक्लिफ का समर्थन—

संघ को यह गौरव प्राप्त रहा है कि आधुनिक युग के सर्वश्रेष्ठ आदर्शवादी सम्पादक सी. पी.

स्काट के सहयोग और उनकी छत्र-छाया में इसका जन्म हुआ। इसको दूसरा गौरव यह भी प्राप्त हुआ कि वर्तमान युग के क्रांतिकारी और सफल पत्र संचालक लार्ड नार्थक्लिफ ने इसे अपना आशीर्वाद दिया और लन्दन में इसकी थक बैठा दी। संघ के एक भोज में सन्देश भेजते हुए उन्होंने लिखा था—“पिछले बीस वर्षों में हमारा रोजगार एक तुच्छ, बिखरे हुए और कम वेतन भोगी मजदूरी से बढ़ कर एक नियमित पेशा हो गया है, जिसमें स्त्री-पुरुषों को काम के अधिक अवसर प्राप्त होते हैं। इसलिए यह और भी आवश्यक हो गया है कि पत्रों में काम करने वाले अन्य पेशों का अनुकरण करें और आपसी रक्षा तथा सहयोग के लिए संस्था बनावें। सब प्रकार की समय बचाने वाली मशीनों ने पिछले वर्षों में शारीरिक श्रम अवश्य हलका कर दिया है, पर मानसिक थकान अधिक होती है। इसलिए आवश्यक है कि पत्रकार लोग लम्बी वार्षिक छुट्टियों और अच्छा वेतन पाने के लिए संगठित हों।

“मेरी राय में यह उचित अथवा बुद्धिमत्ता-पूर्ण नहीं है कि पत्र संचालक और पत्रकार एक ही संस्था के सदस्य हों। मुझे यह देख कर बड़ी प्रसन्नता हुई है कि आपकी संस्था में मालिकों के प्रति खुशामदी या उनकी संरक्षकता प्राप्त करने की-सी बात नहीं है।”

लार्ड नार्थक्लिफ ने अपने पत्रकारों को वेतन तथा छुट्टियों सम्बन्धी इतनी सुविधाएँ दीं थी कि उनका नाम पत्रकार कला के इतिहास में सदैव स्मरणीय रहेगा। उन्होंने अपने पत्र ‘डेलीमेल’ में संघ को एक कालम दिया और पत्र संचालकों व लन्दन के पत्रकारों में जो पहला समझौता हुआ उसमें उनका पूरा-पूरा हाथ था। उनके इस समर्थन का प्रभाव यह भी पड़ा कि लन्दन नगर में पत्रकार सदस्यों की संख्या बढ़ गई।

बर्नार्ड शा, एच. जी. वेल्स, चेम्बरलैन, मेन्सफील्ड, बर्नन बार्टलेट जैसे प्रसिद्ध पत्रकार इस संघ के सदस्य रह चुके हैं। स्काटलैंड व

आयरलैंड में भी संघ की शाखाएँ हैं। देश में ८८ पत्र कार्यालय तो ऐसे हैं जहाँ पर सारे-के-सारे कार्यकर्ता पत्रकार संघ के सदस्य हैं।

आदर्शों की रक्षा—

संघ का कार्य पत्रकारों के वेतन तथा छुट्टियों के लिए लड़ना मात्र ही नहीं रहा है। यह सच है कि १९२६ से पिछले आठ वर्षों में संघ के प्रयत्नों के फल-स्वरूप सदस्यों को चालीस लाख पौण्ड की अतिरिक्त आमदनी हुई। सदस्यता का औसत लगावें तो प्रति सदस्य एक हजार पौण्ड मिला जब कि उसने शुल्क में केवल चौबीस पौण्ड ही दिए। पर संघ के कार्यों की समाप्ति यहीं पर नहीं हो गई। प्रेस की स्वाधीनता के लिए संचालकों से सहयोग कर संघ ने प्रयत्न किया व सेंसरशिप का विरोध किया। नागरिक स्वाधीनता संघ की तथा अन्तर्राष्ट्रीय पत्रकार संघ की स्थापना में संघ का योग महत्वपूर्ण रहा। कई कार्यकर्ताओं ने पत्रकार कला की शिक्षा के लिए प्रयत्न किया और लन्दन विश्वविद्यालय में पत्रकार कला विभाग स्थापित कराया। संघ की ओर से एक डाक द्वारा शिक्षा की पद्धति चल रही है, जिससे बहुत से पत्रकार लाभ उठाते हैं।

संघ ने पत्रकारों में सहयोग, स्वतन्त्रता और सद्भावना का प्रसार किया है। संचालकों के स्वार्थों के लिए पत्रकारों की शक्तियों का अनुचित प्रयोग संघ ने कभी स्वीकृत नहीं हुआ। एक शिकायत की गई कि एक पत्रकार ने सनसनीखेज खबरें बनाने के लिए व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का दुरुपयोग किया। संघ ने सनसनीखेज खबरों की नीति के बारे में अपनी राय ‘पत्रकारों के शिष्टाचार के नियम’ बना कर दी, जिसमें यह स्पष्ट कर दिया गया कि कोई पत्रकार ऐसे कार्य न करे जिनसे वृत्ति के गौरव पर कलह लगे। यदि किसी पत्रकार को ऐसे कार्य करने के लिए बाध्य किया जाय और उसे आदेश दिये जाय तो उसकी अपराध में निकाला जाय तो उसकी आर्थिक सहायता करेगा। पत्रकारों

आदर्श-प्रियता तथा नैतिक मान बढ़ाने में संघ ने जितना कार्य किया उसकी साक्षी में 'टाइम्स' के संचालक लार्ड रिडेल ने कहा था—"संघ का शरीर ही नहीं है, उसके एक आत्मा भी है।"

संघ की स्वतन्त्र वृत्ति की सराहना करते हुए जी. के. चेस्टरटन ने संघ को एक सन्देश में लिखा था—"पत्रकार कला का उद्देश्य नीचे की आवाज (प्रजातन्त्र) था। ख़तरा यह है कि आज यह ऊपर की आवाज हो गई है। सिवाय पत्रकारों के जनतान्त्रिक संगठन के मेरे सामने इसके सुधार का और कोई दूसरा रास्ता नहीं दीखता, इसलिए मैं आपके स्वास्थ्य के लिए पान करता हूँ।" डेली क्रोनीकल के सम्पादक मि० राबर्ट डोनाल्ड ने एक भेंट में कहा था कि जिस संघ के सदस्यों में इतना स्वार्थ-साम्य, साथीपन और उत्साह हो उनको प्रेरणा देने वाली अवश्य कोई बड़ी नैतिक शक्ति होगी। एच. जी. वेल्स ने बड़े-बड़े धनिकों द्वारा पत्रों के खरीदे जाने के सम्बन्ध में संघ को सन्देश देते लिखा—"एक स्वाधीनचेता, अच्छा वेतन प्राप्त और सुसंगठित पत्रकारों का संघ ही इस ख़तरे से रक्षा कर सकता है।" संघ के मुख-पत्र

में बराबर इस पहलू पर ध्यान दिया गया। लेखों में बराबर लिखा गया, "हमारा उद्देश्य एक या दो पौन्ड ज्यादा कमा लेना नहीं, बरन पत्रकारों के नैतिक अधिकारों की रक्षा करना है।" युद्ध में काम करने वाले एक पत्रकार ने लिखा—हमें संघ को और मजबूत बनाना चाहिए तभी हम सत्य का उद्घाटन कर सकेंगे।

जिस लगन तथा साधना से संघ का कार्य प्रारम्भ और संचालित हुआ उसकी प्रेरणा चन्दचांदी के दुकड़ों तक ही सीमित न थी। पत्रकार संघ आज इंग्लैंड की एक शक्ति है। आज इस संघ के तेईस-चौबीस सदस्य मजदूर दल की ओर से पार्लामेण्ट के सदस्य हैं। इस श्रमजीवी संघ ने पत्रकार-कला की उन्नति में जितना योग दिया है उतना कम संस्थाओं ने दिया होगा।

आज हम हिन्दी पत्रकार उसी दशा में हैं जिसमें चालीस साल पहले इंग्लैंड के पत्रकार थे। यदि हम अपना संगठन कर उनसे कुछ सीख सकें तो क्या हमारा भविष्य भी आशाप्रद न होगा ?

टीकमगढ़]

नेशनल यूनियन आव जर्नलिस्ट्स के प्रथम संस्थापक मन्त्री मिस्टर वाट्स 'मैचेस्टर गार्जियन' के सायंकालीन पत्र 'ईवनिंग न्यूज़' के चीफ रिपोर्टर थे। एक बार वे एक रेल-दुर्घटना के समीप के स्टेशन पर पहुँचे तो वेटिंग रूम में बहुत से रिपोर्टर बैठे अपने-अपने तार लिख रहे थे। जिस समय वाट्स अन्दर घुसे किसी ने उनको नाम से पुकारा। उनको देखते ही समस्त रिपोर्टरों में प्रसन्नता की एक लहर फैल गई। इतने में पास के देहात का एक रिपोर्टर उनके पास आया। उसने पूछा, "तुम वाट्स हो ?" उत्तर मिला, "हाँ !" "मैचेस्टर के ?" "हाँ।" "तो लो, यह मेरी 'कापी' है। ईश्वर को धन्यवाद है कि उसने मुझे इस बात का अवसर दिया कि जिस आदमी ने हम गरीब देहाती रिपोर्टरों के जीवन में कुछ आशा पैदा की, उसके मैं कुछ काम आ सका।"

इस प्रकार उक्त दुर्घटना का प्रामाणिक वर्णन उनको अनायास ही मिल गया। उनके कार्यालय के आदमियों को आश्चर्य हुआ कि किस प्रकार इतनी शीघ्र उन्होंने समाचार भेज दिया। बाद में जब वे कार्यालय में पहुँचे तो रहस्योद्घाटन हुआ।

क्रिश्चियन साइन्स मौनीटर

[अमेरिका का एक निराला पत्र]

बोस्टन नगर में क्रिश्चियन साइन्स मौनीटर के समाचार विभाग की गिरजाघर जैसी शांति को देख साधारण पत्रकार चकरा जायगा। यह विलकुल आस्वाभाविक-सा लगता है। अधिकांश टाइप-राइटर आवाज नहीं करते। शेष टाइप-राइटर भी गुँगे मालूम पड़ते हैं। सारी जगह उज्ज्वल, चमकीली और साफ-सुथरी है। सम्पादकीय मेज पर से धुँए के बादल उठते नहीं दिखाई देते। जहाँ तक पता लग सका है, किसी ने भी आज तक मौनीटर कार्यालय में सिगरेट नहीं पी है।

मौनीटर (जो कि क्रिश्चियन साइन्स चर्च की सम्पत्ति है) किसी साधारण दैनिक से अधिक संसार की घटनाओं की खबरें छापता है। क्रिश्चियन साइन्स (ईसाई विज्ञान) की चर्चा सप्ताह में केवल एक दिन एक लेख में होती है। मौनीटर रविवार को नहीं छपता। विज्ञान सम्बन्धी लेख अंग्रेजी में व एक अन्य भाषा में घरेलू स्तम्भ में छपता है। मौनीटर एक पूरे राष्ट्र का पत्र है और अपने ढंग का अकेला है। इसके बहुत-से ऐसे भी पाठक हैं, जो गिरजाघर के सदस्य नहीं हैं।

१९०८ में मौनीटर के प्रथम अङ्क के अग्र-लेख में क्रिश्चियन साइन्स की संस्थापिका मेरी बेकर एडी ने अपना आदर्श एक ऐसा दैनिक पत्र बनाया था, जो किसी मनुष्य को हानि न पहुँचावे और सारी मानवता को आशीर्वाद दे।

सम्पादकों के सामने प्रारम्भ से ही यह समस्या रही है कि वे अपने दायित्व का निर्वाह इस प्रकार कैसे करें कि जिसमें श्रीमती एडी के आदेशों की भावना की रक्षा हो जाय और साथ ही मानव दुर्बलताओं एवं त्रुटियों को भी एकदम छोड़ देना न पड़े। पत्र में चटपटी चीजें नहीं दी जाती। इस अभाव की पूर्ति के लिए सम्पादक

घटनाओं के वर्णन में हास्य का पुट देने की नीति को उत्साहित करते रहे हैं। वर्तमान सम्पादक ब्रिंविन डी. केनहाम एक बार अपने पास सेबों की पिटारी भरे रखते थे और जो समाचार सम्पादक प्रथम पृष्ठ में ताज़गी लाने के लिए सबसे मजेदार चुटकुला तैयार करता था उसे एक सेब इनाम मिलता था।

मौनीटर की समाचार सम्बन्धी आधारभूत नीति 'उत्तरदायित्व' की रही है। समाचार संग्रह और सनसनी का स्थान गौण है। मौनीटर के सम्वाददाताओं से यह आशा की जाती है कि जो काम उन्हें सौंपा गया है उसमें वे संतुलित दृष्टि-कोण रखेंगे। कभी-कभी वे समाचार, जिनमें विवाद प्रस्तुत मामलों का एक ही पक्ष रहता है, रोक लिए जाते हैं, जिससे कि किसी दूसरे सूत्र से एक और समाचार प्राप्त हो सके और चित्र का पूरा पहलू सामने आ जाय।

इस समय बहुत थोड़े धार्मिक प्रतिबन्ध हैं, जो मौनीटर को संसार की प्रमुख घटनाओं का वर्णन करने से रोकें, पर अरराधों के बारे में अवश्य एक विशेष नीति है। चार्ल्स-चैपलिन के मामले में मौनीटर में एक भी लाइन नहीं निकली। पर यदि किसी अपराध का राष्ट्रीय महत्त्व है तो उसका संक्षेप में वर्णन कर दिया जाता है।

आज की समाचार सम्बन्धी नीति उस समय की नीति का आश्चर्य-जनक विकास है, जब कि बहुत ही संकीर्ण नियन्त्रण लागू किये जाते थे। पन्चीस साल पहले मौनीटर के पाठकों को एक अमेरिकन प्रान्त की विनाशकारी बाढ़ का पता तब लगा जब कि पत्र ने पीड़ितों की सहायता के लिए एक रेड क्रॉस फण्ड के चन्दे का समाचार छपा। मौसम के समाचारों का भी निषेध था। कोई बुरी घटना, जैसे बर्फ गिरने का जिक्र नहीं हो सकता था। स्वयं बर्फ को भी बुरा समझा

जाता था और उसके लिए 'सफ़ेदी का कम्बल' शब्द प्रयोग किया जाता था। 'सिंह के पैर के कीड़े और रोग' नामक पुस्तक की आलोचना करते समय 'मौनीटर' ने शीर्षक में से 'रोगों' शब्द हटा दिया था।

यह निषेधाज्ञाएं संस्थापिका महोदय ने नहीं चालू की थीं, वरन् उनके कुछ आवश्यकता से अधिक विवेकशील अनुयायियों ने कीं। जब वर्तमान सम्पादक केनहम ने सजीव रिपोर्टिंग के पूर्व उदाहरण ढूँढ़े तो उन्हें पता लगा कि श्रीमती एडी ने इसी प्रकार के एक-दूसरे पत्र 'क्रिश्चियन साइन्स सेन्शनल' में स्पेन-अमेरिका युद्ध में मृत व घायल सैनिकों की सूची प्रकाशित की थी। इसलिए द्वितीय महायुद्ध का वर्णन यथातथ्य रूप से हुआ और जापानियों के अत्याचारों को भी कुछ अधिक स्थान मिला।

बहुत-से अजीब निषेध धीरे-धीरे दूर हो गये हैं। विलिस ऐबट, जो १९२१ में सम्पादक हुए, पत्र को मौजूदा रास्ते पर लाए। इसके बाद ऐबट ने सम्पादन कार्य छोड़ दिया और एक भ्रमणशील सम्वाददाता हो गए। उन्होंने 'मौनीटर' के वैदेशिक सम्वाददाताओं के समाचार का भी स्तर निश्चित किया।

वे लोग आज कल भी उनकी इस परम्परा पर परिश्रम-पूर्वक चल रहे हैं कि निराले स्थानों में प्रवेश करें। कभी-कभी उनका उत्साह उन्हें साधारण रिपोर्टर से अलग बना देता है। जिन सम्वाददाताओं ने अमेजन नदी के खड़ प्रदेश की यात्रा की, उनमें इस पत्र के दक्षिणी अमेरिकन विशेषज्ञ रौलेण्ड हाल शार्प भी थे। उनका जंगल में ले जाने का सामान सबसे भिन्न था। उनके पास एक पानी साफ़ करने का इल्का यन्त्र, मच्छरों से बचाने वाला तम्बू और मुसाफिरी चारपाई, शिर टकने के लिये चटाई का टोप, सफ़ेद जीन की ब्रिजिस व काले चमड़े के जूते थे, जिनमें कागज के ऊँचे-ऊँचे भन्वे लगे थे, ताकि हांस ऊपर न चढ़ सकें। साथी रिपोर्टरों ने उनका मजाक उड़ाया, पर शार्प महोदय के पास इस

तैयारी के लिए पक्का जवाब था। वे सारे दल के वापस लौटने के बाद भी वहाँ पाँच महीने ठहरना चाहते थे और सब प्रकार की ऊँची नीची जगहें देखना चाहते थे।

मौनीटर के दूसरे भ्रमणशील सम्वाददाता आर. एच. मारखम ने इटली द्वारा अजीसीनिया की विजय की रिपोर्टिंग की थी। उनको एक खूबचर खरीदना पड़ा। खर्च का हिसाब प्रधान कार्यालय को भेजते हुए उन्होंने लिखा कि कोई सवारी मयस्सर नहीं थी। साथ ही उन्होंने उस खूबचर के सम्बन्ध में एक कहानी भी लिखी और उसकी इतनी चर्चा हुई, जितनी उनके गम्भीर युद्ध-समाचारों की भी नहीं हुई थी।

युद्ध से पहले साधारण समय में मौनीटर के दस प्रतिशत से अधिक ग्राहक संयुक्त राष्ट्र से बाहर के थे। यद्यपि इस पत्र की बिक्री कभी अधिक नहीं हुई (इस समय लगभग एक लाख पचपन हजार है), पर इसका प्रभाव अपेक्षाकृत कहीं अधिक है। उसका एक कारण यह भी है कि इसका प्रचार बहुत दूर-दूर तक है—जिस न्यू इंग्लैण्ड प्रान्त में यह प्रकाशित होता है वहाँ इसकी केवल पन्द्रह प्रतिशत प्रतियाँ बिकती हैं।

मौनीटर में संसार की राजधानियों के व्यापारियों के नियमित रूप से विज्ञापन आते रहते हैं। महिला पाठकों को कभी-कभी यह जान कर मनोरंजन होता है कि जिस आकर्षक सौदे का विज्ञापन हो रहा है, वह बोस्टन की किसी सड़क पर न होकर वैलिंगटन, न्यूजीलैंड में बिकता है। इस विज्ञापन प्राप्ति का एक कारण तो यह है कि अद्दालु क्रिश्चियन साइन्स मतावलम्बी अपने विज्ञापन देते हैं। दूसरे यह कि विज्ञापन-दाता यह समझते हैं कि मौनीटर के विज्ञापन की शक्ति बहुत है, क्योंकि चर्च के अनुयायी पत्र की बात पर बहुत गम्भीरता-पूर्वक ध्यान देते हैं।

मौनीटर में बराबर समाचारों को विज्ञापनों से अधिक स्थान मिलता है, जिस अनुपात में साधारण दैनिकों में नहीं मिलता। मत के

सिद्धान्तों के अनुकूल जितना विज्ञापन छूता है, उतना ही अस्वीकार भी कर दिया जाता है। निषेधों को सूची साधारण विज्ञापन व्यवस्थापक को भौंचक्का कर देगी। जो विज्ञापन स्वीकार नहीं किये जा सकते, उनमें निम्नलिखित भी सम्मिलित हैं :—चाय और कॉफी, तम्बाकू, शराब, दवाएँ और सामान, खाने के सामान, साबुन व खाल के रंग सम्बन्धी चीजें (जब उनका स्वास्थ्य के नाम पर प्रचार किया जाय) होटल, ठहरने के स्थान या यात्रा के विज्ञापन, यदि उनका विज्ञापन स्वास्थ्य के नाम पर किया जाय। स्कूल, कैम्प, यात्रा-समितियाँ, क्रिस्तान या कब्र खोदने वाले, पैरों और दाँतों का इलाज करने वाले, कान के सहायक यन्त्र, दवाएँ आदि।

पत्र का भविष्य व्यागर के चढ़ाव उतार पर निर्भर नहीं है। बुरे वर्षों में जितना भी घाटा होता है, क्रिश्चियन साइन्स प्रकाशन सोसायटी अपने ऊपर ले लेती है, पर मौनीटर का स्तर दिना हानि लाभ का ध्यान किये कायम रखा जाता है। कुछ सालों में पत्र अच्छी आमदनी भी देता है। प्रबन्ध और सम्पादन विभागों के ऊपर क्रिश्चियन साइन्स चर्च के पाँच संचालक कड़ी निगरानी रखते हैं। मौनीटर की सम्पादकीय

नीति साधारणतया प्राचीन पंथी रही है—राष्ट्रपति के निर्वाचन में सहानुभूति रिपब्लिकन दल को ओर रहती है। राष्ट्रपति रुजवेल्ट के 'न्यू डील' प्रोग्राम की भी कड़ी आलोचना हुई है, पर विदेशी मामलों में पत्र की नीति बराबर अन्तर्राष्ट्रीय रही है और घरेलू मामलों में भी इसके स्तम्भों से उदार दृष्टि से विचार किया जाता है।

इस मत के सदस्यों में यह गहरा विश्वास है कि पत्र उनका है। सम्पादक लोग अपने लेखकों की सत्य के प्रति उत्साह की कहानियाँ बताते हैं। उत्तर-पश्चिम के एक विशेष संस्करण के लिए एक पाठिका ने अपने क्षेत्र में महिला बालचरों के कार्य के सम्बन्ध में एक लेख लिखा। जिस समय संस्करण छपने वाला था, लेखिका का तार मिला—“कृपा कर लेख रोक लीजिये। गलती पकड़ी गई है। चिट्ठी आती है।”

लेख रोक लिया गया। बाद में जो पत्र आया, उसमें लेखिका ने स्पष्ट किया कि उसने लिखा था कि गर्ल स्कॉउट्स ने गोल चमत्तियाँ बेचीं, जब कि वास्तव में वे अण्डाकार थीं। मौनीटर के सम्पादक जानते थे कि यह घटना केवल मौनीटर में ही घट सकती थी।

['रीडर्स डायजैस्ट' से]

पेरिस में एक दंगे के समय मेथ्यू डेन्जल्ट नामक एक पत्रकार पत्थरों की बीछारों के बीच बैठ कर दंगे की क्षण-क्षण की प्रगति लिखता रहा। इस बीच एक मित्र खतरे से बच निकला तो उसके हाथों मेथ्यू ने संदेसा भेजा कि मैं मौके पर हूँ और बाद के समाचार भेजता हूँ। थोड़ी देर बाद ही फ़ौज ने गोली चलाना शुरू की और वह गिर पड़े। इतने में एक डाक्टर उनके पास आया और उसने पूछा कि क्या तुम घायल हो? उन्होंने उत्तर दिया कि इतना घायल हूँ कि लिख भी नहीं सकता। डाक्टर ने कहा, “लिखने में क्या रक्खा है? सब से मुख्य काम तो तुमको आराम करना है।” पत्रकार ने जवाब दिया—“आराम सब से मुख्य कार्य नहीं है। सबका अपना-अपना काम है। मेरी काम घटनाओं का वर्णन करना है। मेरी कलम लो और पृष्ठ के नीचे लिख दो—“सायंकाल तीन बज कर बीस मिनट। फ़ौज को गोली चलाने से तीन घायल हुए और एक मरा।” डाक्टर ने पूछा—“मरा कौन?” उसने उत्तर दिया—“मैं।” और इतना कहते-कहते उसके प्राण निकल गये।

पत्रकार का कर्तव्य

सी. पी. स्कॉट

पत्रकार-कला के मूल सिद्धान्त हैं—ईमानदारी, सफाई, साहस, न्यायप्रियता और पाठक तथा समाज के प्रति अपने कर्तव्य का ज्ञान। समाचार-पत्र प्रायः एक व्यक्ति या एक संस्था की सम्पत्ति होते हैं। उन पर किसी-न-किसी का एकाधिकार होता है और एकाधिकार वालों के मार्ग में कितने ही प्रलोभन होते हैं। इन प्रलोभनों को धृष्टता की दृष्टि से देखना, उनसे दूर रहना, समाचार-पत्र का मुख्य कर्तव्य है। अखबारों का खास काम खबरों का इकट्ठा करना है। पत्रकार का कर्तव्य है कि वह अपने जीवन को खतरों में डाल कर भी इस बात का खयाल रखे कि कहीं खबरें इकट्ठा करने में असत्यता की मिलावट तो नहीं की जा रही है। जो चीजें छुपती हैं, अथवा जो रोकी जाती हैं उनमें, समाचारों के छापने या न

छापने में कहीं सत्य पर पर्दा तो नहीं डाला जा रहा है। घटनाओं की रिपोर्टें ज्यों-की-त्यों होनी चाहिए। उनमें मिलावट करने का अधिकार किसी को नहीं। हाँ, टीका-टिप्पणी की स्वतन्त्रता सबको है। विपक्ष की खबरें दबा कर अपने पक्ष की छापना अथवा नमक-मिर्च मिला कर समाचारों को प्रकाशित करना अनुचित है। प्रचार का यह ढंग धृष्टता-पूर्ण है। अपने मित्रों की ही नहीं, अपने विपक्षियों की भी आवाज को यह अधिकार मिलना चाहिये कि वह जनता तक पहुँचे और न्याय का यह तकाजा है कि टीका-टिप्पणी करने में पत्रकार अपने ऊपर संयम रखे। स्पष्टवादिता बहुत अच्छी चीज है, पर न्याय-प्रियता उससे भी बढ़ कर है।

लोगों की लगन जानना और उसे प्रकट करना अखबार का पहला काम है। उसका दूसरा काम है लोगों में विशिष्ट और आवश्यक लगन पैदा करना। और तीसरा काम यह कि लोगों में जो दोष हों, उन्हें चाहे जितनी मुसीबत पड़े तो भी वेधड़क होकर बताना।

समाचार-पत्रों का संचालन सेवा-भाव से ही होना चाहिये। समाचार-पत्र एक भारी शक्ति है, परन्तु जिस प्रकार एक निरंकुश जल-प्रवाह पृथ्वी के कई भागों को डुबो देता है और फसल को नष्ट-भ्रष्ट कर देता है, उसी प्रकार निरंकुश पत्रकार की कलम की धार भी सत्यानाश कर देती है। उस पर अंकुश यदि बाहरी हो तो वह इस निरंकुशता से भी अधिक जहरीला साबित होता है। अतः लाभदायक तो अन्दर का ही अंकुश हो सकता है।

—महात्मा गांधी

मानव-जीवन का सच्चा सुख इसी में है कि जीवन का एक ऐसे उद्देश्य के लिए उपयोग किया जाय, जिसको आप महान् और उत्कृष्ट समझते हों; आप अच्छी तरह जीर्ण और जर्जरित हो जावें, पूर्व इसके कि कूड़े के ढेर में फेंक दिए जावें। और आप प्रकृति की एक शक्ति हों, न कि क्लेश, शोक और उपालम्भों के उग्र-ग्रस्त और लुप्त सृत्पिण्ड हों, जो सदा यही शिकायत करता रहता है कि संसार मुझको सुखी बनाने की ओर ध्यान नहीं देता।

—जार्ज बर्नार्ड शा.

लद्दाख-यात्रा की डायरी

ले० कर्नल सज्जनसिंह

[गतांक से आगे]

पाठकों को यह बताने की आवश्यकता नहीं कि हम धीरे-धीरे ऊपर चढ़ते जा रहे थे। भोजन के उपरांत हमने नदी का किनारा छोड़ दिया और तीन मील की चढ़ाई के बाद हम एक लम्बे-चौड़े मैदान के किनारे पहुँचे। हम ठीक पूर्व की ओर जा रहे थे। यहीं पर एक छोटी-सी पहाड़ी के तले गन्धक के गर्म सोते थे, जिनका पानी बहुत गर्म था। कुछ विश्राम के लिए यहाँ बैठ गये। वैसे यहाँ से हमें एक मील चल कर ठहर जाना था, परन्तु शिकारी और मोटों की सलाह हुई कि यहाँ और नेग्री के बीच डेरा डाला जाय तो नेग्री जाने के लिए डेरा उठाना न पड़ेगा। यह मैदान लगभग बारह मील लम्बा और दो से चार मील चौड़ा होगा। ब्रिटिश भारत की सीमा में इस मैदान में नेग्री के पहाड़ के दक्षिणी और तोकफू कोर्फू के मैदान के अतिरिक्त कहीं भी तिब्बती हिरन नहीं मिलता। मेरे नकशे में यह गरम सोता तथा नेग्री बताई हुई थी। कौंचोक ने यह भी बताया कि इस वर्ष इधर बहुत-से भेड़िये आ गए हैं। अतः हिरन तिब्बत की सीमा में भाग गए हैं। हम से एक महीने पूर्व एक जर्मन जोहरी यहाँ शिकार को आया था, जो हमें रास्ते में मिला था।

यहाँ से चलने के कुछ ही देर बाद हमें कई जगह तिब्बती हिरनों के पद-चिन्ह मिले। आकृति में भारतीय हिरनों के-से थे, परन्तु कुछ लम्बे और चौड़े थे।

एक जगह एक फुट गहरा तथा दो-ढाई फुट गहरा गड्ढा दिखा कर कौंचोक ने मुझ से पूछा कि यह क्या है? मैंने बता दिया कि यह हिरन की बैठक है, जहाँ हिरन दोपहरी में बैठ जाता है। एक हिरन ऐसी कई बैठकें बनाए रखता है। कारण, उसकी पीठ पर पिछली टाँगों के जोड़ के

पास कीड़े रहते हैं। वे वहीं अण्डे देते हैं और बढ़ते हैं। चार-पाँच से विशेष नहीं रहते। जब अधिक हो जाते हैं तो वे दूसरे नए हिरन पर चले जाते हैं। या उन्हें पुराने मार कर भगा देते होंगे। जब कभी ये कीड़े काटने लगते हैं तो दर्द के मारे हिरन एकदम उठ कर दौड़ लगाने लगता है और जब तक वे शांत नहीं होते, हिरन भागता ही रहता है। इस हरकत को देख कर प्रायः शिकारी आश्चर्य करते हैं कि बिना कुछ देखे यह हिरन क्यों भागता फिर रहा है? भागते-भागते जहाँ वे शांत हुए वहीं पास की बैठक में वह बैठ जाता है। यह सुन कर कौंचोक बोला, “ओहो, साहब ने सब पढ़ रक्खा है। इसी से ये सब बातें इनको मालूम हैं।”

इन गरम सोतों से हम पाँच-छः मील चल कर नदी के किनारे एक घूम में ठहरे। यहाँ पर किनारे ऊँचे होने के कारण हवा से बचत थी और नुर्तसी पास ही में काफी थी, जिसकी ईंधन के लिए अत्यन्त आवश्यकता थी। यहाँ पड़ाव न था, अन्यथा गोबर आदि मिलता। तम्बू वगैरह लगाने पर हम लोग तो चाय पीने में लगे, परन्तु मोख्तालोन दूरबीन लेकर कुछ मोटों के साथ निकल गया।

लगभग छः बजे उसने खबर दी कि एक हिरन चर रहा है। मैंने हत्तीबा को बुला कर कहा, “मैं सत्ताईस दिन से चलते-चलते थक गया हूँ। तू जाकर देख आ। यदि पास हो और मारने के दाव में हो तो मैं चलूँगा, अन्यथा कल देखा जायगा।” लगभग आठ घण्टे में वह लौट कर आया और चलने का आग्रह किया। साथ में चार घोड़े किए गये। तीन पर हम बैठे थे और एक मोख्तालोन के लिए था। उसके पास जाकर देखा, हिरन चर

रहा है, परन्तु ऐसा मैदान था कि कहीं से भी हम पाँच सौ गज के अन्दर नहीं पहुँच सकते थे। खर-उधर छोटे नालों में घुस कर बहुत देखा, परन्तु कहीं से भी पास पहुँचने की सूरत न दिखाई दी। इसी में उसने हमें देख लिया और फिर पूर्व की ओर नदी में उतरने लगा। अब हमने समझा कि दाव में आ जायगा। कारण, नदी के दोनों किनारों पर छोटे नाले अथवा भरका काफी थे। जहाँ वह उतरा था, नदी किनारे एक पत्थरों का ढेर कर रक्खा था। हमने यह तब किया कि इस पत्थर के ढेर के पास ढूँँ कर इसी की आड़ से नदी में देखा जाय। जब पत्थर तीन फलाँग रह गया तो घाड़ों से उतर कर मैं और मोख्तालोन ढूँँ के ज्यों-ज्यों ढेर पास आता जाता था, हमें झुकना पड़ रहा था। ढेर दो फुट से अधिक ऊँचा न होगा। अन्तिम पचास गज तो हमें बैठे-बैठे खिसकना पड़ा। जब पास पहुँचे तो हमारी साँस फूल गई थी। धीरे-से नदी में देखा तो आठ हिरन चर रहे थे, जो लगभग दो सौ गज होंगे। देख कर मोख्तालोन बोला, “अभी बन्दूक मत चलाओ। आँखें पड़े कर दम ले लो। हवा हमारी ओर चल रही है। अतः हिरनों को मालूम न होगा।” जब तक साँस ठीक न हुई हम दोनों मोटों की भाँति आँखें पड़े रहे। पन्द्रह मिनट के पश्चात् जब ठीक हो गए तो पुनः हिरनों को दूरबीन से देखा तथा उनके आसपास की भूमि भी देखी। हम यह चाहते थे कि और पास पहुँच जा सके तो अचानक है, परन्तु इस जगह से उत्तम कोई जगह न थी।

मैं जंगलों की शिकार खेला हुआ था। अतः इसनी दूर बन्दूक बहुत कम चलाई थी। बरसों मैं जब कभी चिड़ कर हिरन पर भले ही चलाता था, परन्तु लगती कभी न थी। मैंने मोख्तालोन को यह सब बता रक्खा था। उसने साफ़ा उतार कर पत्थर पर रख दिया और बोला कि इस पर बन्दूक रखिए और खूब मिला कर बन्दूक चलाइए। करने की आवश्यकता नहीं कि इस प्रदेश में हवा पतली होने के कारण दूर की वस्तु पास दीखती है। मुझे यह हिरन ऐसे मालूम देते थे,

माना अस्सी गज पर है। पाठक मेरे मन की दशा का अनुमान कर सकते हैं। सत्ताईस दिन टट्टू पर बैठे श्रीनगर से लगभग साढ़े चार सौ मील इन पहाड़ों को पार करता हुआ यहाँ पहुँचा था और फ़ैर करने का यह प्रथम अवसर था। दो बार बन्दूक जोड़ कर उतार ली। दिल में धुकधुकी लगी थी कि कहीं ऐसा न हो कि बन्दूक बच जाय। मोख्तालोन कई शिकारियों को देख चुका था। अतः वह मेरी दशा को खूब जानता था। उसने ढाढस बँधाते हुए कहा कि देर कितनी ही हो जाय, परन्तु ठीक शिस्त लेकर जब आग को लगने का विश्वास हो जाय तब फ़ैर कीजिए।

इन आठ हिरनों में पाँच नर तथा तीन मादाएँ थीं। मैंने बड़े को दूरबीन से पहिले ही छाँट लिया था। अतः दो बार उगी पर शिस्त लगा चुका था। जब वह ठीक आड़ा खड़ा चर रहा था तब मैंने तीसरी बार फिर बन्दूक जोड़ी और पूरा ध्यान लगा कर फ़ैर किया। फ़ैर के साथ ही हिरन कुलांट खा गया और दूसरे वहीं पर उछलने लगे। यह देख कर मोख्तालोन बोला, “शाबास ! और फ़ैर कीजिए।” फिर जोड़ कर फ़ैर किया तो एक हिरन की पीछे की टाँग टूट गई और वह दूसरों को छोड़ कर धीरे-धीरे नेम्री की ओर भगा, परन्तु दूसरे वहीं कूदते रहे। यह देख कर मोख्तालोन जो दूरबीन से देख रहा था, बोला, “शाबास ! बाँई ओर से नम्बर दो वाला हिरन बड़ा है। मरिए इसे भी।” मैंने फिर बन्दूक जोड़ी और फिर फ़ैर किया, परन्तु गोली नीचे उतरी। उस हिरन की आगे की टाँग घुटने के पास से टूट गई। अब सब हिरन नदी पार कर उत्तर की ओर के पहाड़ पर चढ़ने लगे, परन्तु दूसरे फ़ैर वाला हिरन बहुत धीरे-धीरे रुकता हुआ नदी-नदी जा रहा था। उसे देख कर मोख्तालोन बोला, “हुजूर, वह अभी तीन सौ गज होगा। जरा ठीक शिस्त मिला कर एक फ़ैर तो कीजिए, ताकि मर जाय।” मैंने फिर फ़ैर किया, परन्तु बच गया। इस प्रकार मोख्तालोन के प्रोत्साहन से मैंने दो फ़ैर और किए, परन्तु वह भी न लगे। तब मैंने

कारतूस खराब करना उचित न समझा और कह दिया कि अब न चलाऊंगा। वह बोला, “कोई दर्ज नहीं। इसकी पिछली टाँग जड़ से टूटी है। अतः दूर नहीं जावेगा। आज नहीं तो कल, हम इसे ढूँढ़ ही लेंगे। तीसरा हिरन मिलना कठिन है। कारण, इसकी आगे की टाँग छुटने के पास से टूटी है।” मोखतालोन ने ठीक ही कहा था। एक तो टाँग बहुत नीचे टूटी। दूसरे उसे दूसरे हिरनों का साथ था। अतः उसका दूर चले जाना सम्भव था और इतने धाव से वह मर भी नहीं सकता था। इसी बीच हवीचा और कौँचोक घोड़ों पर सवार एक-एक घोड़ा पकड़े भागते हुए हमारे पास आए। उन्होंने मरा हिरन तो नहीं देख पाया था, परन्तु दोनों घायल हिरन देख लिए थे। वे बोले कि घोड़ों पर बैठ कर पीछे की टूटी टाँग वाले हिरन का पीछा किया जाय तो अभी मिल सकता है। मैंने उन्हें मना करते हुए कहा, “वह स्वयं दर्द के मारे बैठ जायगा, परन्तु उसका पीछा किया और उसने देख लिया तो सम्भव है कि चौँक कर दूर भाग जाय और ऐसी जगह चला जाय, जहाँ हम पहुँच भी न सकें।” जब उन्होंने मरा हिरन देखा तो उसी ओर दौड़ पड़े। फोटे आदि ली गई और उसे उठा कर उक्त पत्थर के ढेर के पास रक्खा। अब तक आठ बज गए थे। दिन डूबने में घोड़ा ही समय बाकी था। अतः कौँचोक ने कहा, “अभी हमें दो-तीन मील लौट कर डेरे पर पहुँचना है। वहाँ से हिरन उठाने के लिए फिर आना पड़ेगा। अतः घायल हिरन को कल ढूँढ़ा जाय। अभी तो शीघ्र डेरे पर लौटना ठीक होगा।”

मैं भी इतने दिनों का थका-माँदा था। एक हिरन मार ही चुका था। इसलिए मैंने यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। मेरे नौकर भी कुछ न बोले। अतः हम लौट पड़े। मैंने अपनी ३७५ मैगनम हवीचा को दे दी थी। मोखतालोन के पास ३२-४० थी। मेरे लक्ष-भेद की प्रशंसा होती जा रही थी और हम दुइकी से पड़ाव की ओर जा रहे

थे। कौँचोक, मोखतालोन, हवीचा और मैं, हम क्रम से जा रहे थे। जब डेरा एक फलींग रहा होगा तो कौँचोक ने अपने साथियों को पुकारा। डेरानदी के ऊँचे किनारे के सहारे होने के कारण दक्षिण की ओर से ठीक पास न पहुँचे तब तक दीखता न था। जब लौट कर दूसरे मोटे ने आवाज दी तो उसने घोड़े को एकदम दबा दिया। मेरे नौकरों ने भी ऐसा ही किया। मेरा घोड़ा कब मानने वाला था। वह भी सरपट हो गया। मैं घोड़े का कच्चा सवार हूँ और बहुत डरता हूँ। मैंने लगाम खींच कर बहुत रोकना चाहा, परन्तु वह कब रुकने वाला था। इतने में पाँच गज पर एकदम उतार नज़ आया। यहीं से तीनों घोड़े उतरे थे। इस जगह होकर घोड़ा तो क्या, आदमी को भी शायद लाठी के सहारे उतरना पड़ना था। तीनों घोड़ों के फिसलने से धूल उठ रही थी। उसी में मेरा घोड़ा भी फिसला। मारे डर के मैं तो आँखें बन्द हो गईं। होश आया तो देखता क्या हूँ कि घोड़ा तम्बू के सामने खड़ा है। मोखतालोन ने पास आकर कहा, “हुजूर, क्या सोच रहे हैं? उतरिए और चाय काँप पीलिए।” यह सुन कर मैंने कहा, “देखता नहीं, पाँव काँप रहे हैं। मैंने कई बार कह दिया था कि जो घोड़ा सबसे पट्टा हो, वह मेरे लिए रक्खा करो। मैं अच्छा सवार नहीं हूँ। फिर भी तुम लोगों ने इधर सामने से घोड़े उतार दिए, जहाँ आदमी भी कठिनाई से उतर पाता और वह भी दौड़ कर!”

मोखतालोन बोला, “वाकई जगह खराब थी और मुझे भी डर लगा था। कारण, घोड़े उतरे नहीं, वरन् फिसले थे। हम लोग भी गरदन पर आ गए थे, परन्तु गिरे नहीं। हमें मालूम नहीं था कि इतनी खराब जगह थी, अन्यथा घोड़े रोक लेते। यह सब कौँचोक की बदमाशी है।”

मैंने कहा, “तुम्हें तो इतना भी होश रहा कि तुम घोड़ों की गरदन पर आ गए थे, परन्तु मुझे तो यह भी मालूम न हो सका कि

धोड़ा उतरा या किसला और मैं कैसे बैठ रहा ।”

कौंचोक सुन ही रहा था। बोला, “साहब, इतना नहीं उठते होंगे। शिकारी लोग तो खूब धोड़े भगाते हैं। इसके चार पांव होते हैं। अतः यह हमसे अच्छा चढ़ता और उतरता है। हम लोग खूतरे की जगह दो पांव होने के कारण किसल या गिर सकते हैं। यहाँ पर तो केवल मिट्टी थी। अगर गिर भी जाते तो चोट नहीं आती।” इन लोगों से बहस करना व्यर्थ था। अतः भविष्य में ऐसी जगह सावधानी से धोड़े उतारने की सबसे कष्ट कर भगा दिया। बहुत देर तक इस घटना का असर रहा। यह भी सोचना था कि यहाँ के धोड़े यदि मध्य-भारत में पहुँचें तो शिकार में बड़ा काम दें।

भोजन करके अन्धेरा होने तक उस हिरन को मोटा लोग उठा कर ले आए थे। मैंने कह दिया था कि इसका चमड़ा कल सबेरे निकाला जायगा। मुझे उसको भली प्रकार देखना था। रात को कम नींद आई। केवल जब कभी भपकी लगती रही।

गुरुवार २७ जुलाई.

आज सबेरे हमें हिरन की शिकार के लिए नेग्री की ओर जाना था। कारण, मैंने पुस्तकों में पढ़ा था कि नेग्री के मैदान में हिरन अच्छे और बहुत मिलते हैं। कौंचोक कह रहा था कि वहाँ कम हो गए हैं। इस वर्ष प्रथम तो हिरनों में बीमारी के आने से बहुत-से मर गए और द्वितीय यहाँ पर बहुत-से मेड़िए आ गए हैं। अभी एक महीने पूर्व यहाँ वह हो गया था।

कल वाले हिरन का चमड़ा निकाला गया। बड़े-बड़े सब बाल उड़ चुके थे। कहीं-कहीं पर जाड़ों के कुछ गुच्छे रह गए थे। कहने की आवश्यकता नहीं कि शीत-प्रदेश के जंगली जानवरों के जाड़ों में नए तथा लम्बे बाल ठण्ड से बचने के लिए आते हैं और जून तथा जुलाई में गिर जाते हैं। इस हिरन के भी पीठ पर

पिछली दाँगी के बराबर चार-पाँच छेद थे, जिनमें पेन्सिल से कुछ कम मोटे तथा जो के बराबर लम्बे कीड़े थे। यह कैसे पैदा होते हैं तथा केवल तिब्बती हिरन में ही क्यों होते हैं। यह तो कीट-विज्ञान के विशेषज्ञ ही बता सकेंगे। उन्हें भी इन सब बातों की खोज के लिए इस वीहड़ प्रदेश में आकर रहने का कई महीनों का उठाना पड़ेगा तथा कई हिरन मारने होंगे। तब कहीं वे कह सकेंगे कि इसके अण्डे कैसे होते हैं और बढ़ कर क्या होता है। सम्भवतः इल्ली की भाँति मकली या तितली बन कर उड़ जाता होगा। पर यह मेरा अनुमान मात्र है।

यह तिब्बती हिरन ऊँचाई में काले हिरन के बराबर होता है, परन्तु मोटा अधिक होता है। इसीसे इसमें काले हिरन की अपेक्षा मांस भी अधिक होता है।

टङ्गू आने में देर देख कर कारण पूछा तो मालूम हुआ कि टङ्गू रात को चरते हुए दूर निकल गए हैं। चाय के साथ दो त्रिस्कुट खाए। वे मीठे थे। अतः कुछ ठीक लगे, परन्तु अण्डे और रोटी में कोई स्वाद नहीं आया। जब मैं नासमिक पार किया, भूख ही नहीं लगती थी और न खाना ही अच्छा ही लगता था। रात को नींद भी नहीं आती थी। इससे स्वभाव भी काफी चिड़चिड़ा हो गया था।

लगभग दस बजे टङ्गू ढूँढ़ कर लाए गए और तब हम नेग्री की ओर चले। यह हम जानते थे कि अब हिरन चरते हुए नहीं मिलेंगे, परन्तु बैठे मिलेंगे, जिन्हें देखना बड़ा कठिन होगा। कारण, वे गड्ढों में बैठते हैं, जहाँ से केवल उनकी खोपड़ी ही दीखती है। दूसरे प्रकृति का यह नियम है कि जहाँ पर जो जानवर रहता है, वहाँ की मिट्टी-पत्थर से मिलता-जुलता जानवर का भी रंग होता है। यही हाल इन हिरनों का भी है। इस जन तथा वनस्पति शून्य प्रदेश में मील तो दूर है, परन्तु आधा मील पर भी बैठे हुए हिरन की खोपड़ी दूरबीन द्वारा देख लेना कठिन है।

हम लोग कल वाले घायल हिरन के खून तथा पद-चिन्ह देखते हुए नेत्री तक चले गए, परन्तु वह नहीं मिला। खून आधा मील के बाद दीखना बन्द हो गया। केवल वह जहाँ-जहाँ बैठा था वहाँ-वहाँ दिखाई दिया। नेत्री भी एक मैदान का नाम है, जो तीन ओर उत्तर, दक्षिण, पश्चिम हिमाच्छादित पहाड़ों से घिरा है। यहाँ पर भी हमें कुछ नहीं मिला, तब मोखतालोन तथा कौंचोक तो उक्त ज़ख्मी हिरन को नदी के किनारे के सरकों में ढूँढ़ते रह गए और मैं हवीवा के साथ वापिस चल पड़ा। एक जगह छोटी-सी पहाड़ी के नीचे एक हिरन बैठा दीख पड़ा। हम लोग एक घण्टे में बड़ी कठिनाई से उधर पहुँच पाए। ऊपर पहुँच कर मैंने टट्टू हवीवा को दिया और सोवधानी से ढूँढ़ता हुआ पहाड़ी पर, ज़िधर हिरन बैठा था, पहुँच गया। इस पर कोई ऐसी आड़ (पत्थर या पेड़) नहीं थी, जहाँ से मैं हिरन को देख सकता। अतः पेट के बल विसट कर मैंने ज्यों ही सिर उठा कर देखना चाहा कि हिरन ने मुझे देख लिया। वह मुझसे लगभग सौ गज होगा। मुझे इसी समय बन्दूक चला देनी थी, परन्तु दम फूला हुआ था। जब तक सांस ठीक हुआ, वह चल पड़ा और १५० गज की दूरी पर जाकर चरने लगा। इस समय मैंने जल्दी में फ़ैर किया। क्रीव में चार फ़ैर और किए, परन्तु न लगे। यह देख कर हवीवा बड़ा नाराज़ हुआ। बोला, “हिरन कल से आज इतना पास था, फिर भी आपने बचा दिया।” उसे समझाना व्यर्थ था। दोनों टट्टू पर बैठ कर डेरे की ओर चल दिए। जहाँ कहीं हमें ऊँची जगह में देखने सरीखा कोई टीला मिलता था, उतर कर दूरबीन से देख लेते थे। एक जगह त्रिलकुल मैदान में दो हिरन फिर नज़र आए। पाँच सौ गज से पास पहुँचने का कोई ढंग न देख कर मैंने हवीवा से कह दिया कि प्रयत्न करना व्यर्थ है, परन्तु हवीवा बोला, “हुज़ूर, मैं शिकारी तो नहीं हूँ, परन्तु कई बार शिकार में आया हूँ और मैंने कई पुराने शिकारियों से सुना और देखा है। यदि आप हँसे नहीं और मेरी बात मान कर जैसा मैं कहूँ करें

तो शर्तिया आपको सौ गज पर पहुँचा दूँगा।” मैंने पूछा, “पढ़िले तो बता कि मुझे क्या करना होगा। यदि मुझे उचित मालूम होगा तो करूँगा।” हवीवा ने कहा, “मैं आगे सिर झुकाए चलता हूँ। आप मेरे पुट्टे पर सिर टिका कर ठीक उसी तरह चलिए। ऐसा करने से हिरन हमें दो आदमी न समझ कर एक चार पाँव वाला जानवर समझेंगे और भागेंगे नहीं।”

हम बातें कर ही रहे थे कि इतने में वे हिरन खड़े हो गए। देख कर हवीवा बोला, “जल्दी कीजिए, अन्यथा वे भाग जाँयेंगे।” मैंने भी उसकी बात मान ली। एक ती वैसे ही दम फूलता है, ऊपर से हवीवा की नु के मारे दिमाग फट रहा था, परन्तु दूसरा उपाय ही नहीं था। वह कह रहा था, “यदि ये ब्रैटे होते तो सौ गज पर अवश्य ले जाता, परन्तु फिर भी दो सौ गज पर तो पहुँचा ही दूँगा। पीछे से खड़े होकर हिरन देखने का प्रयत्न न कीजियेगा।”

इस प्रकार हम लगभग तीन सौ गज चले होंगे, परन्तु मुझे तो ऐसा मालूम दिया मानों तीन मील चला होऊँ। उसने रुक कर कहा, “मेरी पीठ पर बन्दूक रख कर मारिए।” मैंने देखा कि दो सौ गज पर हिरन चौकन्ने खड़े हैं, परन्तु फेंकड़ों में सांस नहीं समा रहा था। मैंने कहा, “ऐसे दम चलते में बन्दूक कैसे चला सकता हूँ?” वह बोला, “अच्छा हुज़ूर, दम ले लीजिए।” परन्तु उसी समय हिरन भाग निकले। जब तक हम डेरे पर नहीं पहुँचे, वह बराबर मुझे विश्वास दिलाता रहा कि उसकी तरकीब उत्तम है और कल मैं उसी को लेकर शिकार को जाऊँ। मुझे तो इसमें सन्देह था और अब भी है। जब दूसरा कोई उपाय पास पहुँचने का न हो तो भले ही इसको किया जा सकता है।

लगभग सात बजे मोखतालोन ने बताया कि पिछली टॉंग टूटी वाला हिरन मिल गया था। बहुत धीरे-धीरे भागता है और जगह-जगह बैठ जाता है। उसने तीन फ़ैर भी किए, परन्तु न लगे। जब मैंने उसे हवीवा की तरकीब बताई

तो वह हमने लगा और बोला, "क्या हुआ भी हमें मानते हैं ? यह शिकार खेलना क्या जानता है !"

भूख बिल्कुल नहीं थी। सन्ध्या को थोड़ी चाय पीकर सोने का विचार किया। हमारा सोई बनाने वाला आकर बोला, "इस प्रकार आप भूखे रहेंगे तो शिकार खेलने के लिए बल बढ़ा रहेगा ? स्वाद न आवे तो क्या, कुछ तो

२३, कैट,
नीमच }

खा ही लीजिए।" मैंने उन लोगों की एक न मानी। यह तो मैं बता ही चुका हूँ कि इधर अण्डे के अतिरिक्त कोई चीज नहीं पकती, चाहे दो दिन चूल्हे पर चढ़ाए रहो।

यहाँ पर मच्छर बहुत हैं, परन्तु काटते नहीं हैं। तम्बू की छत मच्छरों के मारे काली हो गई। जब बादल होते हैं तो बाहर से हजारों मच्छर तम्बू में शरण लेने घुस आते हैं।

(क्रमशः)

यदि एक पत्रकार, चाहे वह पुरुष हो या स्त्री, एक लम्बे सप्ताह के अन्त की छुट्टी का समय ऐसे काम में व्यतीत करे, जिसका उसकी जीविका से कोई सम्बन्ध न हो तो वह काम करने के लिए अधिक ताज्जा, उत्साहयुक्त तथा कुशाग्र बुद्धि हो सकेगा।

—लार्ड नार्थक्लिफ

एक बार श्री गणेश शंकर विद्यार्थी युक्त-प्रान्तीय राजनैतिक कांग्रेस के सभापति हुए। 'प्रताप' में उक्त कांग्रेस के सभापतियों के चित्र छपते थे। इसलिए उनका चित्र भी छाप दिया गया। विद्यार्थी जी को मालूम हुआ तो उसका प्रकाशन उन्होंने बीच ही में रोक दिया। इसके बाद जब वे अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति हुए तब भी उन्होंने अपना चित्र प्रकाशित नहीं होने दिया।

लार्ड नार्थक्लिफ अपने पत्रकारों का बहुत ध्यान रखते थे। एक रोगी सम्वाददाता को उन्होंने लिखा :—

"मेरी प्रार्थना है कि कार्यालय की ओर से तुम कहीं घूमने चले जाओ और यदि कार्यालय तैयार न हो तो मेरे ही खर्च से कहीं घूम आओ। तुम और श्रीमती.... तब तक न लौटो जब तक कि तुम बिल्कुल स्वस्थ न हो जाओ। याद रखो कि अब तुम्हारा काम पत्र-सम्पादन नहीं, स्वास्थ्य-सम्पादन है।"

विराट

ख० स्टीफन जिवग

अनु०— यशपाल जैन बी. ए., एल-एल. बी.

[प्रस्तुत उपन्यास का कथानक स्टीफन जिवग ने भारत से लिया है। प्रारम्भ में ही उन्होंने भगवद्गीता के दो श्लोक ॐ बद्धृत किये हैं और उन्हीं के आधार पर कहानी की कल्पना की है। कहने की आवश्यकता नहीं कि भारतीय विचार-धारा से जिवग बहुत ही प्रभावित थे और आज से लगभग चालीस वर्ष पूर्व इस देश में पधारे भी थे।—अनुवादक]

लोकाख्यान

(यह उन विराट की कथा है, जिन्हें उनके देशवासियों ने उनकी सर्वगुण-सम्पन्नता के लिए सम्मानित किया था। फिर भी विजेताओं के इतिहास अथवा सन्तों के ग्रन्थों में कहीं एक शब्द भी उनके विषय में नहीं मिलता और उनकी स्मृति लोगों के मन से उतर चुकी है।)

अपने ज्ञान के प्रकाश से अपने सेवकों के हृदय परिपूर्ण करने के लिए जिस समय तेजस्वी बुद्ध इस भूमि पर निवास करते थे, उससे कुछ ही दिन पहले राजपूताना के महाराजा की प्रजा के रूप में वीरवाघेर प्रदेश में विराट नाम का एक कुलीन और सत्यनिष्ठ व्यक्ति रहता था। तलवार चलाने में उसे कमाल हासिल था, कारण कि वह एक महान योद्धा था। सबसे अधिक निर्भीक और शिकारी ऐसा कि जिसका निशाना कभी चूके ही नहीं। बर्छों पर तो उसका हाथ इतना सधा था कि मजाल नहीं जो इधर-उधर हो जाय। मुजाओं में बज्र के समान बल था। उसकी आकृति गम्भीर और आँखें किसी की भी निगाह के आगे झुकने वाली नहीं थी। क्रोध में कभी उसने मुट्ठी ऊँची नहीं की और न आवेश में कभी उसकी आवाज़ ही तेज़ हुई। अपने स्वामी का चूँकि वह स्वयं स्वामिभक्त नौकर था, इसलिए उसके सेवक भी उसकी आदर-पूर्वक सेवा करते थे। इसका एक कारण यह भी था कि पंच सरिताओं की उस भूमि में वास करने वाले समस्त निवासियों में न्याय की दृष्टि से उसका स्थान बहुत ऊँचा था। सत्पुरुष जब

उसके घर के आगे से निकलते तो भद्रा ते सिर झुका देते और बच्चों की निगाह ज्यों ही उस पर जाती कि उसकी चमकीली आँखें देख कर वे सुस्करा उठते।

लेकिन एक दिन की बात कि उसके स्वामी और दुर्भाग्य ने आ घेरा। महाराज की पत्नी का भाई, जो आधे राज्य का क्षत्र (वाइसराय) था, समूचे राज्य को हड़प लेने के लिए लालायित हो उठा और दुष्का-चोरी भेंट देकर उसने अपना स्वप्न पूरा करने के लिए राज्य के सर्वोत्तम योद्धाओं को अपनी ओर फौस लिया। पुजारियों को भी उसने इस बात पर राजी कर लिया कि अन्धेरा होते ही भीड़ में से वे उन राजहंसों को उड़ा लावें, जो हजारों वर्षों से वीरवाघेरवासियों के लिए राजत्व के चिन्ह थे। अपने हाथियों को उसने मैदान में हकट्टा किया और असन्तुष्ट

ॐ नहि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृते।

अध्याय ३ श्लोक ५

किं कर्म किमकुर्मते यज्ज्ञात्वा मोक्षयसेऽशुभात्।

अध्याय ४ श्लोक १६

पहाड़ी लोगों को बुला कर सज्जित कर राजधानी

की ओर कूच कर दिया। राजाजा से सबेरे से लेकर सन्ध्या तक पीतल की झाँके बजती रही और बाजों की ध्वनि होती रही। रात को मीनारों पर आग जला कर और उसमें मसाला डाल कर खतरे के संकेत के रूप में पीली रोशनी की गई, लेकिन बहुत थोड़े लोग आये। बात यह थी कि राजहंसों की खोरी का समाचार चारों ओर फैल गया था, जिसे सुन कर सरदारों के हृदय भीतर-ही-भीतर द्रुते जा रहे थे। सेनापति और हाथियों के अकसर, जो कि महाराजा के घोड़ाओं में अत्यन्त विश्वसनीय माने जाते थे, दुश्मन से जा मिले थे। परित्यक्त महाराजा ने मित्रों की सहायता इधर-उधर बहुतेरी निगाहें डंढाई; लेकिन निष्फल। खेद तो यह कि वह बहुत ही कठोर स्वामी रहा था। दण्ड देने को सदैव उद्यत और सामंती कर बमूल करने में बहुत ही सख्त। महल में तैनाती पर कोई भी भरोसे का सरदार नहीं रहा था और वहाँ गुलामों और छोटे-मोटे नौकरों की बेबस भीड़ ही दिखाई देती थी।

इस संकट की बड़ी में महाराजा का ध्यान विराट की ओर गया, जिसने महाराजा की वफादारी के साथ सेवा करने की ठीक उस समय शरय ली थी, जब कि बाजों की ध्वनि सुनाई दे रही थी। महाराजा आबनूस की पालकी में सवार होकर उस स्वामिभक्त सेवक के घर की ओर रवाना हुए। ज्यों ही वे पालकी से उतरे, विराट ने साष्टांग दण्डवत् किया; लेकिन महाराजा ने जब उससे सेना का नेतृत्व कर दुश्मन के खिलाफ़ उमका संचालन करने का अनुरोध किया तो उनकी आकृति ऐसी हो उठी, मानों वे प्रार्थी हों। विराट ने श्रद्धा से नत होकर कहा, “स्वामी, मैं आपकी आज्ञा का पालन करूँगा और जब तक बिद्रोह की अग्नि को शांत नहीं कर दूँगा, इस छत के नीचे कदम नहीं रखूँगा।”

अनंतर उसने अपने बेटों, सम्बन्धियों और

गुलामों को इकट्ठा किया और उन्हें साथ में लेकर बचे-खुचे राजभक्तों के साथ मिल कर आक्रमण के लिए अपनी फौजों को तैयार किया। सेना ने जंगल में होकर कूच किया और शाम होते-होते वे उम नदी के किनारे आये, जिसके दूसरी ओर अनगिनत संख्या में दुश्मन डेरा डाले पड़ा था। विद्रोहियों को अपनी ताकत का भरोसा था और वे पुल बनाने के लिए पेड़ काट-काट कर गिरा रहे थे। इसी पुल से अगले दिन सबेरे वे नदी पार करने और उस भूमि को खून में डुबो देने की आशा कर रहे थे। लेकिन एक चीते का पंछा करते हुए विराट को पुल के स्थान से कुछ ऊपर एक घाट का पता लग गया था। आधी रात के समय उसने अपने आदमियों को उसी घाट से नदी पार कराई और दुश्मन को अचानक जा घेरा। जलती मशालें लेकर स्वामिभक्त सैनिकों ने हाथियों और बैलों को आतंकित कर दिया, जिससे वे इधर-उधर दौड़ने लगे और सुतावस्था में पड़े दुश्मनों के दल में अव्यवस्था फैल गई। विराट पहला व्यक्ति था, जो राज्य को हड़प करने की इच्छा रखने वाले विद्रोही के डेरे में पहुँचा और सोने वाले पूरी तरह से जागें कि उनमें से दो को तलवार से उड़ा दिया और फिर तीसरा ज्यों ही अपने अख लेने आगे बढ़ा कि उसका भी काम तमाम कर दिया। चौथे और पाँचवें से अन्धेरे में ही उसकी भिड़न्त हो गई। उनमें से एक को तो उसने सिर पर वार करके काट गिराया और दूसरे की निश्शस्त्र छाती में बर्छी भोंक कर मौत के घाट उतार दिया। ज्यों ही वे सब प्राणहीन होकर एक दूसरे के सहारे गिरे, विराट डेरे के द्वार पर जा खड़ा हुआ, ताकि कोई भीतर आकर राजत्व के पावन प्रतीक उन श्वेत राजहंसों को चुरा न ले जाय। लेकिन ऐसा करने कोई आया नहीं। कारण कि दुश्मनों में तो भगदड़ मची थी और वे हर्षोन्मत्त विजयी स्वामिभक्त सैनिकों के दबाव के मारे मुसीबत में थे। बेरी के पीछा करने का

शोर शीघ्र ही घीमा पड़ गया। तब विराट तलवार हाथ में लिए डेरे के सामने बैठ गया और संगी-साथी सैनिकों के लौटने की बाट जोड़ने लगा।

थोड़ी ही देर में वनों के पीछे मंगलमय दिवस का उदय हुआ। बाल-रवि के प्रकाश में ताड़-वृक्ष स्वर्णिम हो उठे और नदी के क्षल में उनका प्रतिबिम्ब ऐसा प्रतीत होने लगा, मानों वे जलती मशालें हों। सूर्य एकदम लाल था, मानों पूर्व दिशा के वक्ष पर कोई भयंकर वाव हो। विराट उठा। वस्त्र एक ओर रखे और हाथ ऊँचे किए जलधारा की ओर बढ़ा। सूर्य भगवान के तेजस्वी नेत्र के समान प्रार्थना के रूप में सिर झुका कर वह नित्य कर्म के लिए पानी में घुसा और अपने हाथों से रक्त को बोककर साफ किया। अनन्तर प्रभात के प्रबल प्रकाश में वह किनारे पर लौटा और कड़े पहन कर डेरे की तरफ देखने चला कि रात में उसने क्या-क्या कर डाला। मृत शरीर पड़े थे। उनकी आँखें खुली थीं और चेहरे डर से बिगड़ गये थे। राजद्रोही का सिर कटा पड़ा था और साथ ही उस व्यक्ति का, जो वीरवाघेर की भूमि में प्रधान सेनापति के पद पर रहा था, छाती में तलवार भुक्ने से काम तमाम हो गया था। विराट ने उनकी आँखें बन्द कर दीं और उन मृतकों को देखने आगे बढ़ा, जिन्हें उसने सोते में ही मार डाला था। चटाइयों में अधलिपटे उनके शरीर पड़े थे। दो तो उनमें ऐसे थे, जिन्हें विराट पहचानता नहीं था। विद्रोही के गुलाम। वे दक्षिण-वासी थे। उनके रुई से बाल थे और चेहरे काले। लेकिन ज्यों ही विराट की निगाह अन्तिम शव पर गई, उसकी आँखें धुँधली हो आईं। उसने देखा कि उसके बड़े भाई बेलंगर का सिर उसके सामने पड़ा है। वह पहाड़ी प्रदेशों का राजा था और राजद्रोही की सहायता के लिए आया था। विराट ने बिना जाने-बूझे उसे मार गिराया। कंफकंपाता वह भुका कि देखे कि कहीं उस भूले-भटके व्यक्ति में स्पन्दन शेष है या नहीं। लेकिन उसके

हृदय की गति तो सदैव के लिए थम गई थी। मृतक की काली-काली चमकीली आँखें उसकी ओर ऐसे ताकती थीं मानों विराट की आत्मा को ही बेध डालेंगी। विराट मुरिकल से साँस ले सका और वहीं मृतकों के बीच बैठ गया। उसे लगा, जैसे वह भी उन्हीं में से एक है। 'उमने अपनी आँखें अपनी माँ की उस प्रथम संतान की निगाह पर से हटा लीं, जो उसे अपराध ठहरा रही थी।

इसके बाद शीघ्र ही बाहर आवाजें सुनाने लगीं। सिपाही डेरे को लौट रहे थे। उनके हृदय में आनन्द की लहरें हिलारें ले रही थीं और लूट-मार के धन से सम्पन्न हो वे शिकारी चिड़ियों की भाँति इषांगमत्त होकर चीख रहे थे। यह देखकर कि राज्य में विद्रोह की अग्नि प्रज्वलित करने वाला और उसके संगी-साथी मारे गये हैं और यह जान कर कि पवित्र राजहंस सुरक्षित हैं, वे खुशी से उछलने और नृत्य करने लगे। उत्सास में भर का वे बेभुध विराट की पोशाक चूमते थे और चिल्लाते थे कि तलवार चलाने में वह अपनी समान नहीं रखता। जब अधिकांश सिपाही लौट आये तो उन्होंने अपनी लूट-मार का सामान गाड़ियों पर लदा। बोझ के मारे गाड़ियों के पहिए जमीन में इतने घँस गये कि खींचने के लिए भैंसों में उन्हें आर लगानी पड़ी और नवों के डूब जाने का खतरा दीखने लगा। एक सन्देशवाहक जलधारा को पार करके महाराजा के पास समाचार लेकर चला। शेष सब सामान के साथ रह गये और विजय पर खुशी मनाने लगे।

इस बीच विराट खामोश बैठा था, मानों सपना देख रहा हो। केवल एक बार उसके मुँह से आवाज निकली, जब कि सिपाही मृतकों के शरीर से कड़े उतारने लगे। विराट उठ खड़ा हुआ और उसने आदेश दिया कि शवों की दाह के लिए चिताएं तैयार की जायें, जिससे उनकी आत्मा पवित्र होकर आवागमन के चक्र में प्रविष्ट हो जायें। नौकर-चाकर आश्चर्य-चकित थे कि वह उन षड्यंत्रकारियों

के साथ ऐसी दयालुता का बताना क्या कर रहा है, जिनकी बोटियाँ गीदड़ों से नुचवा डालनी चाहिए थीं और जिनकी हड्डियाँ सूर्य के प्रकाश में निखरने के लिए छोड़ देनी चाहिये थीं! लेकिन फिर भी जो आशा उन्हें मिली, उन्होंने उसका पालन किया। चिताएं जब देवार हो गईं तो स्वयं विराट ने उनमें आग लगाई और लपटों में सामग्री तथा चन्दन की अहुति दी। तत्पश्चात् मुँह फेर कर वह चुपचाप खड़ा हो गया और उस समय तक खड़ा रहा, जब तक कि जलती चिताएं गिरने तथा धमकती राख जमीन पर बिखरने न लगी।

इस बीच गुलामों ने वह पुल तैयार डाला, जिसे शैली से भर कर एक दिन पहले दुर्योधन के आदिमियों ने बनाना प्रारम्भ किया था। केले के फूल लिए पहले योद्धाओं ने पुल पार किया, फिर गुलामों ने और उसके बाद अश्वारोही सरदारों ने। विराट ने अधिकांश योद्धाओं को पहले ही खाना कर दिया, क्योंकि उनका शोर और संगीत उसकी मनस्थिति से मेल नहीं खाता था। पुल के मध्य में रुक कर उसने प्रवाहित धारा को दाँएँ-बाँएँ देखा। जो सिपाही उसके आगे पुल पार कर चुके थे और जो पार करने को थे तथा जो सेनापति की आज्ञा से पीछे-पीछे चल रहे थे, सबके सब आश्चर्य करने लगे। उन्होंने देखा कि विराट ने अपनी तलवार ऊँची की, मानो स्वर्ग को भयभीत करना चाहता हो, लेकिन जब उसकी बाँह नीची हुई तो उसकी उँगलियाँ ढीली पड़ गईं और अस्त्र हाथ से छूट कर नदी की धारा में डूब गया। दोनों किनारों से नंगे बालक पानी में कूद पड़े। उनका अनुमान था कि तलवार अचानक गिर गई है और गोता लगा कर वे उसे निकाल लाना चाहते थे, लेकिन विराट ने ऐसा करने से उन्हें रोक दिया और आगे बढ़ चला। उसके दोनों ओर आश्चर्य-चकित नौकर-चाकर थे। विराट बहुत ही दुःखित था। घर का लम्बा रास्ता पार करते समय एक शब्द भी उसके होठों से बाहर नहीं निकला।

विराट और भी काफ़ी फावले पर थे, जब कि एक सफ़ेद धूल का बादल आगे बढ़ता हुआ दिखाई दिया। धूल को चीर कर अग्रदूत और अश्वारोही चले आ रहे थे। सेना को देखते ही वे रुक गये और सड़क के आरपार उन्होंने कालीन बिछा दिये। यह इस बात का प्रमाण था कि महाराजा का आगमन हो रहा है। महाराजा के पैरों के तलवे, नवमदिवस से लेकर उस वड़ी तक जब तक कि चिता की लपटें उनके शानदार शव को उदरस्थ नहीं कर लेतीं, सामान्य भूमि का कदापि स्पर्श नहीं कर सकते थे। अब महाराजा सामने दिखाई देने लगे। हाथियों के सारदार उन्हें वहन कर रहे थे और उनके चारों ओर नवयुवक थे। आगे आकर वह पूर्ण आज्ञाकारी हाथी घुटने टेक कर बैठ गया और महाराजा उतर कर कालीन पर आ खड़े हुए। विराट ने चाहा कि अपने स्वामी के सामने साष्टांग दण्डवत् करे, लेकिन महाराजा उसे आलिङ्गन में बाँधने के लिए तेज़ी से आगे बढ़े। यह एक ऐसा सम्मान था, जो किसी भी सेवक को प्राप्त नहीं हुआ था। विराट ने राजहंस मँगवाये। जब उन हंसों ने अपने श्वेत पंख फड़फड़ाये तो इतने जोर से हर्षध्वनि हुई कि घोड़े दो पैरों पर खड़े हो गए और महावतों के लिए हाथियों पर नियन्त्रण रखना कठिन हो गया। विजय के इन चिन्हों के बीच महाराजा ने एक बार पुनः विराट का आलिङ्गन किया और उस सेवक को बुलाया, जो बिना राजपूतों के प्रारम्भिक शूरमा की तलवार लिये जा रहा था। सात बार सात सी वर्ष तक यह अस्त्र महाराजाओं के खजाने में सुरक्षित रहा था। उसकी मूँठ बजाहरातों से जममगाती थी और उसकी चार पर सुनहले अक्षरों में विजय का एक रहस्यमय आशवासन खुदा हुआ था। वह लिखावट प्राचीन थी और उसे संत तथा बड़े मन्दिर के पुजारी ही पढ़ सकते थे। महाराजा ने तलवारों में श्रेष्ठ उस तलवार को आभार के रूप में तथा यह प्रदर्शन करने के हेतु कि आगे से वह उनके योद्धाओं का सरदार और

प्रौढों का नायक होगा, विराट की भेंट किया।

लेकिन विराट ने सिर झुका कर कहा, "महाराज अत्यन्त दयालु और कृपालु हैं। क्या मैं एक प्रार्थना कर सकता हूँ?"

प्रार्थी को नतमस्तक देख महाराज बोले, "तुम्हारी प्रार्थना तुम्हारे निगाह उठा कर मेरी और देखने से पहले ही स्वीकार है। माँगने की देर है कि मेरा आधा राज्य तुम्हारा।"

इस पर विराट ने कहा, "तो महाराज, आज्ञा दीजिये कि यह तलवार खजाने को वापस भेज दी जाय, क्योंकि मैंने अपने हृदय में प्रतिज्ञा कर ली है कि आइन्दा कभी भी तलवार नहीं चलाऊँगा। अपने भाई की मैंने हत्या कर डाली है। मुझे छोड़ एकमात्र वही तो था, जिसे मेरी माँ ने अपने गर्भ में धारण किया था और जिसका माँ ने मेरे साथ ही लालन-पालन किया था।"

आश्चर्य से महाराज ने विराट की ओर देखा। फिर उत्तर दिया, "ऐसी हालत में तुम बिना तलवार के ही मेरे सेना के नायक हो जाओ, जिससे मुझे यह पता तो रहे कि मेरा राज्य दुश्मनों से सुरक्षित है, क्योंकि आज तक कभी भी दुश्मनों की इतनी भारी संख्या के विरुद्ध किसी भी वहादुर व्यक्ति ने सेना का इतनी बुद्धिमानी के साथ संचालन नहीं किया। मेरी इस तलवार को ले लो। वह सत्ता का चिन्ह है। मेरा यह घोड़ा भी लो, जिससे सब लोगों को मालूम हो जाय कि तुम मेरे योद्धाओं के सरदार हो।"

लेकिन विराट ने पुनः सिर झुका कर निवेदन किया, "एक अदृश्य शक्ति ने मुझे संकेत किया है, जो मेरे हृदय में घर कर गया है। अपने भाई की मैंने हत्या कर दी। इससे मुझे सीख मिली है कि जो दूसरे को मारता है, वह अपने भाई की ही हत्या करता है। मैं युद्ध में सेना का नेतृत्व नहीं कर सकता, क्योंकि तलवार बल का प्रतीक है और बल सत्य का दुश्मन है। जो कोई हत्या के पाप में भाग लेता है, वह स्वयं हत्यारा है। मेरी इच्छा यह नहीं

है कि मैं दूसरी मैन में उतर करूँ। मैं भी माँग कर रोटी खा लेना पसन्द करूँगा, बजाय इसके कि मैं उस संकेत से इन्कार करूँ, जिस पर चलने की मुझे आज्ञा हुई है। चाँजें अनगिनत और अनन्त हैं और हमारा जीवन स्वल्प है। अब मैं चाहता हूँ कि मेरा शेष जीवन बिना और बुराई किये व्यतीत हो।" योही देर के लिए महाराज का चेहरा एक पड़ गया और अब तक जो खुशी उस पर खेल रही थी, उसकी जगह भयातुर निस्तब्धता छा गई। कारण कि बाबा-परबाबा के जमाने से लेकर आज तक कभी भी ऐसा न हुआ था कि किसी सरदार ने लड़ाई को इस प्रकार तिलांजलि दे दी हो अथवा कि किसी सरदार ने महाराज की भेंट को अस्वीकार किया हो। लेकिन आखिरकार महाराज की निगाह उन पवित्र राजहंसों पर गई, जिन्हें विराट राजद्रोहियों से छीन कर लाया था। विजय के इन चिन्हों को देख कर महाराज का चेहरा चमक आया और उन्होंने कहा, "मैंने तुम्हें हमेशा दुश्मनों के साथ लड़ने में वहादुर पाया है। राज्य के नौकरों ने ईमानदार व्यक्ति के रूप में तुम अपनी साना नहीं रखते। यदि युद्ध में मुझे तुम्हारी सेवाओं से वंचित होना ही पड़े तो दूसरे क्षेत्र में मैं तुम्हारी सेवाओं से वंचित नहीं रह सकता। चूँकि तुम एक ईमानदार आदमी हो, बुराई को पहचानते हो और उसका उन्मूलन कर सकते हो, अतः तुम मेरे न्यायाधीशों में सबसे ऊँचे न्यायाधीश होगे और मेरे महल की दहलीज से न्याय का निर्वहण किया करोगे, जिससे कि मेरी चहारदीवारी के भीतर सत्य का प्रसार हो और सन्तुष्ट भूमि में सच्चाई का प्रालन हो।"

विराट ने श्रद्धा से सिर झुका दिया। महाराज ने उसे राजसी हाथी पर सवार होने का आदेश दिया। तब वे साथ-साथ साठ मीनारों के उस नगर में प्रविष्ट हुए। उस समय ऐसी दृश्यवर्णि हो रही थी, मानों तूफानी सागर ने जोर की लहरें उठ कर गर्जन कर रही हों।

(क्रमशः)

सिंहावलोकन

अखिल भारतीय हिन्दी पत्रकार संघ—

(१९४१-१९४५)

आज से लगभग ग्यारह साल पहले २६-२७ जनवरी १९४१ को दिल्ली में सर्वप्रथम एक अखिल भारतीय हिन्दी पत्रकार सम्मेलन बुलाया गया था। इससे पहले भी हिन्दी-पत्रों के सम्पादकों के सम्मेलन होते थे, पर वे हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के अवसर पर उसी के कार्यक्रम के अंग होकर रह जाते थे और उनके निर्णयों को कार्यान्वित करने के लिए कोई स्थायी संस्था नहीं थी। इस अर्थ में दिल्ली का यह सम्मेलन महत्वपूर्ण था। यह एक विशेष उद्देश्य से बुलाया गया था और एक स्थायी संगठन बनाने की उसमें चर्चा थी।

जिन सज्जनों ने इस सम्मेलन को आमन्त्रित किया था उनमें या तो संचालक थे या ऐसे लोग, जिन्होंने पत्रकारों के स्थान पर पत्रों को आमन्त्रित करना अधिक उपयोगी समझा। इस कारण उस सम्मेलन में ऐसे लोगों की संख्या अधिक थी जिनके सामने पत्रों की सुविधाओं के प्रश्न मुख्य थे। सम्मेलन के प्रस्तावों में भी पत्रों पर सरकारी पाबन्दी, न्यूजप्रीट की समस्या, विश्वासनों के सवाल, प्रेस सलाहकार समिति ही जैसे प्रश्न उठाए गये थे।

दूसरे वर्ष २७-२८ फरवरी को दिल्ली में फिर सम्मेलन हुआ। इसमें श्रमजीवी पत्रकार अधिक संख्या में उपस्थित हुए। यहीं पर सर्वप्रथम पत्रकारों का न्यूनतम वेतन ४०) माहवार निश्चित करने वाला प्रस्ताव स्वीकृत हुआ।

तीसरा सम्मेलन १०-११ जुलाई १९४३ को कलकत्ते में हुआ। इसमें यद्यपि अन्य क्षेत्रों के पत्रकार कम संख्या में पहुँचे, पर उनमें श्रमजीवी पत्रकारों की—स्थानीय पत्रकारों को भिला कर—अच्छी उपस्थिति थी। वहाँ पर न्यूनतम वेतन तथा पत्रकार सहायता

सेवी कोष की चर्चाओं में संचालकों तथा श्रम-जीवियों के बीच कुछ गर्मी आ गई। सम्मेलन ने मँहगाई भत्ता, प्रोवीडेंट फण्ड आदि के सम्बन्ध में कुछ प्रस्ताव स्वीकृत किये तथा पत्रकारों को आर्थिक स्थिति की जाँच के लिए एक कमेटी बनाई। न्यूनतम वेतन की दर भी ४०) से बढ़ा कर ५०) कर दी गई।

जाँच कमेटी के प्रतिनिधि ने लाहौर, दिल्ली, भाँसी, कानपुर, प्रयाग, लखनऊ, बनारस, गोरखपुर, पटना आदि स्थानों की यात्रा की और पत्र-व्यवहार द्वारा कलकत्ता, बम्बई, खालियर, वर्धा तथा अन्य क्षेत्रों के पत्रकारों की स्थिति का पता लगाया। लगभग अरसी पत्रकारों ने समिति को लिख कर अपनी स्थिति का विवरण दिया और बहुतांश का हाल जबानी मालूम हुआ।

२३ दिसम्बर १९४४ को कानपुर में चौथा सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन में पत्रकारों की उपस्थिति सबसे अधिक थी, लगभग सवा सौ प्रतिनिधि थे। जाँच समिति ने अपनी रिपोर्ट दे दी थी जो सर्वसम्मत थी। यद्यपि उसमें श्री रामशंकर त्रिपाठी जैसे संचालक भी सदस्य थे, पर संचालकों को उसकी सिफारिशें कठिन लग रही थीं। पत्रकार संघ की कार्य-समिति इस प्रश्न पर काफी देर तक विवाद करके भी कुछ निश्चय न कर सकी। वास्तव में उस समय पत्रकार संघ नेताबिहीन हो रहा था। सम्मेलन के मनोनीत सभापति अद्वेय इन्द्र जी आ नहीं सके थे और कार्यवाही को दो सभापतियों श्री अम्बिका प्रसाद बाजपेयी व श्री देवव्रत शास्त्री ने संचालित किया था। संचालकों में व पत्रकारों में ऐसे सर्व-सम्मत नेता नहीं थे जिनकी राय उनके वर्ग वाले मानते। जाँच कमेटी की सिफारिशों (जो १०० रु. न्यूनतम

वेतन को छोड़ पत्रकारों की दृष्टि से काफी नरम थी—जैसा उनके ऊपर संशोधनों से मालूम पड़ा—) के प्रस्ताव को सम्मेलन के सामने रखने में कार्य-समिति ने जो हीला-हवाली की उससे पत्रकारों में उनके प्रति और भी अविश्वास बढ़ गया। जो प्रस्ताव संघ की कार्य-समिति की ओर से आना चाहिए था वह उधर से न आकर प्रतिनिधियों की ओर से आया और भारी बहुमत से स्वीकार किया गया। आगामी कार्य-समिति के चुनाव में भी श्रमजीवियों ने अपने प्रतिनिधि चुनने का उद्योग किया, यद्यपि इतने शीघ्र यह पता लगाना कठिन था कि किसको अपना नेता चुनना ठीक होगा।

इस प्रकार जो कार्य-समिति बनी वह दो विरोधी विचारधाराओं की प्रतीक थी और उस पर एक प्रस्ताव कार्यान्वित कराने का भार था, जिसे उसके आधे सदस्य नापसन्द करते थे। अभी तक संघ के अध्यक्ष श्री मूलचन्द अग्रवाल, श्री श्रीकृष्णदत्त पालीवाल और श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति जैसे संचालक होते आये थे और उनकी समितियाँ भी संचालकों का अच्छा प्रतिनिधित्व करती थीं। नई कार्य-समिति इस मानी में भिन्न थी। पर उसके श्रमजीवी सदस्यों को इतनी सुविधा नहीं कि थी उसकी बैठकों में भाग ले सकें। संचालकों ने कुछ तटस्थता दिखलाई और संघ का काम ज्यों-की-त्यों रहा।

संघ का पाँचवाँ अधिवेशन २४-२५ दिसंबर को मथुरा में हुआ। इस बार यह विशेषता थी कि संघ के सभापति पत्र संचालक के बजाय ऐसे पत्रकार चुने गए थे, जो श्रमजीवी पत्रकारों के हितों के समर्थक रहे हैं। पर चुनाव के बाद जितनी जल्दी सम्मेलन हुआ और जिस स्थान पर हुआ उससे पत्रकारों के उत्साह का पूरा-पूरा लाभ उठाना सम्भव न हो सका। मथुरा के सम्मेलन में लाहौर, दिल्ली, मेरठ, कानपुर, ग्वालियर, अलीगढ़, टीकमगढ़, वर्धा, बम्बई, भोपाल, नरसिंहपुर, हरदोई और राजस्थान के पत्रकार उपस्थित हुए थे, पर शीघ्रता के कारण

बहुत से पत्रकार चाहते हुए भी न आ सके। यद्यपि उनका सहयोग सम्मेलन को मिलना निश्चित है। फिर भी जो पत्रकार आए थे, वे ऐसे थे जो सहयोग की नीति से काम करना चाहते थे। पत्रकारों की माँग के स्वरूप कानपुर का प्रस्ताव मौजूद था। विरोध करने वाला कोई नहीं था और पत्रकारों का प्रतिनिधि इस वर्ष का सभापति था। इस कारण सारे सम्मेलन में वह गर्मी या वातावरण में तेजी न दिखाई दी, जो पिछले सम्मेलनों में विशेषतः कानपुर में दिखाई गई थी।

सभापति पं० बनारसीदास चतुर्वेदी ने अपने भाषण में एक कार्यक्रम दिया था। सम्मेलन ने जो प्रस्ताव स्वीकृत किए उनमें कुछ उभरे सम्बन्धित हैं। एक प्रस्ताव द्वारा कार्य-समिति को आदेश दिया गया कि वह एक उपसमिति बनाए जो कानपुर के वेतन आदि वाले प्रस्ताव को अधिक-से-अधिक पत्रों में लागू कराने का प्रयत्न करे। दूसरे प्रस्ताव द्वारा एक पत्रकार विद्यालय की स्थापना की माँग की गई।

तीसरे प्रस्ताव द्वारा 'संसार', 'सैनिक' व 'नेशनल हेराल्ड' से माँगी गई जमानतों का विरोध किया गया। पत्रकारों सम्बन्धी कुछ अन्य प्रस्ताव कार्य-समिति को विचारार्थ सौंप दिए गये।

पर संघ ने इस अधिवेशन में जो सबसे अधिक कान्तिकारी कदम उठाया वह विधान का संशोधन तथा संघ को जन-तांत्रिक आधार पर गठित करना है। पिछले विधान के अनुसार संघ पत्रकारों का एक केन्द्रीय संगठन मात्र था, पर उसके साथ प्रान्तीय या स्थानीय संगठन नहीं थे। इस समय देश में कई प्रान्तीय तथा बहुत से स्थानीय हिन्दी पत्रकार संघ हैं, पर वे एक दूसरे से असम्बद्ध हैं। पत्रकार संघ के प्रस्तावों को कार्यान्वित कराने के लिए स्थानीय संगठनों की नितान्त आवश्यकता है, पर उस पर अभी तक केन्द्रीय संघ का ध्यान नहीं गया था। इस वर्ष से यह निश्चय किया गया कि

संघ का प्रत्येक सदस्य किसी स्थानीय शाखा के द्वारा ही प्रान्तीय व केन्द्रीय संघ से सम्बन्धित हो सकेगा। अतएव अब संघ का कर्तव्य हो जायगा कि जहाँ-जहाँ स्थानीय संगठन हैं, उनको अपने से सम्बन्धित करे और जहाँ नहीं है वहाँ अपने से सम्बन्धित करे और जहाँ नहीं है वहाँ अपने से सम्बन्धित करे और जहाँ नहीं है वहाँ अपने से सम्बन्धित करे। यह प्रयत्न पत्रकारों को वास्तव में संगठित कर सकेगा।

तीसरे संशोधन द्वारा अध्यक्ष को अधिकार दिया गया कि वह अपनी कार्य समिति के अधिकांश सदस्यों को मनोनीत कर सके। एक उपाध्यक्ष, प्रधान मन्त्री तथा कार्यसमिति के तीन सदस्यों को निर्वाचित करने का अधिकार तो सभी प्रतिनिधियों के हाथ में है। इस अधिकार के फलस्वरूप अध्यक्ष पर यह दायित्व भी आ गया है कि वह अपने को बैठकों का सभापति न मान कर संघ का प्रधान कार्यकर्ता समझे और वर्ष भर काम करे।

इस प्रकार मथुरा अधिवेशन ने पत्रकार संघ और हिन्दी पत्रकारों के आन्दोलन को एक नई दिशा प्रदान की है। सम्मेलन के प्रतिनिधि संचालकों से सहयोग रखने के पक्ष में थे और वहाँ जो पाँच सदस्यों के निर्वाचन हुए वे सभी सर्वसम्मत थे। सभी प्रस्ताव एक मत से स्वीकृत हुए जिससे उपस्थित पत्रकारों की एकता प्रकट होती है। यही नहीं, इस मंच पर पत्रकार उस देशव्यापी दलबन्दी से भी अछूते थे, जिसकी प्रतिध्वनि हमें अन्य संस्थाओं में आज बहुत जोर से सुनाई दे रही है। यही कारण था कि 'प्रताप' तथा 'जन युग' जैसे पत्रों के प्रतिनिधि भी संघ में एक ही प्रकार से चुने गये।

आज हिन्दी पत्रकार संघ हिन्दी के पत्रकारों का एक संगठित मोर्चा है और पत्रकारों का कर्तव्य है कि उसके इस रूप को अधिक-से-अधिक शक्ति प्रदान कर उसे उपयोगी बनायें।

युक्त प्रान्तीय हिन्दी पत्रकार सम्मेलन—

(१९४२-४५)

युक्त प्रान्तीय हिन्दी पत्रकार सम्मेलन का जन्म २२ फरवरी १९४२ को कानपुर में पं. बनारसीदास चतुर्वेदी के सभापतित्व में हुआ। उस अधिवेशन के संयोजकों और सभापति ने अपने भाषणों में स्पष्ट कर दिया कि इस संगठन का उद्देश्य पत्रकारों के हितों की रक्षा के लिए उनका संगठन करना है। सम्मेलन के प्रस्ताव भी इसी नीति के परिचायक थे। प्रथम प्रस्ताव द्वारा पत्रकारों की आर्थिक दशा की जाँच के लिए एक कमेटी की स्थापना की गई। दूसरे प्रस्तावों द्वारा पत्रकारों तथा संवाददाताओं को मँहगाई भत्ता देने की माँग की, पत्रों के लेखकों को उचित पुरस्कार देने का अनुरोध किया और यू. पी. के शिक्षा-प्रसार-विभाग तथा अखिल भारतीय रेडियो द्वारा हिन्दी लेखकों और पत्रकारों के प्रति वरती नीति का

विरोध किया। एक प्रस्ताव 'हिन्दी मिलाप' के संचालकों द्वारा समादक पं० आत्मस्वरूप शर्मा को बारह वर्ष की सेवाओं के बाद बिना कारण निकाल देने के लिए दुख प्रकट करते हुए पास किया गया। एक तात्कालिक नियमावली स्वीकृत की, जिससे युक्त प्रान्त के जिलों के अतिरिक्त सीमावर्ती राज्यों के पत्रकारों को भी संगठन में स्थान दिया।

सम्मेलन का कार्य मुख्यतया दो केन्द्रों से हुआ, कानपुर केन्द्र से, जहाँ पिछले वर्ष तक सम्मेलन का कार्यालय रहा और टीकमगढ़ केन्द्र से जहाँ अध्यक्ष महोदय रहते रहे। कार्यालय द्वारा सम्मेलन के मन्तव्यों के सम्बन्ध में शिक्षा-प्रसार-विभाग, रेडियो तथा पत्रकारों से लिखा-पढ़ी की गई। १७ मई १९४२ को कानपुर में कार्य-समिति की भी एक बैठक की गई और

उसमें सरकार द्वारा 'सैनिक' के प्रकाशन पर रोक लगाने का विरोध किया गया व उसे इटाने की माँग की गई। 'आज', 'जागरण', 'स्वतन्त्र' आदि के सम्बन्ध में सरकारी चेतावनियों की निन्दा की गई। युक्त प्रान्तीय सरकार से पत्रों पर प्रतिबन्ध इटाने के सम्बन्ध में लिखा-पट्टी की गई व एक शिष्ट मण्डल भेजने का भी विचार किया गया। पत्रकारों की समस्या पर 'रामराज्य', 'युगान्तर', 'प्रताप', 'स्वतन्त्र' 'जागरण' आदि पत्रों द्वारा प्रकाश डाला गया। काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के अनुरोध पर उसके स्वर्ण-जयन्ती उत्सव के लिए हिन्दी पत्रकार कला के विकास पर एक लम्बा लेख भी प्रधान मन्त्री श्री जयदेव गुप्त द्वारा तैयार कर भेजा गया।

कानपुर कार्यालय स्थानीय पत्रकारों को एकत्र करने, उनकी बैठकें करने आदि का आयोजन भी करता था। इस प्रकार की बैठकों में पत्रकारों में न्यूनतम वेतन के रूप में १००) २० की माँग की गई व आल इण्डिया रेडियो की हिन्दी-विरोधी नीति की आलोचना की गई। २० फरवरी १९४२ को सम्मेलन के अध्यक्ष की उपस्थिति में कानपुर हिन्दी पत्रकार संघ की स्थापना भी की गई। शाखा संघ के अभी तक ४० सदस्य बन चुके हैं और आठ बैठकें हो चुकी हैं। प्रति मास बैठक होती है। श्री रामगोपाल विद्यालंकार दिल्ली व श्री लक्ष्मीधर वाजपेयी सम्पादक 'राष्ट्र' मत के पत्रकार कला पर दो व्याख्यान हो चुके हैं। संघ की ओर से मध्यप्रान्त के भू० पू० प्रधान मन्त्री श्री रविशंकर शुक्ल व शिक्षा प्रेमी श्री द्वारिका प्रसाद मिश्र का स्वागत भी हुआ। इनके अतिरिक्त समय-समय पर संघ द्वारा पत्रकारों सम्बन्धी अन्य कार्य भी होते रहे।

अध्यक्ष महोदय टीकमगढ़ रहते थे। अतएव कुछ कार्य वहाँ से भी हुआ। सम्मेलन की कार्य-समिति व आर्थिक जाँच समिति के सदस्य जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी भी वहीं जा पहुँचे और इस प्रकार सम्मेलन के दो कार्यकर्त्ता वहाँ से कार्य करते रहे।

(१) पत्रकारों की आर्थिक दशा की जाँच के लिए पत्रकारों से पत्र-व्यवहार किया गया और प्रान्त से बाहर के तथा अन्य भाषा-भाषी पत्रकारों से भी उनकी स्थिति पूछी गई। इसके अतिरिक्त जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी ने कानपुर, भोँसी, प्रयाग, लखनऊ तथा गोरखपुर के पत्रकार क्षेत्रों में जाकर पत्रकारों से मिल कर उसकी स्थिति देखी तथा अवस्था सुधारने के लिए उनके विचार जाने। अपनी दिल्ली, लाहौर व पटने की यात्रा में भी उन्होंने इस सम्बन्ध में जानकारी एकत्र की।

अ० भा० समाचार, संगदक सम्मेलन के सभापति श्री अब्दुल्ला ब्रेलवी ने सम्मेलन के अध्यक्ष श्री पं० बनारसीदास जी चतुर्वेदी को अपनी समिति का सदस्य मनोनीत किया। चतुर्वेदी जी ने बम्बई, दिल्ली, जयपुर, आगरा, प्रयाग, बनारस, कानपुर तथा कजकता की यात्रा की और कमेटी को अपनी जाँच से परिचित किया। इस संघ में अखिल भारतीय हिन्दी पत्रकार संघ ने भी एक जाँच कमेटी बनाई और उसमें हमारी कमेटी के सदस्य जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी को अपना सदस्य भी मनोनीत किया। उन्होंने दो महीने पत्रकार क्षेत्रों की जाँच कर संघ के कार्य में पूर्ण सहायता पहुँचाई। इस जाँच के बाद कानपुर में जो पत्रकार सम्मेलन हुआ, उसमें श्रमजीवी पत्रकारों की संख्या पिछले सब सम्मेलनों से अधिक थी। प्रान्तीय कमेटी ने अपनी रिपोर्ट दूसरे प्रान्तीय सम्मेलन के सामने उपस्थित की, जो सर्व-सम्मति से स्वीकृत की गई और उसकी सिकारियों पर जो प्रस्ताव स्वीकृत किया गया उनका प्रभाव अखिल भारतीय सम्मेलन के निर्णयों पर भी पड़ा। इर्ष है कि उक्त सिकारियों के फलस्वरूप प्रान्त के कुछ पत्रों में वेतन बढ़ाए गये हैं।

(२) अध्यक्ष जी ने 'वैश्वमित्र' 'रबत जयन्ती अङ्क' में पत्रकार विद्यालय' शीर्षक लेख लिख कर हिन्दी पत्रकारों के लिए एक पत्रकार विद्यालय का आन्वेषण प्रारम्भ किया। दूसरे कानपुर अधिवेशन में सम्मेलन ने भी एक प्रस्ताव स्वीकृत कर पत्रकार विद्यालय की स्थापना

(५) रोगग्रस्त श्री चन्द्रशेखर जी मिश्र के लिए भी कुछ आर्थिक सहायता एकत्र की गई।

(१०) 'अभ्युदय' कार्यालय से श्री नरोत्तम

प्रसाद नागर को सम्वादकत्व से प्रथक कर दिया गया। इसके सम्बन्ध में नागर जी ने अपना मामला सम्मेलन के सामने रखा और तीन मास का वेतन माँगा। 'अभ्युदय' संचालक श्री पद्मकान्त मालवीय ने एक ट्रिब्यूनल या पंचायत का प्रस्ताव रखा और सम्मेलन के अध्यक्ष को ही अपना प्रतिनिधि बनाया। अध्यक्ष महोदय ने दोनों पक्षों में निपटारा कराने के लिए नागर जी की एक माँग का संशोधन कर अपनी सम्मति प्रकट कर दी। नागर जी ने उनका निर्णय मान लिया, लेकिन मालवीय जी ने उसे अभी तक स्वीकार नहीं किया है।

(११) सम्मेलन कार्यालय की ओर से प्रांत के जिले-जिले में पत्रकार संघ कायम करने व उनको प्रान्तीय सम्मेलन से सम्बद्ध करने के प्रयत्न हुए। कानपुर में हिन्दी पत्रकारों का संघ स्थापित हुआ। मथुरा में भी सम्मेलन की शाखा संगठित हो चुकी है। भौंसी में एक पत्रकार संघ स्थापित हो गया है। लखनऊ, बरेली, रीवा तथा ग्वालियर के पत्रकारों से अपने यहाँ पत्रकार संघ स्थापित करने के लिए पत्र-व्यवहार किया गया व सम्मेलन के मन्त्री ने इस सम्बन्ध में यात्रा भी की। आगरा, प्रयाग और काशी के पत्रकार संघों को सम्मेलन से सम्बद्ध करने का प्रयत्न किया गया। अन्य जिलों के पत्रकारों से भी अपने संगठन बनाने का निवेदन किया गया है। आशा है कि अगले वर्ष में सम्मेलन की कई शाखाएँ संगठित हो जाँयगी।

(१२) सम्मेलन के प्रधान मन्त्री ने अपनी बम्बई की यात्रा में 'जन्म-भूमि' (गुजराती) द्वारा दिए गये पत्रकारों के ग्रेड, वेतन, बीमा, आदि की सुविधाओं की जानकारी प्राप्त की। साथ ही वहाँ के हिन्दी पत्रकारों की स्थिति का भी निरीक्षण किया।

(१३) 'अधिकार' लखनऊ के श्री रामरूप पांडेय को 'राष्ट्रवाणी' पटना द्वारा बिना नोटिस दिये चार अन्य पत्रकारों के साथ अलग कर दिया गया था और उनके वेतन का भी हिसाब नहीं किया गया था। इस सम्बन्ध में सम्मेलन

के मन्त्री ने 'राष्ट्रवाणी' संपादक श्री देवव्रत शास्त्री से पत्र-व्यवहार किया व पटने में मुलाकात भी की और उन्हें सारा केस समझाया। हर्ष है कि श्री देवव्रत शास्त्री ने पांडेय जी का रुपया भिजवा कर मामले को आसानी से निपटा लिया।

(१४) अखिल भारतीय हिन्दी पत्रकार संघ ने अपने कानपुर अधिवेशन में जो वेतन आदि सम्बन्धी प्रस्ताव स्वीकृत किया था, उसकी व्याख्या संघ के मन्त्री ने अपने सरक्यूलर पत्र में भिन्न प्रकार से की और लिखा कि कार्य समिति ने यह निश्चय किया है कि इस प्रस्ताव को सिफारशी प्रस्ताव ही माना जाय। इस पर प्रान्त तथा बाहर के पत्रकारों में बड़ा असन्तोष हुआ और सम्मेलन के मन्त्री ने एक सरक्यूलर पत्र द्वारा संघ की कार्य-समिति के सदस्यों से पूछा कि क्या वे कार्य-समिति के निर्णय को वैधानिक या उचित समझते हैं। प्राप्त उत्तरों में तीन सदस्यों ने सूचित किया कि कार्य-समिति ने ऐसा निर्णय किया ही नहीं था। इन उत्तरों को भी प्रान्त के पत्रकारों के पास सरक्यूलर पत्र में प्रचारित कर दिया गया।

ला. रामरतन गुप्त व श्रीमती चन्द्रवती ऋषभसेन जैन प्रभृति सम्मेलन के शुभचिंतकों द्वारा प्रदत्त आर्थिक सहायता से सम्मेलन का बहुत कार्य सम्भव हो सका। साथ ही 'रामराज्य', 'युगान्तर', 'मधुकर' आदि पत्रों और उनके कार्यालयों द्वारा सम्मेलन को विशेष सहायता मिली और प्रकाशन सम्बन्धी कठिनाइयाँ हल हो गईं।

पत्रकारों के वेतन तथा अन्य सुविधाओं में यद्यपि अभी तक अभीष्ट वृद्धि नहीं हुई, फिर भी पिछले सम्मेलन के बाद अधिकांश पत्रों में वेतनवृद्धि हुई है और वह पिछली तमाम वेतन-वृद्धि से अधिक है। यह ऐसे लक्षण हैं, जो हमें आने वाले मंगलमय प्रभात की ओर इंगित करते हैं। हम उस दिन की कल्पना कर रहे हैं जिस दिन श्रमजीवी पत्रकार पत्र के संचालन, नीति, लाभ, हानि, यश-अपयश में उसी प्रकार भाग लेंगे, जैसे किसी व्यवसाय में साभीदार होते हैं, या कुटुम्ब में भाई-भाई।

पर्सनल प्रेस सर्विस—

वर्तमान समय में सम्पादकों की संख्या जितनी तेजी से बढ़ रही है, उतनी तेजी से उपयोगी सामग्री पाठकों को उपलब्ध नहीं हो रही है। हर्ष की बात है कि इस चीज को ध्यान में रख कर पूना के श्री ना. तु. ठाकुर ने आठ वर्षों में विभिन्न विषयों की कतरनें एकत्र करके 'पर्सनल प्रेस सर्विस' नाम की एक संस्था स्थापित की है। समाचार-पत्रों के क्षेत्र में यह एक नवीन प्रयोग है और इसे सुसंगठित बनाने में श्री ठाकुर को बड़ा परिश्रम करना पड़ा है।

इंग्लैण्ड और अमेरिका जैसे स्वतन्त्र देशों में तो कतरनों द्वारा समाचारों की पूर्ति कराने वाली अनेकों संस्थाएं सुचारु रूप से काम रही हैं। अमेरिका में 'ल्यूसेस मिलिंग्स व्यूरो' नामक संस्था में तो दो सौ सभासद विभिन्न समाचार-

पत्रों के सम्पादक हैं। लेकिन भारतवर्ष में स्थिति दूसरी है। खोजपूर्ण लेख लिखने वालों का यहाँ अभाव है। यही कारण है कि श्री ठाकुर को अपनी संस्था को अधिकाधिक उपयोगी बनाने में काफ़ी अड़चनों का सामना करना पड़ा।

समाचारों का पृथक-पृथक वर्गीकरण करके उनके संकलन के कार्य में संस्था निरन्तर प्रयत्नशील है। इस समय उसके पास अंग्रेज़ी, मराठी, हिन्दी, गुजराती आदि भाषाओं की कतरनों का अच्छा संग्रह है। इनका उपयोग किया जा सकता है।

संस्था के सभासदों में प्रसिद्ध संस्थाओं के प्रतिनिधियों के अतिरिक्त देश के कुछ खाति-प्राप्त नेता भी हैं।

हिन्दी समाचार-पत्र-प्रदर्शनी—

वर्तमान समय में हिन्दी तथा प्रांतीय भाषाओं के समाचार-पत्रों का महत्त्व उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा है। पिछले तीस-पैंतीस वर्ष में उनका क्षेत्र कितना व्यापक हो गया है और उनकी शक्ति कितनी बढ़ गई है, देख कर आश्चर्य होता है। इतना होते हुए भी खेद है कि हिन्दी में पत्रकार-कला पर कोई भी सर्वांग सुन्दर और प्रामाणिक ग्रन्थ नहीं है और न किसी पत्रकार का ध्यान एक स्थान पर उन दुर्लभ पत्रों का संग्रह करने की ओर ही गया है, जो पत्रकार-कला के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

हर्ष की बात है कि हैदराबाद (दक्षिण) के एक उत्साही कार्यकर्ता श्री बंकटलाल जी ओझा ने सर्वप्रथम इस दिशा में प्रयत्न प्रारम्भ किया है। उन्होंने 'अ०भा० हिन्दी समाचार-पत्र प्रदर्शनी' नामक एक स्थायी संस्था की स्थापना की है, जिसका उद्देश्य है :—

(१) हिन्दी के समाचार-पत्रों का संग्रह और प्रदर्शन।

(२) हिन्दी पत्रकार-कला के इतिहास का संकलन एवं प्रकाशन और

(३) हिन्दी के पत्रकारों की जीवनी सम्बन्धी सामग्री और प्रकाशन।

संक्षेप में संस्था का उद्देश्य ऐसी सामग्री एकत्र करना है, जिसके आधार पर पत्रकार-कला का विस्तृत एवं प्रामाणिक इतिहास तैयार किया जा सके।

अब तक लगभग दो हजार पत्र-पत्रिकाओं के प्रथमांक, विशेषांक तथा अन्तिमांक संग्रहीत हो चुके हैं। १८५३ के 'मालवा अखबार' की भी प्रति है। इनके अतिरिक्त राय राधाकृष्णदास जी, बालमुकुन्द गुप्त तथा पं. रुद्रदत्त जी शर्मा द्वारा लिखित हिन्दी पत्रों के इतिहास भी संग्रहालय में मौजूद हैं। कुछ समय पूर्व स्व० अवन्त विशारी

माथुर का सोलह सौ पृष्ठों का हस्तलिखित हिन्दी पत्रों का इतिहास प्राप्त हुआ है। भारत के अनेकों गण्यमान्य नेताओं तथा साहित्यकारों के पत्रों की प्रतिलिपियाँ भी संग्रह की गई हैं और संस्था के प्रयत्न और व्यय से भारत सरकार के इम्पीरियल रिकार्ड डिपार्टमेंट में सौ वर्ष (१८२६-१९२५) के पत्रों की खोजबीन हो रही है। आशा है कि इस जाँच के फलस्वरूप कुछ उपयोगी सामग्री प्राप्त होगी।

इस संस्था की स्थापना १ जनवरी १९३५ को हुई थी और अब तक उसके चार विशेष अधिवेशन हो चुके हैं। संस्था की लोक-प्रियता दिनों-दिन बढ़ती जा रही है। उसकी स्थायी समिति को हिन्दी के लगभग चार दर्जन विद्वानों एवं अनुभवी पत्रकारों का सहयोग प्राप्त है। अध्यक्ष पं. बनारसीदास जी चतुर्वेदी तथा मन्त्री स्वयं ओभा जी हैं।

लोक नेताओं ने समय-समय पर प्रदर्शनी का निरीक्षण कर हर्ष प्रकट किया है। युक्त प्रांत के शिक्षा-मन्त्री श्री सम्पूर्णानन्द जी ने उस संग्रह को देख कर लिखा था :—

“मैं इस स्थायी प्रदर्शनी को देख कर बहुत प्रसन्न हुआ। जब कभी पिछले पचास-साठ वर्षों का इतिहास विस्तार के साथ लिखने का

आयोजन होगा, उस समय उपयुक्त सामग्री प्रस्तुत करने में इस प्रकार के संग्रहों का महत्वपूर्ण स्थान होगा। हिन्दी-साहित्य के विकास को समझने के लिए भी समाचार-पत्रों के जन्म, अभ्युदय और निधन के इतिवृत्त को जानना सहायक होगा। श्री चंकट लाल ओभा का प्रयास सर्वथा अभिनन्दनीय है।”

कैम्पवेन डिस्ट्रिक्ट जेल से श्री जयचन्द्र जो विद्यालंकार ने शुभ कामना भेजते हुए लिखा था, “आपने बहुत अच्छा अनुष्ठान किया है।... आपकी इकट्ठी की हुई सामग्री न केवल आपके उद्देश्य को पूरा करेगी, प्रयुक्त ऐतिहासिकों को समकालीन इतिहास लिखने में भी सहायता देगी।...”

संग्रह-कार्य के अतिरिक्त संस्था ने प्रकाशन का कार्य भी प्रारम्भ कर देने का निश्चय किया है। सर्व-प्रथम एक ऐसी सूची प्रकाशित की जा रही है, जिसमें पत्रों का नाम, पृष्ठ-संख्या, मूल्य, पता, विषय, सम्पादक का नाम, प्रकाशन की तिथि आदि बातें रहेंगी। प्रेस और कागज की सुविधा होने पर अन्य चीजें भी छपाई जाँयगी।

संस्था की उन्नति की कामना करते हुए हम हिन्दी पत्रकारों तथा पत्रों से उसकी सहायता और सहयोग की प्रार्थना करते हैं।

हिन्दी टेलीप्रिन्टर —

हिन्दी पत्रों को अंग्रेजी पत्रों के मुकाबिले में एक सबसे बड़ी बाधा हिन्दी में टेलीप्रिन्टर का अभाव है। अंग्रेजी में टेलीप्रिन्टर होने के कारण समाचार समितियाँ समाचारों को अंग्रेजी में भेजती हैं। हिन्दी पत्रों को उनका अनुवाद करना पड़ता है। इसका फल यह होता है कि हिन्दी के पत्र समाचारों को देने में कठिनाई के साथ अंग्रेजी पत्रों का मुकाबिला कर पाते हैं। जब पाठक अंग्रेजी पत्रों में समाचारों को शीघ्र पाता है तो वह उन्हीं को पढ़ना पसन्द करता है। यह कि जो लोग हिन्दी के

जानकार हैं और साधारणतः हिन्दी के पत्र खरीदते हैं वे भी यदि अंग्रेजी जानते हैं तो अंग्रेजी के पत्र ही खरीदना पसन्द करते हैं। इसके साथ ही पत्रकारों पर अनुवाद का बोझ पड़ता है, उसके कारण वे अपने पत्र के सम्पादन में पूरी तौर पर ध्यान नहीं दे पाते। वस्तुतः आज उसम्पादक को सम्वादों का चुनाव करने के बजाय उनका अनुवादक माना होना पड़ता है। इससे तीसरा खतरा यह है कि नेताओं के जो वक्तव्य या व्याख्यान हिन्दी में होते हैं, वे दो बार अनुवादित होते हैं।

हिन्दी के पाठक के सामने आते हैं। इस कारण उनमें और मूल वक्ता के शब्दों में बहुधा अन्तर हो जाता है। इस अन्तर का राष्ट्र के जीवन पर कभी कभी वातक प्रभाव पड़ सकता है।

इन सब कठनाइयों को दूर करने के लिये एक हिन्दी समाचार समिति का आन्दोलन हिन्दी पत्रकार आन्दोलन के प्रारंभ से ही शुरू हुआ था। प्रथम हिन्दी पत्रकार संघ के संयोजकों ने इस प्रश्न को उठाया और १९४२ में सुहृद संघ मुजफ्फरपुर के पत्रकार सम्मेलन के अवसर पर श्री शंभुनाथ झा ने तार तथा टेलीप्रिन्टर की हिन्दी में व्यवस्था करने पर जोर दिया। पत्रकार संघ के कानपुर अधिवेशन में भी इस प्रश्न की चर्चा रही और यह सुझाव दिया गया कि समाचार समितियों से हिन्दी विभाग खोलने की माँग की जाय।

मथुरा के पत्रकार सम्मेलन के अवसर पर भी कुछ पत्रकारों ने इस प्रश्न को उठाना चाहा, पर इस सम्मेलन में पत्र संचालकों की संख्या कम होने के कारण ऐसा प्रस्ताव, जो उनके पूर्ण सहयोग के बिना संभव नहीं था, न आसका। पर यह विचार बल पाता रहा। सम्मेलन के सम्बन्ध में 'देशदूत' में अपने संस्मरण लिखते समय श्री प्रभु दयाल विद्यार्थी ने सुझाव रक्खा कि रोमन लिपि में तार देने की व्यवस्था की माँग की जाय।

वर्ष है कि इस वर्ष यह प्रयत्न सफल होता देख पड़ रहा है। ८ फरवरी के एक पत्र में संयुक्त प्रान्तीय हिन्दी पत्रकार सम्मेलन के संयुक्त मंत्री श्री ज्ञान चन्द जैन एम. ए, एल. एल. बी. ने हमें लिखा :-

"कितना बड़ा मजाक है कि हमारे राष्ट्रीय नेता हिन्दी या हिन्दुस्तानी में बोलें, वह अंग्रेजी में अनूदित हो और इसके बाद समाचार पत्रों के कार्यालयों में वह फिर अंग्रेजी से हिन्दी में अनुवादित हो। इससे एक तो उनके भाव कुछ के कुछ हो जाते हैं; दूसरे अनुवाद की भाषा कभी-कभी इतनी सजीव नहीं हो सकती जितनी मूल भाषा।

"टेलीप्रिन्टर हिन्दी में हो और तार नागरी लिपि में दिये जा सकें यह आन्दोलन ही हम कर

सकते हैं, हमारे हाथ की बात नहीं है। परन्तु इतना तो हम कर सकते ही हैं कि रोमन लिपि में ही हिन्दी में तार भेजने की व्यवस्था होजाय। एक और हम रायटर, यूनाइटेड प्रेस आदि स्थापित एजेंसियों से माँग कर सकते हैं कि वे हिन्दी विभाग खोलें और हिन्दी पत्रों को रोमन लिपि में समाचार दिया करें। दूसरी ओर हम इंग्लैन्ड के प्रेस असोसियेशन की माँति हिन्दी समाचार पत्रों का एक प्रेस असोसियेशन संगठित करने का प्रयत्न कर सकते हैं।"

इसी प्रकार के किसी संगठित उद्योग से ही हम अंग्रेजी पत्रों से प्रतिद्वन्दिता कर सकेंगे। मैं चाहता हूँ कि प्रान्तीय तथा अखिल भारतीय पत्रकार सम्मेलन इस आन्दोलन को शुरू करें तो अच्छा हो।"

एक सप्ताह पश्चात प्रयाग में अखिल भारतीय पत्र संगदक सम्मेलन का उद्घाटन करते समय श्री जवाहरलाल नेहरू ने इस समस्या पर प्रकाश डालते हुए कहा :-

"मैं अक्सर हिन्दुस्तानी में बोलता हूँ और भाषणों की रिपोर्ट अंग्रेजी में निकलती है। तमाशा यह है कि हिन्दी व उर्दू के अखबारों की रिपोर्ट अंग्रेजी का अनुवाद होती है और मैं जो शब्द वाकई कहता हूँ वे नहीं होते। इस प्रकार भयकर उलट फेर हो जाते हैं।

"मैं समझता हूँ कि भारतवर्ष में संवाद वितरण की एक अधिक व्यवस्थित प्रणाली की अत्यन्त आवश्यकता है। यदि खबरें हिन्दुस्तानी में जाने लगीं तो उससे देशी भाषाओं का स्तर बहुत उठ जायगा। एक तो उन्हें प्रत्येक बात का अनुवाद न करना पड़ेगा और बहुत कुछ मूल शब्द ही मिलेंगे। इससे उन्हें समय मिलेगा जिसके कारण योग्यता बढ़ेगी। हिन्दुस्तान में अंग्रेजी पत्र चाहे जितने महत्वपूर्ण क्यों न हों, और इसमें भी शक नहीं कि कुछ समय तक उनका बहुत महत्वपूर्ण हाथ रहेगा, पर स्पष्टतः भारतीय पत्रकार कला का भविष्य देशी भाषाओं के पत्रों के ऊपर ही निर्भर है।"

इस प्रकार जब हिन्दी में समाचार भेजने के सम्बन्ध में जनमत संगठित हो रहा था 'हिन्दुस्तान' के श्री चन्द्रलाल चन्द्राकर ने एक उद्योग कर इस योजना को क्रियात्मक रूप देने में पड़ला कदम उठाया। उनको पता लगा कि यूनाइटेड प्रेस प्राव इण्डिया को टेलीप्रिन्टर लगाने की स्वीकृति मिल गई है और वे टेलीप्रिन्टर बनवाने का आर्डर देने वाले हैं। तुरन्त ही उन्होंने उसके संचालक श्री बी. सेन गुप्त से भेंट की और उनसे अनुरोध किया कि नये टेलीप्रिन्टर हिन्दी में बनवाएं। इसके साथही अ० भा० हिन्दी पत्रकार संघ के अध्यक्ष की ओर से उन्होंने तुरन्त लंदन की क्रीड कम्पनी को लिखा और उनसे टेलीप्रिन्टर बनाने को कहा। क्रीड कम्पनी ने उनसे आवश्यक जानकारी मांगी है और इस कार्य में रुचि दिखलाई है। यूनाइटेड प्रेस के लंदन संवाददाता मि० तहमान कर और 'हिन्दुस्तान टाइम्स' के लंदन स्थित संवाददाता श्री आनन्द भी इस कार्य में सहायता कर रहे हैं। रायटर व असोसियेटेड प्रेस भी टेलीप्रिन्टर योजना में दिलचस्पी दिखा रहे हैं। इससे यह स्वप्न जल्द ही अत्रितरित होता मालूम पड़ रहा है।

'आर्यावर्त' के श्री जयकान्त मिश्र ने श्री चन्द्राकर जी के आग्रह से एक योजना बनाई है। उनकी सम्मति है कि जिस प्रकार अंग्रेजी टेलीप्रिन्टर में

'अ' संकेत हैं हिन्दी में भी उतने ही संकेत रखे जायें। यह ऐसे हो सकता है कि स्वर वर्णों का प्रयोग 'अ' में मात्रा लगाकर किया जाय, संयुक्त अक्षरों के प्रयोग के लिए हज्जत () से काम लिया जाय, 'ड' और 'ज' अक्षरों का काम अनुस्वार से लिया जाय, व अंकों को अक्षरों में लिखा जाय और विराम चिन्हों को छोड़ दिया जाय। निश्चय ही यह प्रबन्ध टेलीप्रिन्टर के लिए रहेगा और संपादन करते समय संपादक प्रचलित प्रथा के अनुसार मात्राओं, स्वरों, अंकों, चिन्हों व संयुक्ताक्षरों का प्रयोग कर सकेंगे। अंग्रेजी में भी इस प्रकार के संशोधन सम्पादक को करते होते हैं।

इस प्रकार यदि हिन्दी टेलीप्रिन्टर की स्थापना निकट भविष्य में हो जाती है तो इसका प्रभाव हिन्दी पत्रकार कला पर ही नहीं, वरन् हिन्दी जगत पर बड़ा महत्वपूर्ण होगा और हिन्दी को राष्ट्र भाषा बनाने में देर न लगेगी। इस सम्बन्ध में हमें यह जानकारी प्रसन्नता हुई है कि बाबू श्रीप्रकाश जी के प्रश्न के उत्तर में केन्द्रीय सरकार ने यह कहा है कि यदि रोमन लिपि में प्रेस तार भेजने की मांग की जाय तो डाक विभाग उस पर सहानुभूति से विचार करेगा। हिन्दी पत्रों को चाहिये कि ऐसी मांग करें।

सम्पादकीय

राष्ट्र मन्दिर का निर्माण

[पत्रकारों का कर्तव्य]

देश में आए हुए ब्रिटिश मिशन तथा भारतीय नेताओं के बीच बातचीत का परिणाम चाहे कुछ भी क्यों न हो, पर एक बात तो निश्चित ही है वह यह कि स्वाधीनता अब अधिक दिन रोकी नहीं जा सकती। पराधीनता की अंधेरी रात का गहन अन्धकार अब छिन्न-भिन्न हो चुका है और स्वतन्त्रता रूपी सूर्य का उदय अवश्यंभावी है। ऐसे शुभ अवसर पर सजीव पत्रकारों का आनन्द से

प्रफुल्लित होना स्वाभाविक ही है। इस शुभ दिन को निकट लाने के लिए बहुसंख्यक पत्रकारों ने पर्याप्त प्रयत्न भी किया है और उस पर उन्हें उचित गर्व होना ही चाहिये। पर तपस्या की पुरानी पंजी के भरोसे हम लोग कब तक बैठे रह सकते हैं! आवश्यकता इस बात की है कि पत्रकार समुदाय नव निर्माण कार्य में अपनी रुचि, योग्यता

तथा शक्ति के अनुसार सहायक हो। यह सहायता दो प्रकार से दी जा सकती है, एक तो स्वदेशी सरकार की लोक हितकारी योजनाओं में स्वयं सम्मिलित होकर और दूसरे अपने व्यक्तित्व को सर्वथा निर्लिप्त रखते हुए निर्भयतापूर्वक जनता का पथ-प्रदर्शन करके। जो रास्ता जिसकी अन्तरात्मा के अनुकूल हो वह उसका अनुसरण करे—पर मार्ग दो ही हैं—ये निष्ट तेन गम्यताम्।”

नेताओं की कठिन परिस्थिति—

भारतीय नेताओं की जिस कठिन परिस्थिति में कार्य प्रारम्भ करना पड़ेगा उसकी कल्पना हम कर सकते हैं। साम्प्रदायिकता का दानव अब भी सिर उठाये हुए है, दुर्भिक्ष की विभीषिका सामने मुँह बाए खड़ी है और अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति अजीब गोलमाल पैदा कर रही है। इस विषम संकटमय स्थिति में—

त्रिमूर्ति—

विचारक, प्रचारक और कार्यकर्ता के पारस्परिक सहयोग के बिना राष्ट्र मन्दिर की नींव सुदृढ़ आधार पर नहीं रखी जा सकती।

मार्ग के खतरे—

हमारे मार्ग में जो बाधाएँ हैं उन्हें हमें समझ लेना चाहिये। लज्जापूर्वक हमें यह बात स्वीकार करनी ही पड़ेगी कि भारत का पत्रकार समूह असंगठित अवस्था में है। इस पत्रकार सागर में ऐसी बड़ी-बड़ी मछलियाँ भी हैं, जो छोटी मछलियों को निगल जाती हैं और उन प्रकाशक रूपी हेलों के बारे में क्या कहा जाय, जो कभी-कभी मंत्रिमंडल की नाव को ही उलट सकती हैं! प्रकाशकों की गुटबन्दी से मंत्रिमंडल के टूटने की दुर्घटना असम्भव नहीं है। उस नाव में छेद तो वे कर ही सकती हैं।

मैक्सवैल की रिश्तत—

लाकर डकार भी न लेने वाले पत्रसंचालकों की हमारे यहाँ कमी नहीं। केन्द्र में अपनी सरकार स्थापित हो जाने पर एक प्रश्न अवश्य पूछा जाना

चाहिये। युद्ध सम्बन्धी विज्ञापनों से अथवा सरकार विज्ञप्तियों से किस-किस पत्र की कितनी आमदनी हुई! वहनों-वेष्टियों को डब्ल्यू. ए. सी में भर्ती कराने का विज्ञापन छापकर रुपया किस-किस पत्र ने कमाया? और उन्हीं के अनाचारमय जीवन की कथा छाप-छाप कर कौन कौन पत्र रस ले रहे हैं?

१९४२ के आन्दोलन के क्रान्तिकारियों को गुंडा बतलाने वाला विज्ञापन किस-किस पत्र ने छपा? और सरकार से फस्ट क्लास का किराया किस किस को मिला? यही नहीं

स्वदेशी सरकारों—

की गलतियों का भी सिंहावलोकन होना चाहिये। पिछली बार किस-किस प्रकाशक को प्रान्तीय सरकारों से कितना कितना रुपया मिला? साहित्यिक अथवा सांस्कृतिक कार्यों पर कितना व्यय हुआ?

क्ष. त्र. ज्ञ.—

मान लीजिए कि युक्तप्रान्त, बिहार और मध्य प्रदेश में क्रमशः क्ष. त्र. ज्ञ शिक्षा मंत्री होते हैं। हिन्दी पत्रकारों का यह कर्तव्य है और अधिकार भी कि क्ष. त्र. ज्ञ की गतिविधि पर सतर्क दृष्टि रखें। गढ़े मुर्दे उखाड़ने का हमारा प्रयोजन नहीं है, पर इतना हम अवश्य चाहते हैं कि पिछली गलतियों को दुहराया न जाय। सरकारों को सलाह देना हमारा काम नहीं—यह कर्तव्य तो उनके वेतन-भोगी सलाहकारों का है या उन गिट्ठुओं का, जो उसका समर्थन कर अपनी स्वार्थ सिद्धि करना चाहते हों—हम तो केवल यही चाहते हैं कि कोई भी सरकार अनुचित संरक्षणों द्वारा अयोग्यों को आभय देकर साहित्यक्षेत्र को कलंकित न करे।

यदि कोई सरकार प्राचीन ग्रन्थों को शुद्धतापूर्वक छापे, सुयोग्य लेखकों से नवीन ग्रन्थों की रचना कराके और उन्हें उचित पारिश्रमिक देकर अपने यहाँ से प्रकाशित करे तो हमें कोई ऐतराज नहीं होगा, पर अर्थ पिशाच प्रकाशकों के बेजा दबाव में आकर उन्हें मालामाल करना और “बके में

धका, टके में टका' की नीति को चरितार्थ करना कदापि सध्य नहीं। जनता अब उतनी बेवकूफ नहीं रह गई और पत्रकारों में कुछ तो ऐसे निकल ही आवेंगे जो स्वदेशी सरकारों तक के अन्यायों और अत्याचारों का भंडाफोड़ करने की हिम्मत रखते हों।

शासकों को हम— चाहे वे किसी भी रंग के हों न हों— युधिष्ठिर का अवतार नहीं मानते। वे आखिर आदमी हैं और यह सर्वथा स्वाभाविक है कि खुशामदी लपचकनों द्वारा वे धिरे रहें। और सच तो यह है कि 'खुशामद से खुदा राजी है'। क्या ही अच्छा हो यदि सरकार की ओर से उन पत्रकारों, प्रकाशकों तथा ग्रन्थकारों के फोटोग्राफ प्रकाशित किये जाते, जो सेक्रेटेरियट में अथवा मिनिस्ट्रो के बंगलों के आस पास चक्कर लगाते हुए दीख पड़ें? उनके पत्रों, बातचीतों, आयोजन-नाओं, भेंटों, भोजों और पार्टियों का विस्तृत विवरण आम पब्लिक के लाभार्थ आवश्यक ही छपना चाहिये। तालाब के खुदे बिना ही आ कूदने वाले मगरों से साहित्य रूरी गज की रक्षा होनी चाहिये।

रचनात्मक कार्य—

चूंकि सार्वजनिक जीवन को स्वच्छ रखने की जिम्मेवारी स्वाधीनचेता पत्रकारों की ही है, इसलिए उनके द्वारा खंडनात्मक कार्य होना सर्वथा स्वाभाविक ही है, पर अकेले खण्डनात्मक कार्य से आत्मसंतोष नहीं हो सकता। हमें कुछ रचनात्मक कार्य भी करते रहना चाहिये। अब उन बड़ी-बड़ी स्कीमों के बनाने में कोई लाभ नहीं, जो केवल कागजों पर ही धी रहें। आयोजना ऐसी होनी चाहिये, जो व्यवहार्य हो और जो अंशतः, धीरे-धीरे ही सही, कार्यरूप में परिणत की जा सके।

साल्विक वृत्ति वाले और स्वाधीनता प्रेमी पत्रकारों को दो बातें गाँठ बाँध लेनी चाहिये, एक तो यह कि कोई भी सरकार हमारे निजी प्रश्नों को हल नहीं करेगी और दूसरे कोई भी पंजीपति हमारे हकनों को चरितार्थ करने के लिये अपनी पंजी

नहीं लगावेगा। रीडर बाज लेखकों को छोड़कर शेष का जीवन संकटमय ही रहेगा।

छोटे समूहों का निर्माण—

पूर्णतया स्वतन्त्र छोटे-छोटे समूहों के निर्माण के बिना हम लोगों का उद्धार सम्भव नहीं। 'जो खायेगा चूड़ी तो बहुत करेगा पाप' गुरुवर कबीर के इस सिद्धान्त के अनुसार अपनी रहन सहन के धरातल को अपनी कठोर परिस्थिति के अनुकूल किए बिना हम लोगों का कल्याण नहीं। और पंजी के दानव का मुकाबला संघ शक्ति के बिना असम्भव है।

निर्माण के पहले—

चार चीजों की अनिवार्य आवश्यकता है—

(१) पारस्परिक मिलन

(२) अनाचारों का सामूहिक दंग पर विरोध।

(३) संकट में यथाशक्ति एक दूसरे की सहायता।

(४) स्थानीय संगठनों का सुदृढ़ मोर्चा।

चूंकि हम लोग बहुत दूर-दूर बसे हुए हैं, इसलिए साल में दो बार से अधिक मिलना पुरस्कृत ही समझिये। इस कारण हम

पाक्षिक पत्र व्यवहार—

की सिफारिश करेंगे। यह कोई असम्भव कार्य नहीं। इसके सिवाय मौजूदा साधनों का भी सदुपयोग किया जा सकता है। कुछ साप्ताहिक पत्र तो ऐसे हैं ही, जो सोलह आने नहीं तो दस बारह आने तो हमारा साथ दे ही सकते हैं।

सामंजस्य की आवश्यकता—

अपनी आर्थिक स्थिति सुधारने और निजी संगठन के आधार को सुदृढ़ करने का कार्य, समाज-सेवा के कार्यों के साथ-साथ ही चलना चाहिये। दोनों में सामंजस्य जरूरी है।

किसानों, मजदूरों और मजलूमों—

के प्रश्नों का अध्ययन करना और आवश्यकता पड़ने पर तदर्थ बसट सदन करने के लिए

तय्यार भी रहना हममें से प्रत्येक का कर्तव्य है। यह खयाल करलेना कि हमारी सरकारें कोई जुल्म या ज्यादती न करेंगी, महज खामखयाली है। अभी तो कार्य का श्रीगणेश भी नहीं हुआ है। शास्त्रमन्दिर की नींव तो अथ रक्खी जाने वाली है। निस्सन्देह किसी भी देश में ऐसे व्यक्ति अल्प संख्यक ही होंगे जो 'आत्मा के इंजीनियर' बनाए जा सकें, पर हम साधारण पत्रकार ईंट, चूना, गारा, पत्थर ढोने का काम तो कर ही सकते हैं।

जनता को मानसिक भोजन—

आज तो पहला सवाल अकाल से जनता की रक्षा करना है, पर यह दुर्भिक्ष शायद आठ-दस महीने से अधिक नहीं चलेगा, तत्पश्चात् ही अन्य प्रश्नों पर गम्भीरता-पूर्वक विचार किया जा सकता है।

जनता को शुद्ध सात्त्विक मानसिक भोजन देने का सवाल तभी उठेगा। इन आठ-दस महीनों में हम पारस्परिक विचार-परिवर्तन द्वारा व्यावहारिक आयोजना तो तय्यार कर ही सकते हैं।

भिन्न रुचि—

लेखकों में भिन्न-भिन्न रुचि के व्यक्ति हैं। उनकी परिस्थितियाँ भी भिन्न-भिन्न हैं। सबको एक लाठी से नहीं हाँका जा सकता। बुद्धिजीवियों की तुलना-मिजाजी प्रसिद्ध ही है। जिनमें विद्रोह की भावना का नामोनिशान नहीं, उन्हें ठोंक पीटकर विद्रोही अथवा क्रान्तिकारी नहीं बनाया जा सकता। इसके सिवाय जो त्याग आत्मिक प्रसन्नता के साथ नहीं किया जाता, उसका कुछ फल भी नहीं मिलता।

संख्या एक नगरस्थ चीज—

आध्यात्मिक अथवा सांस्कृतिक जगत में संख्या एक नगरस्थ चीज है। भेड़ें चाहे सौ हों या सवासौ, वे अपनी भेड़ियाधसान की नीति का ही अवलम्बन करेंगी। विलायत में भी सी. पी. स्कॉट और ए. जी. गार्डिनर, मैक्सवेल और ब्रैलस जैसे स्वार्थी पत्रकार अल्प संख्यक ही रहे हैं। इस देश में भी उनकी संख्या ज्यादा नहीं

होगी। और उनसे भी कम होंगे क्रियात्मक कल्पना शक्ति वाले विचारक।

एक कल्पना—

युक्त प्रांत, बिहार और मध्य प्रदेश के हिन्दी भाषा-भाषी मिलकर नौ दस करोड़ से कम न होंगे। यदि तीनों प्रांतों के खास-खास साहित्यिक और पत्रकार मिलकर एक आयोजना और एक कार्य-क्रम तय्यार कर दें और तदनुसार कुछ कार्य भी प्रारम्भ कर दें तो शीघ्र शेष समस्त भारत की साहित्यिक तथा सांस्कृतिक स्थिति पर उसका असर बिना पड़े नहीं रह सकता। इन तीनों प्रदेशों को मिलाकर भारत का जो भू-भाग बनता है उसे भारत का 'हृदय' कहा जा सकता है। यदि हृदय मजबूत हो तो समस्त शरीर को बल पहुँचाना आसान होगा। पर राजनैतिक नेताओं के भरोसे बैठे रहने से हम लोग अपने को अशक्त और परावलम्बी ही बना डालेंगे। उन्हें अपने भगड़ों से ही फुर्सत नहीं और हम किसी ऐसे भारतीय नेता को नहीं जानते, जिसने अपने जीवन के कुल मिलाकर दस-बीस घण्टे भी हिन्दी पत्रकारों या लेखकों की दशा पर विचार करने में बिताये हों। बहुतां की निगाह में शायद हिन्दी पत्रकार बिलकुल फालतू चीज हैं और बावजूद तमाम स्वाधीनता की पुकारों और आवाजों के आज भी भारत के अनेक नेता गोरे चमड़े वाले पत्रकारों को इंटरव्यू देने में और उनकी आवभगत करने में अपनी शान समझते हैं!

सुदृढ़ चट्टान—पर दूसरे हमारे बारे में क्या कहते हैं, क्या सोचते हैं, इसकी चिन्ता छोड़कर हमें साधारण जनता की सेवा में, उसकी शिकायतों को दूर करने में और उसमें अन्यायों तथा अत्याचारों का विरोध करने की शक्ति उत्पन्न करने में अपनी लेखनी का उपयोग करना चाहिए। यही वह सुदृढ़ चट्टान है, जिस पर हमारे राष्ट्रीय भवन की नींव रक्खी जानी चाहिये।

यदि हम अपने को योग्य बना लें, अपने दृष्टि-कोण की व्यापक रखें, अपने क्षुद्र स्वार्थों का

बलिदान जनतार्थ सेवा रूपी बलि-वेदी पर करने को सर्वदा तय्यार रहें और सामूहिक ढंग पर काम करना सीखलें तो हिंदी पत्रकार भी इन देशों में एक ऐसी शक्ति बन सकते हैं, जिसके सामने बड़े-से-बड़े शासकों को झुकना पड़ेगा। वे राष्ट्र मन्दिर की प्रतिमा में प्राण-प्रतिष्ठा करने के यज्ञ में ज्वरदस्त सहायता भी दे सकते हैं, पर उस

कल्याणकारी मुहूर्त को लाने के पहले हम में से बहुतों को कठोर साधना करनी पड़ेगी। क्या हम उस तप के लिए तय्यार हैं ?

इस प्रश्न का उत्तर प्रत्येक सजीव पत्रकार को अपनी अन्तरात्मा से पूछना चाहिये।

—बनारसीदास चतुर्वेदी

समाचार-पत्रों का दायित्व

किसी भी देश के राष्ट्रीय जीवन के निर्माण में समाचार-पत्रों का बहुत बड़ा हाथ रहता है। वे जनता को शिक्षित करते हैं और उसमें नवीन चेतना उत्पन्न करते हैं। हमारे देश में भी समाचार-पत्रों की शक्ति अब बहुत बढ़ गई है, लेकिन इंग्लैण्ड, अमरीका आदि देशों में तो प्रेस इतना शक्तिशाली है कि वह राष्ट्र की विचार-धारा को ही बदल देता है।

समाचार-पत्रों का इतना प्रभाव है तो उनका दायित्व भी कम नहीं है। उनके लिए आवश्यक है कि वे जहाँ कहीं भी अन्याय होता देखें, उसका विरोध करें, भले ही परिणाम कुछ भी क्यों न हो। निर्भीकता समाचार-पत्रों के लिए उतनी ही जरूरी है, जितनी शरीर के लिए आत्मा।

हमें खेद है कि सन् ४२ के आंदोलन में हमारे देश के अधिकांश पत्र इस कसौटी पर ठीक नहीं उतरे ! इस विषय में २ अप्रैल १९४६ के 'सैनिक' में युक्त प्रांत के प्रभावशाली नेता पं० श्रीकृष्ण दत्त जी पालीवाल ने जो कुछ लिखा है, वह ध्यान देने योग्य है :—

“समाचार-पत्र देश के गौरव और पथ-प्रदर्शक होते हैं। परन्तु क्या १९४२ के सत्याग्रह संग्राम में उन्होंने अपने कर्तव्य का पालन किया ? जब १९४१ में “नेशनल हेरल्ड” तक ने महात्मा गांधी का वक्तव्य छापने तक का साहस नहीं दिखाया तब १९४२ में हम औरों से क्या आशा कर सकते थे ? बड़े से बड़े क्रान्तिकारी पत्र सब प्रकार के बन्धनों के सामने सर झुका कर युद्ध के ठेकेदारों की तरह सरकारी खबरें बेचते

तथा युद्ध-समर्थक विज्ञापन छाप कर सान्त्वना पैसा कमाते रहे। नजरबन्दों पर होने वाले राक्षसी अत्याचारों की खबरें छापने का साहस तो इनमें आता ही कहाँ से ? उनकी सुविधा के लिये मानवीय नियम बनवाने के लिये भी इन्होंने कभी कुछ नहीं लिखा। कभी यह भी नहीं लिखा कि अगस्त १९४२ के पहिले तक राजत्रयियों को जो सुविधाएँ प्राप्त थीं वे उन्हें क्यों नहीं वापस दी जाती ? १९४५ में आगरा डिस्ट्रिक्ट जेल में किस माई के लाल नौजवान को १९४२ के सत्याग्रह-संगठन के सिलसिले में फाँसी हुई ? आगरा के स्थानीय अखबारों में सिर्फ इतनी खबर निकली कि “पूर्वी जिले के किसी कायस्थ नवयुवक को राष्ट्रीय आन्दोलन के सम्बन्ध में फाँसी दी गई ?” इस माई के लाल का नाम जानने और छापने की इन पत्रों ने कोई आवश्यकता ही नहीं समझी। देश के किसी दूसरे पत्र में तो इतनी खबर ही नहीं छपी। बिड़ला जी और देवदास गांधी के ‘हिन्दुस्तान टाइम्स’, बात-बात में अपना विज्ञापन करने वाली ‘अमृत बाजार-पत्रिका’ और अमर शहीद गणेश-शङ्कर विद्यार्थी के ‘प्रताप’ तथा समूची कांग्रेस एसेम्बली के होते हुए यह राष्ट्रीय अनाचार किस देशभक्त के हृदय में शूल की तरह नहीं खटकेगा ! छूटे हुए कांग्रेसजनों को एसेम्बली में १९४२ के शहीदों की स्मृति और उनके प्रति सम्मान का प्रस्ताव कभी नहीं पेश हुआ। अखिल भारत-वर्षीय पत्रकार सम्मेलनों में जितनी आत्म-प्रशंसा की जाती है उसको देखते हुए तो यह घटना और भी अधिक शोचनीय हो जाती है। उनके प्रस्तावों

में भी जितनी चर्चा पत्रकारों के वेतन की होती है, पत्रकारों के उच्चादशों और पवित्र कर्त्तव्यों की उसकी दशांश भी नहीं। कुछ अपवादों को छोड़

कर अंतिम स्वाधीनता-संग्राम के लिए देश के पत्र सर्वथा अप्रस्तुत प्रतीत होते हैं।

—५०

पत्रकारों का संगठन और कठिनाइयाँ

इसी अंक में हम इंग्लैण्ड के पत्रकारों के संगठन के विषय में एक लेख छाप रहे हैं। उससे पता लगता है कि यहाँ आज पत्रकारों की जो स्थिति बन पाई है उसके पीछे चालीस वर्षों की ठोस साधना और अनेक कार्यकर्त्ताओं की लगन रही है। इंग्लैण्ड में पत्रों का प्रचार अधिक है, यहाँ पर आवागमन के मार्ग सुगम हैं और लोगों में सामूहिक संगठन की भावना विद्यमान है। जिस समय नेशन्स यूनियन ऑफ जर्नलिस्ट्स का जन्म हुआ, लगभग समस्त प्रेस कर्मचारियों के अपने-अपने संगठन थे और पत्रकारों के सामा-जिक सम्पर्क के लिए प्रेस क्लब तथा इन्स्टीट्यूट जैसी संस्थाएँ विद्यमान थीं। प्रारंभिक कार्यकर्त्ताओं को 'मेनचेस्टर गार्जियन' जैसे पत्र में कार्य करने का सौभाग्य प्राप्त था, जहाँ संपादकाचार्य सी. पी. स्काट की उदारता व कृपा का उन्हें सदा भरोसा था। फिर भी उन पत्रकारों को बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। पत्रकारों को संगठित करना मंडकों को तौलने के समान है।

हमारे यहाँ तो पत्रकार संगठन के मामले में और भी अधिक कठिनाइयाँ हैं। हमारा देश अब तक पराधीन रहा है। इसलिए देश की स्वतन्त्रता के सामने सारे प्रश्न गौण पड़ जाते हैं। पत्रकारों को निरंतर विदेशी सरकार की दमन शक्ति से लोहा लेना पड़ा है। इस संघर्ष का नतीजा संचालकों तथा पत्रकार दोनों को भुगतना पड़ता है। हमारे यहाँ पत्रकारों में सामूहिक संगठन की भावना की कमी है। अखिल भारतीय हिन्दी पत्रकार संघ में इस वर्ष के अन्त तक कुल जमा १३२ सदस्य बने थे, जिनमें अधिकांश ने अपना चन्दा दुबारा नहीं दिया।

पत्रकार संघ को कई कठिनाइयों में होकर गुजरना पड़ता है। इसके पास ऐसे कार्यकर्त्ताओं

का अभाव है जो अपना सारा समय इस संगठन को दे सकें। बीस करोड़ बोलने वालों की भाषा के पत्रों का संगठन और ऐसे देश में जहाँ काश्मीर से नागपुर और बंबई से कलकत्ता तक हिन्दी पत्रकारों को संगठित करने का उद्देश्य रखने वाली संस्था के पास एक भी ऐसा आदमी न हो जो अपना सारा समय इस काम को दे तो अव्य-वस्था की कल्पना आप कर सकते हैं। सौभाग्य की बात है कि हमारे देश में ऐसे उत्साही युवक हैं जो पत्रकार संगठन के कार्य में अपना समय देना चाहते हैं, पर हमारे पास इतने साधन नहीं हैं कि उनकी लगन का पूर्ण उपयोग कर सकें। इसी वर्ष सर्वश्री कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर', रा० र० खांडिलकर, राजेन्द्र शङ्कर भट्ट, चन्दूलाल चन्द्राकर, उमाशङ्कर शुक्ल, भीष्म आर्य, अयोध्या-नाथ 'वीर', पूर्ण चन्द्र जैन, प्रभाग चन्द्र शर्मा, शिवनाथ जैसे उत्साही पत्रकारों ने हमें क्रियात्मक सहायता देने का वचन दिया है। इसके अति-रिक्त सर्वश्री मूलचन्द्र अग्रवाल, बलदेव दास, देवव्रत शास्त्री, श्रीकृष्ण दत्त पालीवान, रामशङ्कर त्रिपाठी, ठाकुर श्रीनाथ सिंह, जगदीश चन्द्र 'हिमकर' जैसे पत्रकार संघ के पुराने कार्यकर्त्ता नये उत्साह के साथ पत्रकार संघ का काम करने का आश्वासन दे रहे हैं। पर आवश्यकता इस बात की है कि हम लोगों का संगठन ऐसा सजीव हो जो इन सभी शक्तियों का उपयोग कर सके।

मथुरा में पत्रकार संघ ने अपना रूप जनता-न्त्रिक बनाया है। इसके अनुसार अब केन्द्रीय पत्रकार संघ का सदस्य होने के लिए स्थानीय अथवा उसके अभाव में प्रांतीय पत्रकार संघ द्वारा ही आवेदन करना आवश्यक है। अभी हमारे यहाँ प्रांतीय तथा स्थानीय पत्रकार संघ तो थे, पर वे एक दूसरे से असम्बद्ध थे। दिल्ली,

यू. पी. बिहार, मध्य प्रांत तथा मध्य भारत में प्रांतीय संगठन हैं और कलकत्ता, काशी, प्रयाग कानपुर, नागपुर, खडवा, मधुग, भांसी में स्थानीय संगठन। इस योजना के अनुसार सब एक दूसरे से सम्बद्ध हो जायेंगे। इससे प्रत्यक्ष रूप से केन्द्रीय संगठन को आर्थिक हानि होगी, पर संगठन व्यापक बनने से लाभ ही लाभ है, क्योंकि तभी संघ कुछ उपयोगी कार्य कर सकेगा।

स्थानीय शाखाओं को शीघ्र ही संगठित करने की आवश्यकता इसलिये और भी अधिक है कि हमारे भारतवर्ष जैसे विभूत देश में पत्रकारों के हितों की रक्षा का प्रारम्भिक उत्तरदायित्व स्थानीय संगठनों पर ही हो सकता है।

पत्रकारों के पास न इतना समय है और न पैसा ही कि वे लम्बी यात्राएँ कर बैठकों में सम्मिलित हो सकें या आवश्यक मामलों की जाँच के लिये दौड़ सकें। स्थानीय संघ नागरिकों की सहानुभूति अपनी ओर आकृष्ट कर व अपना संगठित विशेष प्रदर्शित कर अन्याय का जो प्रतिरोध प्रदर्शित कर सकते हैं, वह चिट्ठियों से नहीं होता। साथ-साथ पत्रकारों के सामाजिक सम्पर्क, आपत्ति के समय सहायता, संदर्भ पुस्तकालय, व्याख्यान, खेलकूद आदि की आयोजना भी स्थानीय संघ ही कर सकते हैं। इन्हीं कारणों से इस वर्ष स्थानीय तथा प्रांतीय संगठनों की स्थापना अनिवार्य कर दी गई है।

इस समय पत्रकार संघ ने सदस्यों से जो शुल्क रक्खा है—२) प्रति वर्ष, वह बहुत कम है। सौ रुपया मासिक वेतन पाने वाले पत्रकार के एक दिन के वेतन से भी यह कम है। इसका एक नतीजा यह हुआ है कि पत्रकार संघ के संचालकों को सदा उन लोगों का रख देखना पड़ता है, जिनके पैसे से संघ का साधारण आफिस कार्य तक चलता है। १९४३-४५ में जब पत्रकार सदस्यों से ७८) प्राप्त हुआ, संचालकों से लगभग एक हजार रुपया मिला था। संघ के नियमानुसार

सम्बद्ध दैनिक ३०), साप्ताहिक १०) और मासिक ५) शुल्क देते हैं। कुछ पत्रों ने १००) प्रति पत्र विशेष सहायता दी थी। अतएव उस वर्ष काशी तथा पटना के पत्रकारों के मामले यदि संघ ले सका तो उसके कारण का हम अनुमान कर सकते हैं। यदि पत्रकार चाहते हैं कि उनके मामलों को संघ बग़ावर हाथ में लेता रहे और उनके हितों की रक्षा में जागरूक रहे तो यह आवश्यक हो जाता है कि संघ को आर्थिक दृष्टि से निश्चिन्त कर दिया जाय, जिससे उसे किसी भी मुँह न ताकना पड़े।

विदेशों में ट्रेडयूनियनों की सकलता का एक बड़ा भारी कारण यह रहा है कि उनके पास इतना द्रव्य रहता है, जिससे वे हड़ताली कार्यकर्ताओं को अपना आदेश मानने के लिये वेतन दे सकें। जब कार्यकर्ता जानता है कि संघ का आदेश मानने के कारण उसे भूखों नहीं मरना पड़ेगा तो फिर वह क्यों उससे विपरीत जायगा? इसके साथ ही पत्रकारों की बीमारी, बेकारी तथा अन्य सुखीवतों के वक्त काम आने के लिये यदि एक फण्ड कायम होजाय तो संघ कुछ सहायता तो तुरन्त दे सकेगा। इसके लिये सहयोग पद्धति पर फण्ड स्थापित हो। नेशनल यूनियन आवर्ज-लिस्ट्स का उदाहरण हमें बड़ी सहायता देगा।

हिन्दी पत्रों का भविष्य उज्ज्वल है, पर जब तक पत्रकार संगठित नहीं होंगे, वे उस भविष्य के पूर्ण अधिकारी नहीं बन सकते। एक समय था जब स्व० प्रताप नारायण मिश्र को सौ ग्राहक न मिलने के कारण 'ब्राह्मण' पत्र बन्द करना पड़ा। आज 'कल्याण' की ८०१०० प्रतियाँ छपती हैं। पर पत्रकारों की स्थिति में इतना अधिक परिवर्तन हुआ है, ऐसा हम नहीं मानते। जहाँ तक पत्रकारों की स्वतन्त्रता का सवाल है, उसमें तो कमी ही हुई है। इसलिए हम लोगों को बहुत अधिक सावधान रहना है कि कहीं हमारी असावधानता से हमारा भविष्य हमारे हाथों से न निकल जाय।

पत्रकार-विद्यालय

समाचार-पत्रों का क्षेत्र ज्यों-ज्यों व्यापक होता जा रहा है और उनके प्रभाव में वृद्धि होती रही है, पत्रकार-कला के विधिवत् अध्ययन की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट होता जा रहा है और वे इस बात की कमी महसूस करने लगे हैं कि हिन्दी-जगत में पत्रकारों की ट्रेनिंग के लिए कोई भी स्थायी प्रवन्ध नहीं है। आज की स्थिति तो यह है कि बिना किसी प्रकार का शिक्षण प्राप्त किए अलेख अथवा यूनीवर्सिटी से निकल कर नवयुवक समाचार-पत्रों के कार्यालयों में पहुँच जाते हैं और चूँकि वे अल्प वेतन पर ही काम करने के लिए राजी हो जाते हैं, उन्हें काम भी मिल जाता है। किसे यह देखने का अवकाश है कि वे अनुवाद ठीक करते भी हैं या नहीं, भाषा कैसी लिखते हैं, समाचारों का संग्रह और सम्पादन किस प्रकार करते हैं और प्रूफ में कितनी भूलें छोड़ते हैं? हमें खेद-पूर्वक कहना पड़ता है कि विधिवत् ट्रेनिंग प्राप्त कार्य-कर्ताओं के अभाव में आज हमारे हिन्दी पत्रों का स्तर भाषा, शैली, सामग्री, और गैटप आदि की दृष्टि से बहुत ही गिरा हुआ है। विदेशी पत्रों की बात छोड़िए। अपने ही यहाँ के अंग्रेजी के पत्रों से हिन्दी के पत्रों की तुलना कर देखिए। आपको जमीन आसमान का फर्क मिलेगा।

हर्ष की बात है कि कुछ साहित्य-प्रेमियों का ध्यान पत्रकारों की ट्रेनिंग के लिए कुछ व्यवस्था करने की ओर गया है। कुछ समय पूर्व 'विश्व-मित्र' के संचालक श्री मूलचन्द्र जी अग्रवाल के विरजिव श्री कृष्णचन्द्र जी अग्रवाल ने कुछ कलारशिप देकर ट्रेनिंग की व्यवस्था करनी चाही थी; लेकिन पता नहीं कि क्यों वह योजना पूर्ण-तया कार्यान्वित न हो सकी। इसके पश्चात् आगरे के गीता-मन्दिर के तत्वावधान में गत् वर्ष गर्मियों की छुट्टियों में पत्रकार-शिक्षण-शिविर का संचालन हुआ। अनन्तर काशी विद्यापीठ ने चार महीने का प्रयोग करके बत्तीस विद्यार्थियों को ट्रेनिंग दी।

ये सब अलरकालीन प्रयत्न हुए हैं। कोई स्थायी विद्यालय स्थापित नहीं हो पाया।

गत् दिसम्बर मास में अ. भा. हिन्दी पत्रकार सम्मेलन के मधुगा अधिवेशन में पत्रकार विद्यालय की स्थापना के सम्बन्ध में निम्न-लिखित प्रस्ताव सर्व-सम्मति से स्वीकृत हुआ—

“हमारे देश की वर्तमान स्थिति के अभ्युत्थान में समाचार-पत्रों का महत्वपूर्ण स्थान है; लेकिन हिन्दी पत्रों का मापदण्ड सन्तोष-प्रद नहीं है। इसका कारण पत्रकार-कला की विधिवत् शिक्षा का अभाव है। इसलिए यह सम्मेलन यह आवश्यक समझता है कि शीघ्रातिशीघ्र एक पत्रकार विद्यालय की स्थापना की जाय। इस दिशा में प्रयत्न करने के लिए निम्न-लिखित व्यक्तियों की एक समिति नियुक्त की जाती है, जो तीन मास के भीतर उसकी विस्तृत रूप-रेखा बनाकर संव-कार्यालय को भेजे :—

१. पं० बनारसी दास चतुर्वेदी (संयोजक)
२. श्री कृष्णराम मेहता
३. „ सम्पूर्णानन्द
४. „ हरिशङ्कर शर्मा
५. „ श्रीप्रकाश
६. „ अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी
७. „ हजारी प्रसाद द्विवेदी
८. „ हरिशङ्कर विद्यार्थी
९. „ रामगोपाल विद्यालंकार

इस समिति को अधिकार होगा कि वह आवश्यकतानुसार दो अन्य व्यक्तियों को सम्मिलित करले।”

संयोजक महोदय ने श्री पारसनाथ सिंह जी तथा पंजाब यूनीवर्सिटी के पत्रकार-कला-विभाग के अध्यक्ष श्री पृथ्वीपाल सिंह जी को इस समिति में शामिल कर लिया है। उक्त प्रस्ताव के आदेशानुसार पत्रकार-विद्यालय की योजना तथा उसके पाठ्य-क्रम की विस्तृत रूप-रेखा तैयार हो गई है, जो इसी अङ्क में अन्यत्र प्रकाशित है।

वह रूप-रेखा अभी अन्तिम नहीं है। सभ्यता के सदस्यों तथा इस विषय में रुचि रखने वाले अन्य महानुभावों की सेवा में वह विचारार्थ भेजी गई है। सबके सुझाव आ जाने पर इसे अन्तिम रूप दे दिया जायगा। विद्यालय का स्थान कौन सा होगा और उसके लिए द्रव्य की व्यवस्था क्या होगी, इन प्रश्नों का उत्तर आगे आने वाला

हमारी व्यवस्था

जब-जब पत्रों के स्तरों को ऊँचा उठाने तथा उनमें कार्य करने वालों को उचित वेतन और पारिश्रमिक देने की मांग की जाती है, संचालकों की ओर से यह आपत्ति की जाती है कि हिन्दी पत्रों की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं है। यह ठीक है कि अंग्रेजी पत्रों को विज्ञापन तथा विक्री द्वारा हिन्दी पत्रों से अधिक आय होती है, लेकिन साथ ही यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि हिन्दी पढ़ने वालों की संख्या अंग्रेजी से कहीं अधिक है और यदि बंगला, तामिल अथवा गुजराती के पत्र अपने-अपने प्रांतों में अंग्रेजी पत्रों से सफलता पूर्वक प्रतिद्वन्द्विता कर सकते हैं तो हिन्दी के पत्र ऐसी स्थिति में क्यों हैं? इसका एक कारण है हमारी प्रबन्ध शक्त की कमी।

उदाहरणार्थ पिछले माह हमने एक विज्ञापन हिन्दी के तीन प्रतिष्ठित पत्रों को भेजा था। ये पत्र अपने-अपने प्रेस के प्रमुख हिन्दी दैनिक हैं। उसका जो परिणाम हुआ वह बड़ा मनोरंजक था। हमने लिखा था कि आप विज्ञापन को छाप कर बिल हमें भेज दें। एक पत्र ने विज्ञापन छाप कर उसका बिल भेज दिया, जिसका भुगतान कर दिया गया। दूसरे पत्र ने लिखा कि आपको इतना रुपया देना पड़ेगा। भेज देंगे तो विज्ञापन छाप

दिया जायगा। तीसरे पत्र ने न विज्ञापन छाप और न उस सम्बन्ध में कोई लिखा-पढ़ी की।

जिस पत्र ने विज्ञापन छाप दिया वह मुनाफे में रहा। दूसरे पत्र को रुपये नहीं भेजे गये, क्योंकि विज्ञापन का मतलब निकल गया था और देर गई थी। फिर भी उनके रेट मालूम हो गये और भविष्य में हम उनको अपना विज्ञापन भेज सकते हैं। पर जिस पत्र ने न विज्ञापन छाप और न पत्र ही दिया, उसको कौन विज्ञापन-दाता दुबारा करेगा?

कहना न होगा कि जिस पत्र ने विज्ञापन न छाप, वह इन तीनों पत्रों में सबसे पुराना है और अपने को सबसे प्रतिष्ठित भी समझता है। जिस पत्र ने विज्ञापन छाप, वह इनमें सबसे नया है। उसकी छपाई, सफाई, सामग्री, प्रदर्शन आदि उसकी प्रगतिशीलता का परिचय मिलता है। वह पत्र अल्प समय में ही अपने प्राचीन सभ्यता के योगियों को पीछे छोड़ देता है तो उसका कारण उसकी प्रबन्ध-पटुता भी होगी।

उक्त उदाहरण से यह स्पष्ट है कि यदि अपने पत्र की व्यवस्था के बारे में जागरूक तो हमें आर्थिक लाभ ही होगा। व्यवस्था तो हमें भी लभ्य नहीं।

हमारा आगामी विशेषांक

‘मधुकर’ के पाठकों की सेवा में ‘बुन्देलखण्ड प्रांत-निर्माण’, ‘जनपद आन्दोलन’ तथा अन्य छोटे-मोटे विशेषांकों को भेंट करने के पश्चात् अब हमने उसका ‘रेखा-चित्रांक’ प्रकाशित करने का निश्चय किया है। हमारी इच्छा तो यह थी कि इस

विशेषांक में हम देशी-विदेशी साहित्यकारों, नेताओं, इतिहासज्ञों, वैज्ञानिकों, शिक्षा-शास्त्रियों आदि के रेखा-चित्र देते, लेकिन इसके लिए आवश्यक सामग्री जुटाने में बहुत समय लगे जायगा और साधन भी यथेष्ट चाहिये। ऐसी दशा

(शेष टाय ० २)

सप्तक



मासिक पत्र

वर्ष ५]

अक्तूबर १९४६

[अंक २३—२४]

विषय-सूची

१. धंग और गंड		श्री वासुदेवशरण अग्रवाल	६११
२. नवयुवकों से दो बातें		प्रिंस क्रोफ़्टकिन	६१४
३. पूज्य पिता जी		श्री गिरिजाशंकर उपाध्याय	६२४
४. विराट (धारावाहिक उपन्यास)		स्टीफन ज़िग	६२७
५. सुन्दरता की शक्ति (कविता)		श्री 'बच्चन'	६३४
६. हमारी आवश्यकताएँ		वनारसीदास चतुर्वेदी	६३५
७. यार का पूत भरतार खिलावे (कहानी)		श्री शिवसहाय चतुर्वेदी	६३६
८. स्वोक्त (कविता)		श्री जनार्दन प्रसाद 'वारिद'	६४५
९. गणेश जी (संस्मरण)		श्री बालाप्रसाद वर्मा	६४६
१०. साहित्यिक और सांस्कृतिक स्वराज्य			
(पत्र)		श्री भवानीदयाल सन्यासी	६५०
११. एक आदर्श पत्रकार		वनारसीदास चतुर्वेदी	६५३
१२. सम्पादकीय		सम्पादक	६६३

सम्पादक

वनारसीदास चतुर्वेदी

सहकारी सम्पादक

यशपाल जैन बी. ए., एल-एल. बी.

प्रकाशक

प्रेमनारायण खरे

इस अंक का मूल्य ॥॥)

वार्षिक
तीन रुपये }

श्री वीरेन्द्र-केशव-साहित्य-परिषद्,
टीकमगढ़ (सी. आई.)

{ एक प्रति
छः आना

एक हजार प्रतियाँ छपाने में हमारा बत्तीस रुपये के करीब खर्च बैठता है। मोटे-ताजे ग्रन्थों के प्रति, जिनका मूल्य चार-पाँच रुपये हो, हमारे हृदय में विशेष आकर्षण नहीं। जिस चीज को साधारण जनता नहीं खरीद सकती उसे हम बहुत महत्त्वपूर्ण मानते भी नहीं। बम्बई के ताजमहल होटल में एक बार हमने खाना खाया था—एक निमन्त्रण में—और वहाँ से हम भूखे ही उठ आये थे और पाँच-छः आने खर्च करके ढाबे में हमें पेट भर भोजन मिल गया था। यदि हमारे पास सुविधा होती तो हम सस्ते सात्विक भोजन की दुकानें खास-खास नगरों में खोल देते और लोगों को यह प्रत्यक्ष बतला देते कि सात्विक भोजन कितना सस्ता बनाया जा सकता है; पर भोजन की दुकान खोलना हमारा धर्म नहीं है, उसके बजाय मानसिक भोजन तैयार करने का काम कुछ-कुछ हमने सीखा है और उसी पर हम अपनी समस्त शक्तियों को केन्द्रित कर देना चाहते हैं। यही हमारा स्वधर्म है।

हमारे आराध्य—हमें यह देखकर आश्चर्य

वीराश्रम, टीकमगढ़]

होता है कि हमारे नेताओं का जितना ध्यान भोजन पर है उसका लाभ ही हिस्सा भी मानसिक भोजन पर नहीं है। मानसिक भोजन को उन्होंने इतना फालतू क्यों समझ रक्खा है, यह बात हमारे समझ में अब तक नहीं आई। पर हर चीज को भार-ग्रस्त नेताओं के हाथ में छोड़ देना और हावा-वात में उनका मुँह ताकना बिल्कुल शलत चीज है। ऐसे कापुरुष तथा परमुखापेक्षी हम क्यों बनें? यह संघ का युग है। अकेले-अकेले हम लोग कुछ काम नहीं कर सकते। कहावत भी है, अकेला चना भाड़ नहीं फोड़ सकता। साधारण जनता तक सस्ते-सस्ता और सात्विक-से-सात्विक, स्फूर्ति-मय तथा उत्साहप्रद मानसिक भोजन पहुँचाने के लिये सैकड़ों कार्यकर्ताओं की आवश्यकता है। यदि वे लोग सप्ताह में घण्टे-दो-घण्टे भी टेक्यों के यथा-स्थान वितरित करने या बेचने में व्यय कर दें तो यह यज्ञ आसानी से सम्पूर्ण हो सकता है। जिन लोगों की जेब में कीमती किताबें खरीदने के लिये काफी पैसे हैं उनकी हमें बिल्कुल चिन्ता नहीं। हम तो अपनी चीजें उन ग्रामीण अध्यापकों तथा ग्रामीण कार्यकर्ताओं और निर्धन छात्रों तक पहुँचाना चाहते हैं, जिनके लिये प्रत्येक पैसा कुछ मूल्य रखता है और जिनमें ज्ञानप्राप्ति के लिये सच्ची श्रद्धा है। वे ही हमारे आराध्य हैं और 'द्विद्वान भ्रम कौन्तेय' भगवान का यह आदेश ही हमारा मूल मन्त्र है।

—बनारसीदास चतुर्वेदी

मुद्रक—वीरसिंह देव प्रेस, टीकमगढ़ (सी. आई.)

धंग और गंड

श्री वासुदेवशरण अग्रवाल

चन्देल वंश के प्रतापी राजाओं ने बुन्देलखण्ड की भूमि को मध्यकालीन भारत के मानचित्र में उजागर बनाया। बुन्देलखण्ड की संस्कृति, कला, साहित्य और यशोगाथा को चन्देल महीपालों ने राष्ट्रीय महत्त्व और पद प्रदान किया। इस विख्यात वंश का जो कुछ इतिहास है, उनकी जो कर्ति-कथा है, उनके द्वारा जिस कला और स्थापत्य को पोषण मिला एवं उनके जितने शिलालेख हैं उन सब का प्रकाशन एक ग्रन्थ में अति शीघ्र हो जाना चाहिये। राष्ट्रकूट नरेशों पर जिस प्रकार का इतिहास-परक शोध-ग्रन्थ डा० अनन्त सदाशिव अष्टेकर ने लिखा है, धारा के परमारवंशी राजाओं पर श्री डी० सी० गंगोली ने जैसा परि-

श्रम किया है, एवं श्री रमाशंकर त्रिपाठी ने जो कार्य कन्नौज के गुर्जर प्रतिहारों के इतिहास पर किया है, उसी प्रकार का शोध-कार्य चन्देल वंश के ऐतिहासिक वर्णन के लिए भी किया जाना चाहिये।

चन्देलों ने अपने वंश को कभी चन्देल्ल या चन्द्रेल्ल और कभी उसी के संस्कृत रूप में चन्द्रात्रेय कहा है। शिलालेखों के अनुसार मुनि चन्द्रात्रेय के वंश में अनेक राजाओं की परम्परा में प्रतापी नन्नुक का जन्म हुआ। नन्नुक ने ८३१ ई० के लगभग चन्देल वंश की नींव डाली। आगे चल कर इस वंश में एक-से-एक प्रतापी और दिग्विजयी सम्राट् उत्पन्न हुए, जिनकी सूची इस प्रकार है :—

१. नन्नुक (८३१ ई०)

|

२. वाक्पति

|

३. विजयशक्ति

|

४. राहिल

|

५. हर्ष

|

६. यशोवर्मन्

|

७. धंग

(८५० - १००१ ई०)

|

८. गंड

(१००२ - १०१८ ई०)

|

९. विद्याधर

|

१२. कीर्तिवर्मन् (अन्तिम तिथि १०६८ ई०) ११. देववर्मन् (१०५१ ई०)

१३. सल्लक्षणवर्मन्

१५. पृथिवीवर्मदेव

१४. जयवर्मन् या जयवर्मवदे

१६. मदनवर्मदेव (११२६-२३)

१७. परमर्दिदेव (११६६-१२०२)

१८. त्रैलोक्यवर्मदेव

चन्देल राजाओं के अभ्युदय काल में (१०-११-१२ वीं शताब्दी) में अपभ्रंश भाषा और पुरानी हिन्दी-साहित्य की भाषा बन चुकी थी। देश के हर कोने में अपभ्रंश में साहित्य का निर्माण हो रहा था। मध्ययुग के नामों पर अपभ्रंश भाषा और देशी भाषाओं का बहुत प्रभाव पड़ा। प्रायः सभी संस्कृत के नामों को अपभ्रंश का चोला पहनना पड़ा और बहुत से व्यक्तिवाचक नामों ने तो जी खोल कर देशी भाषा के शब्दों के साथ गठबन्धन किया। इसका कुछ उदाहरण हमें चन्देलवंशी नामों में मिलता है।

पहले राजा नन्नुक का नाम इसी प्रकार का है। 'नन्नुक' से ही देहाती हिन्दी का 'ननुआ' नाम निकला है, जो गाँवों में प्रायः सुनने को मिलता है। हेमचन्द्र की देशी नाममाला (४।३८) के अनुसार 'नन्न' शब्द तीन अर्थों में देशी भाषा में प्रयुक्त होता था :—

(१) कुआँ, (२) दुर्जन (३) बड़ाभाई। जान पड़ता है कि 'नन्नुक' नाम तीसरे अर्थ में प्रयुक्त होता था। दो भाइयों में बड़ा भाई 'नन्न' या 'नन्नुक' कहलाता था। इसी नाम की एक दूसरी व्युत्पत्ति 'नन्दराज' से भी सम्भव है (देखिए भंडारकर शिलालेख सूची, सं० १०८२, राष्ट्रकूट नृपति नन्नराज = नन्दराज)।

(२) वाक्पति का प्राकृत में 'वप्पह' (भंडारकर सूची सं० ६४), अपभ्रंश में वप्पय, वप्पा वापा होता था। देखिए वप्पयराज = वाक्पतिराज (भं० सूची सं० ३४४ तथा १०२०)।

(३) विजयशक्ति का बड़ा भाई जयशक्ति था। महोवा शिलालेख में इन्हें जेजावेजा कहा गया है (भं० सूची सं० १०१२)। जयशक्ति को जेज्जाक और विजयशक्ति को विज्जाक भी पुकारते थे। (भं० सूची सं० १५१०; एपि० इंडिका १।२१८)। महोवा लेख दसवें श्लोक में स्पष्ट लिखा है कि जेजा (जयशक्ति) के कारण उसके राज्य-प्रदेश का जेजा-भुक्ति नाम पड़ा, जैसे पृथु के कारण पृथिवी का नाम पड़ा था। बुन्देलखण्ड का पुराना नाम जजाहूति या जजाहोती, जम्माति, जेजाभुक्ति से ही निकला ज्ञात होता है, जैसे तीरभुक्ति से तिरहुत। जेजाभुक्ति और जेजाकभुक्ति = जेजाहुती = जुजाहुती = जुम्माउती।

इसी प्रकार जेजाकभुक्ति (जेजाकभुक्ति वाला) इस अर्थ में जेजाहुतित्र, = जुजाहुतित्र = जुम्मातित्र शब्द सिद्ध होता है।

(४) राहिल नाम भी अपभ्रंश रूप में है। राधा = राहा। उससे इल प्रत्यय लगाने से राहिल बनता है। राधा या अनुराधा नक्षत्र में जन्मे हुए बच्चे का नाम राहिल हो सकता था।

(५-६) हर्ष Digitized by eGangotri Foundation, Chennai and the Ganga Project

संस्कृत रूप में हैं। जिन नामों में यश पद होता था उनके कई रूप अपभ्रंश युग में मिलते हैं, जैसे जस, जसडुक, जसदू, जसरा, जसा, जसाक आदि। किसी चन्देल लेख में यशोवर्मन् नाम का अपभ्रंश रूप उपलब्ध नहीं हुआ।

(७-८) धंग और गंड—ये दोनों नाम चन्देल इतिहास में बड़े प्रसिद्ध हैं। मधुकर (जून-जुलाई १९४६) पृष्ठ ५०६ पर धंग को 'धंग' और गंड को 'गन्द' अशुद्ध लिखा है। वस्तुतः इसी भूल को देखकर शोधनार्थ इस लेख को लिखने की प्रवृत्ति हुई। धंग और गंड दोनों देशी शब्द हैं। धंग बड़े काले भौरे को कहते थे। धंग, धुअगाथो, और धूमंग, ये तीनों भ्रमर-वाची हैं (देशी नाम माला ५।२७)। 'गंड' शब्द के भी कई अर्थ हैं, जिनमें से एक अर्थ है वार। उज्जैन लेख में सिद्धराज जयसिंह को त्रिभुवन गंड कहा गया है, अर्थात् त्रिभुवन में वार (भंडारकर-सूची सं० २४०)। देशी नाममाला के अनुसार गंड के चार अर्थ थे :—

१. वन, २. दारुपाशिक (पुलिसपदाधिकारी) ३. लघुमृग, ४. नापित। वार पर्याय गंड शब्द गंड चन्देल में ठीक घटता है। गंडासिंह इस नाम का गंड शब्द वनवाची हो सकता है। गंड—मार्तण्ड उपाधि भी पाई जाती है, जिसका अर्थ वीरों में सूर्य या शिरोमणि ही उचित होगा। धंग बड़ा ही प्रतापी शासक था। उसने ही सर्वप्रथम गुर्जर-प्रतिहारों से चन्देल वंश को बिल्कुल स्वतन्त्र घोषित किया। वह आयु में सौ वर्ष से भी अधिक जिया (शरदां शत)। खजुराहो के कुछ विशिष्ट मंदिर धंग के दीर्घसुशासन काल के ही हैं, जिनमें जिननाथ (लेख संवत् १०११) और वैद्यनाथ (लेख संवत् १०५८) एवं मरकतेश्वर शिव (लेख संवत् १०५६) के मन्दिर धंग-कालीन ही हैं। धंग ने शतायु जीवन का उपभोग करके गंगा-यमुना के संगम पर अपने शरीर का त्याग किया। जिननाथ मन्दिर की प्रशस्ति में धंग के नाम का

(९) विद्याधर—यह गंड का पुत्र था और इसका अपभ्रंश नाम 'वीदा' था। यह अपने तेज और प्रताप में अपने पूर्वजों से बढ़-चढ़ कर हुआ। कजौज के राजा राज्यपाल ने महमूद गजनी की अधीनता मान कर जो आत्मगतानि उठाई थी वह विद्याधर से सही न गई। उसने राज्यपाल का अन्त करके महमूद को चुनौती दी। दो बार मुसलमानी सेनाओं का पूरे दल-बल के साथ विद्याधर ने सामना किया और अन्त में दोनों में कालिंजर के पास समझौता हो गया। मुसलमानी इतिहासकारों ने लिखा है कि वीदा (विद्याधर) ने कालिंजर की चढ़ाई के समय (१०२२ ई०) 'जवान-हिन्दी' में कुछ कविता बना कर महमूद के पास भिजवाई थी, जिसे सुलतान ने भारतीय एवं अरब और फारस के विद्वानों को दिखाया और सबने उसकी बड़ी प्रशंसा की। तब महमूद ने विद्याधर के पास बधाई का समाचार भेजा और साथ ही मित्रता स्थापित करने के लिए १५ दुगों का शासनभार भी उसे सौंप दिया। महाराज विद्याधर से मित्रता स्थापित करके महमूद गजनी को वापिस चला गया। हिन्दी भाषा की कविता के विषय में मुसलमानी पुस्तकों में यह सबसे पुराना उल्लेख है ❀। यह कविता निस्सन्देह अपभ्रंश भाषा में रही होगी।

वाद के चन्देल शासकों का इतिहास भी रोचक है। पर नामों की दृष्टि से उनके बारे में कोई विशेष उल्लेखनीय बात नहीं है। सल्लक्षण-वर्मन् का नाम उसके सिक्कों पर हल्लक्षणवर्म है। उसके सोने के द्रम्हों पर और पाद द्रम्हों पर एक ओर पहले की तरह लक्ष्मी की बैठी हुई चतुर्भुजी मूर्ति है। पर तांबे के द्रम्हों पर पहली बार उसने हनुमान् जी की मूर्ति अंकित कराई।

❀ देखिए हेमचन्द्रराय कृत 'डाइनैस्टिक हिस्ट्री ऑफ नार्थ इण्डिया', भाग २, पृष्ठ ६६२।

इससे पहले की कोई हनुमान की मूर्ति का निर्माण किया।
भारतीय कला में नहीं पाई जाती। चन्देलों ने ही

हनुमान की मूर्ति का निर्माण किया।
राजा परमर्दिदेव पृथिवीराज चौहान के सम-
कालीन थे, जो आल्हा की कथा में परमाल नाम
से प्रसिद्ध हैं।

नई दिल्ली]

राज्याश्रित कवि कृष्ण-
मिश्र ने संस्कृत साहित्य के अतिप्रसिद्ध नाटक
प्रबोध-चन्द्रोदय की रचना की, जिसमें 'विवेक'
और 'महामोह' के बीच में घटित होने
वाले नित्य संश्राम का नाटकीय दृष्टि से चित्रण
है।

नवयुवकों से दो बातें

प्रिंस क्रोपाटकिन

आज मैं युवकों से कुछ बातें कहना चाहता
हूँ। बूढ़े लोगों को—दरअसल मेरा मतलब है
दिल और दिमाग के बूढ़ों से—इस लेख के पढ़ने
का कष्ट न उठाना चाहिये, क्योंकि इसके पढ़ने से
सिर्फ उनकी आँखें थकेंगी और फायदा कुछ भी
न होगा।

मैं कल्पना करता हूँ कि तुम्हारी उम्र अठारह-
बीस वर्ष की है। तुम अपने शिक्षाकाल या
विद्यार्थी-जीवन को समाप्त कर चुके हो और अब
सांसारिक जीवन में प्रवेश कर रहे हो। मैं यह
भी माने लेता हूँ कि तुम्हारा दिमाग अन्धविश्वास
से मुक्त है, जिसको तुम्हारे शिक्षकों ने तुम्हारे
भीतर भरने की कोशिश की थी; तुम नर्क-स्वर्ग
की बातों से नहीं डरते और तुम मुल्लाओं तथा
पुजारियों की थोथी बातों को सुनने नहीं जाते।
साथ ही तुम उन दिखावटी लोगों में से भी नहीं
हो, जो पतनशील जातियों में प्रायः पैदा हुआ करते
हैं, जो कि अपने चमकीले भड़कीले कपड़ों और
बन्दर की-सी शकल को मेले-तमाशों में दिखलाया
करते हैं और जो छोटी उमर से ही किसी भी
तरह सुख भोगने की बेहद लालसा रखते हैं। बल्कि
मैं तो यह मानता हूँ कि तुम एक सहृदय व्यक्ति
हो और इसी कारण मैं तुमसे बातें करता हूँ।

मैं जानता हूँ कि तुम्हारे सामने प्रायः एक
प्रश्न आया करता है—“हमें आगे चल कर क्या
बनना है?” वास्तव में कोई भी मनुष्य अपने
युवावस्था में यही समझता है कि उसने बहुत वर्षों
तक समाज की सहायता के आधार पर जिस किसी
विद्या या कला का अध्ययन किया है, उसका
उद्देश्य यह नहीं है कि अपने ज्ञान को दूसरे लोगों
को लूटने तथा अपना स्वार्थ साधन करने का जरिया
बनाया जाय। ऐसा व्यक्ति तो अवश्य ही महाभ्रष्ट
है और दुर्गुणों से भरा है, जो यह कल्पना नहीं
करता कि समय आने पर वह अपनी बुद्धिमत्ता,
अपनी योग्यता और अपने ज्ञान को उन लोगों
के अधिकार दिलाने में लगायेगा जो कि आज
दुर्दशा और अज्ञान में फँसे पड़े हैं।

मैं माने लेता हूँ कि तुम उन्हीं में से एक हो
जिनको इस प्रकार के स्वप्न आया करते हैं! क्या
वास्तव में ऐसा नहीं है? अच्छा तो अब हमको
देखना चाहिये कि अपने स्वप्न को सत्य बनाने के
लिये तुम को क्या करना आवश्यक है।

मैं यह नहीं जानता कि तुम कैसे घर में पैदा
हुए हो। सम्भव है, तुम किसी सम्पत्तिशाली घर
के हो और तुमने विज्ञान के अध्ययन का विचार
किया हो, तुम डाक्टर बनना चाहते हो, अथवा

डिजिटल by Arya Samaj Foundation Chennai and Bangalore

वैरिस्टर, या लेखक, या वैज्ञानिक। तुम्हारे सामने एक विशाल कार्यक्षेत्र मौजूद है और तुम विस्तारपूर्ण ज्ञान और सुशिक्षित बुद्धि को लेकर कार्यक्षेत्र में प्रवेश कर रहे हो। अथवा इसके विपरीत तुम एक मेहनती कारीगर हो और तुम्हारी विज्ञान-सम्बन्धी शिक्षा स्कूल की साधारण पढ़ाई तक ही परिमित है। पर साथ ही तुम को इस बात का स्वयं अनुभव प्राप्त करने का मौका मिला है कि वर्तमान समय में श्रमजीवियों—मजदूरों—को कैसी कठिन मिहनत करके गुजारा करना पड़ता है।

डाक्टर

अभी मैं पहिली कल्पना पर विचार करता हूँ, इसके बाद दूसरी पर कहूँगा। इसलिये मैं यह मान लेता हूँ कि तुम को अच्छी वैज्ञानिक शिक्षा मिली है। मान लो कि तुम डाक्टर बनना चाहते हो।

कल फटे-पुराने कपड़े पहिने एक आदमी किसी रोगी स्त्री को देखने के लिए बुला ले जाता है। वह तुम को ऐसे तंग गली-कूचों में से ले जाता है, जिनमें दो आदमियों का साथ-साथ चल सकना भी कठिन है। तुम को एक दुर्गन्धयुक्त स्थान में टिमटिमाते दीपक की रोशनी में ऊपर चढ़ना पड़ता है। तुम दो, तीन, चार या पाँच गन्दे जोनों (सीढ़ियों) को चढ़ कर एक अन्धेरी ठण्डी कोठरी में पहुँचते हो और वहाँ पर रोगी स्त्री को एक दूटी—सो चारपाई पर मैले चीथड़ों से ढका हुआ पाते हो। पीले रंग के, मैले-कुचले वच्चे पतले कपड़ों के भीतर ठण्ड से काँपते हुए आँखें फाड़-फाड़ कर देख रहे हैं। स्त्री का पति उम्र भर किसी कारखाने में बारह-तेरह घण्टे रोज काम करता रहा, अब वह तीन महाने से बेकार-बैठा है। नौकरी छूट जाना उसके लिए कोई नई बात नहीं है, प्रायः हर साल या समय-समय पर ऐसी घटना हुआ ही करती है। पर पहले जब वह बेकार रहता था तो उसकी स्त्री कुछ मेहनत-मजदूरी कर लेती थी—शायद वह तुम्हारे ही घर पर चौका वर्तन करती रही हो—और

पाँच सात रुपये महीने कमा लेती थी। पर अब वह भी दो महाने से बीमार है और समस्त परिवार दुर्दशा के भीषण पंजे में फँसा हुआ है।

डाक्टर साहब, आपने यह तो आने के साथ ही समझ लिया कि इस स्त्री की सारी बीमारी सिर्फ शारीरिक दुर्बलता, पौष्टिक भोजन का अभाव और स्वच्छ हवा की कमी है। आप इसके लिए क्या नुसखा तजवीज करेंगे? क्या, प्रतिदिन एक सेर दूध? शहर के बाहर स्वास्थ्यकर स्थान में घूमना-फिरना? अच्छे हवादार कमरे में सोना? कैसी विडम्बना है! अगर उसके पास इतनी सामर्थ्य ही होती तो ये उपाय बिना आपकी सलाह के बहुत पहिले कर लिए गये होते।

अगर तुम में कुछ सहृदयता का भाव है, अगर तुम खुल कर बातचीत करते हो और यदि तुम्हारे चेहरे से ईमानदारी टपकती है तो उन लोगों से तुम को बहुत-सी बातें मालूम हो सकती हैं। वे तुम को बतलावेंगे कि बगल की कोठरी में जो औरत इस बुरी तरह से खाँस रही है कि उसे सुनकर तुम्हारा दिल फटा जाता है, वह कपड़े साफ करने वाली एक गरीब स्त्री है। बीच की मंजिल में रहने वाले सब वच्चे बुखार से पीड़ित हैं। सब से नीचे की मंजिल में रहने वाली धोबिन इस जाड़े के अन्त तक ज़िन्दा नहीं बचेगी और बगल के मकान में रहने वाले लोगों की दशा इससे भी बुरी है।

इन सब बीमार लोगों से तुम क्या कहोगे? क्या उनके लिए पौष्टिक भोजन, आब-हवा की तजवीजी, हलका परिश्रम करना तजवीज करोगे? तुम चाहोगे अवश्य कि तुम ऐसा कह सको, पर तुम कहने का साहस नहीं कर सकते और तुम दुःखी हृदय से दैव को क्रोसते हुए वापस चले आते हो।

दूसरे दिन, जब कि अभी तक तुम उस नरक-कुण्ड में रहने वालों के भाग्य पर विचार कर रहे हो, तुम्हारा साथी तुम को बतलाता है कि कल

एक दरबान उसको बुलाने आया था और वह साथ में गाड़ी भी लाया था। वह उसे सुन्दर महल में रहने वाली एक श्रीमती के देखने को ले गया। उस रमणी को रात में नींद न आने की बीमारी है, उसने अपना तमाम जीवन बनाव, शृङ्गार, दावतों, तमाशों और अपने धेवकूप पति के साथ दाँता-किलकिल करने में बिताया है। तुम्हारे मित्र ने उसके लिए तजवीज किया—यथा-सम्भव कृत्रिम आदतों का त्याग करना, सादा भोजन करना, स्वच्छ हवा में टहलना, शान्त स्वभाव रखना और कोई शारीरिक काम न करने की कमी को किसी अंश में पूरा करने के लिये अपने कमरे के भीतर हलकी कसरत करना।

एक इसलिए मर रही है कि उसे तमाम उम्र न कभी काफी खाना मिला, न काफी आराम। दूसरी इसलिए तकलीफ पा रही है कि उसे अपने जीवन में आज तक यही मालूम नहीं हुआ कि मेहनत करना किसे कहते हैं!

अगर तुम उन निर्बल चरित्र के व्यक्तियों में से हो, जो अपने को हर तरह की परिस्थिति के अनुकूल बना लेते हैं, जो अत्यन्त बीभत्स दृश्य को देख कर भी एक शोकसूचक निश्वास तथा शरवत के एक गिलास से चित्त को शान्त कर लेते हैं तो धीरे-धीरे तुम को इन परस्पर विरोधी दृश्यों को देखने की आदत हो जायगी, तुम्हारे भीतर पशु-भाव का उदय होने लगेगा, तुम्हारा एकमात्र उद्देश्य सुख-लोलुप लोगों के बीच में रहना बन जायगा, जिससे तुम को कभी दुर्दशाग्रस्त लोगों के बीच में जाने का काम ही न पड़े। पर अगर तुम 'आदर्मी' हो, अगर तुम अपने मनोभावों को कार्यरूप में परिणत करने की इच्छाशक्ति रखते हो, अगर तुम्हारे भीतर पशु-भाव ने विवेक को नष्ट-भ्रष्ट नहीं कर दिया है तो एक दिन तुम अपने मन में यह कहते हुए घर लौटोगे—“नहीं, यह अन्याय है, यह अधिक समय तक कायम नहीं रहना चाहिये। केवल रोगों का इलाज करने से काम नहीं चलेगा। उनके पैदा होने के कारणों को

ही रोकना चाहिये। अगर मनुष्यों को भोजन-वस्त्र की कुछ सुविधा हो जाय और वे कुछ शिक्षित हो जाय तो हमारे रोगियों की संख्या आधी हो रह जाय और बीमारियाँ भी लुप्त हो जायँ। चिकित्सा-शास्त्र चूल्हे में जाय! स्वच्छ हवा, पौष्टिक भोजन और साधारण परिश्रम—ये ही सबसे पहली बातें हैं। इनके बिना डाक्टरों की सब बातें चालाकजी और धोखेबाजी के सिवा कुछ नहीं हैं।

वस जिस दिन ये बातें तुम्हारी अकल में आ जायेंगी, उसी दिन तुम साम्यवाद को समझ जाओगे। फिर तुम इसको पूरी तरह से जानना चाहोगे और अगर तुम परोपकार के सिद्धान्त के महत्त्व को कुछ भी समझते हो, अगर तुम एक स्वाभाविक दार्शनिक की भाँति प्रमाणों के साथ सामाजिक प्रश्नों पर विचार करोगे तो अन्त में एक दिन तुम को साम्यवादियों के दलमें मिल जाना होगा और तुम सामाजिक क्रान्ति के लिये हमारी ही तरह उद्योग करने लगोगे।

वैज्ञानिक

पर शायद तुम कहो कि मुझ को ऐसे व्यावहारिक धन्ये से कोई सरोकार नहीं। मैं खगोल-विद्या, प्राणी-शास्त्र, या रसायन-शास्त्र में लग कर विज्ञान की उन्नति करूँगा। ऐसे काम का फल सदा अच्छा निकलेगा, भले ही वह हमको न मिल कर आने वाली सन्तान को मिले।

सबसे पहले हमें यह जानने का उद्योग करना चाहिये कि विज्ञान की उन्नति करने से तुम्हारा उद्देश्य क्या है? क्या यह उद्देश्य केवल आनन्द—उत्कृष्ट आनन्द—प्राप्त करना है, जो कि प्रकृति के अध्ययन से और अपनी मानसिक शक्तियों को किसी काम में लगा कर विकसित करने से मिलता है? उस दशा में मैं तुम से पूछूँगा कि जो दार्शनिक अपना जीवन आनन्द के साथ व्यतीत करने के लिए विज्ञान का अध्ययन करता है, उसमें और एक शराबी में, जो शराब के नशे से

थोड़ी देर के लिये दिज्ञ ^{Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri} सुखी हासिल करता है, क्या फर्क है ? इसमें सन्देह नहीं कि दार्शनिक ने अपने आनन्द का विषय अधिक बुद्धिमानी से चुना है, क्योंकि उससे शराब की अपेक्षा बहुत गहरा और बहुत स्थायी आनन्द मिलता है, पर इससे ज्यादा कुछ नहीं ! दोनों ही व्यक्ति स्वार्थ पर निगाह रखते हैं और दोनों का उद्देश्य एक ही है, यानी व्यक्तिगत सुख प्राप्त करना ।

पर नहीं, तुम कहोगे कि मैं अपने स्वार्थ के लिये यह काम नहीं करता । वरन् मैं विज्ञान की उन्नति के लिये, मनुष्यजाति के हित के लिये यह काम करता हूँ । मेरे अन्वेषण का यही लक्ष्य रहेगा ।

यह भी एक बड़ा मज्जेदार भ्रम है ! हममें से जिस किसी ने पहले-पहल जब विज्ञान का कार्य आरम्भ किया था तो अवश्य ही एक बार इसका सहारा लिया था । पहले हम भी ऐसा ही कहा करते थे ।

पर यदि दर-असल तुम मनुष्य-जाति का विचार करते हो और तुम्हारा उद्देश्य मनुष्य-समाज का हित साधन करना है तो तुम्हारे सामने एक विकट प्रश्न पैदा होता है । तुम्हारे भीतर समालोचना करने का भाव कैसा भी कम क्यों न हो तो भी तुम तुरन्त जान सकते हो कि आजकल हमारी समाज में विज्ञान सुखोपभोग का एक साधन मात्र बन गया है, जिससे थोड़े से लोग अपने जीवन को अधिक सुखी बनाते हैं, पर मनुष्य-समाज का अधिकांश भाग उस तक पहुँच भी नहीं सकता ।

सौ साल से ज्यादा समय व्यतीत हो गया, जब कि विज्ञान ने विश्वव्रह्माण्ड की उत्पत्ति का निश्चयात्मक रूप से निर्णय कर दिया था, पर कितने लोगों ने उन सिद्धान्तों का अध्ययन किया है, या उस सम्बन्ध में कुछ वैज्ञानिक और आलोचनात्मक ज्ञान रखते हैं ? ऐसे लोगों की संख्या शायद कुछ हजार होगी, पर उन करोड़ों मनुष्यों के बीच में, जो अभी तक दुराग्रह और

अन्वेषणों में फँसे हैं और इस कारण धार्मिक ठगों के हाथों में कठपुतली बन जाते हैं, ऐसे लोगों की संख्या आटे में नमक के भी बराबर नहीं है ।

अगर हम इससे कुछ और आगे बढ़ कर देखें तो हमको विचार करना चाहिये कि विज्ञान ने शारीरिक और चरित्र-सम्बन्धी स्वास्थ्य के ज्ञान को फैलाने के लिये क्या किया है ? विज्ञान हमको बतलाता है कि अपने शरीरों का स्वास्थ्य कायम रखने के लिये हमको किस तरह रहना चाहिये और किस तरह देश में बसने वाला असंख्य जनता को अच्छी दशा में रखा जा सकता है । पर क्या इन दोनों बातों के लिये किया गया अपार परिश्रम केवल किताबों के भीतर बंद रह कर बेकार नहीं पड़ा है ? सब लोग जानते हैं कि यह परिश्रम बेकार पड़ा है । इसका कारण क्या है ? कारण यह है कि विज्ञान का अस्तित्व आजकल केवल थोड़े से विशेष अधिकार-प्राप्त लोगों के वास्ते है । सामाजिक असमानता के कारण आजकल मनुष्य-जाति दो भागों में बँटी है— एक मजदूरी करने वाले गुलाम और दूसरे धन-सम्पत्ति के स्वामी पूँजीपति । इस भेद के कारण विवेकयुक्त जीवन व्यतीत करने की सब शिक्षाएँ सौ में से नब्बे मनुष्यों के लिये एक दिल दुखाने वाले मज्जाक के सिवाय और कुछ अर्थ नहीं रखतीं ।

मैं तुम को और भी बहुत से उदाहरण बतला सकता हूँ, पर बात को ज्यादा बढ़ाना ठीक नहीं । अगर तुम अपनी तंग कोठरी से, जिसकी खिड़कियों पर धूल जमी हुई है और जिसमें रक्खी हुई पुस्तकों की आलमारियों पर सूर्य का प्रकाश भी नहीं पड़ता, बाहर निकल कर चारों तरफ आँख खोल कर देखोगे तो तुम को क्रदम-क्रदम पर नये प्रमाण मिलेंगे, जिनसे इस मत का समर्थन होगा ।

इस समय हमको विज्ञान-सम्बन्धी ज्ञान और आविष्कारों की वृद्धि करने की बिल्कुल ज़रूरत

नहीं है। सबसे जरूरी बात यह है कि जो ज्ञान अभी तक प्राप्त हो चुका है, उसको फैलाया जाय, उसको हर रोज के जीवन में काम में लाया जाय और उसे सर्वसाधारण तक पहुँचाया जाय। हमको ऐसा बन्दोबस्त करना चाहिए कि मनुष्य-मात्र विज्ञान के सत्य सिद्धान्तों को जान सकें और काम में ला सकें। इस प्रकार विज्ञान शौकिया चीज न रहेगा, वरन् मनुष्य के जीवन का आधार बन जायगा। यही न्यायानुकूल बात है—इन्साफ का यही तत्वाज्ञा है।

इसके सिवाय विज्ञान के हित की दृष्टि से भी यह आवश्यक है। विज्ञान की असली उन्नति तभी होती है, जब कि जन-समूह उसके सिद्धान्तों का स्वागत करने को तैयार हो। यन्त्र द्वारा उष्णता की उत्पत्ति का सिद्धान्त गत शताब्दी में स्थिर हो चुका था, पर अस्सी वर्ष तक वह किताबों में ही बन्द पड़ा रहा और उसका उपयोग तभी हो सका, जब कि जनता में भौतिक-शास्त्र का काफी ज्ञान फैल गया। डार्विन ने प्राणियों के विकास का जो सिद्धान्त मालूम किया, वह तीन पुस्तक के बाद विद्वानों द्वारा स्वीकार किया गया और वह भी तब, जब कि उन पर सार्वजनिक मत का दबाव पड़ा। कवि और चित्रकार की तरह दार्शनिक के अस्तित्व का आधार भी वह समाज है, जिसमें वह रहता है और अपने उपदेशों का प्रचार करता है।

पर जब इस प्रकार के विचार तुम्हारे भीतर भर जायेंगे तो तुम समझ जाओगे कि सबसे अधिक महत्व की बात वर्तमान स्थिति में जड़मूल से परिवर्तन करना है, जिस स्थिति के कारण थोड़े से दार्शनिकों के भीतर वैज्ञानिक सिद्धान्त ठूँस-ठूँस कर भर दिये जाते हैं और शेष जन-समूह उसी दशा में पड़ा रहता है, जिसमें वह हजार-पाँच सौ वर्ष पहले था! अर्थात् वह गुलामों या निर्जीव मशीनों की भाँति बना रहता है और सत्य सिद्धान्तों के समझ सकने में असमर्थ रहता है।

जिस दिन तुम इस विस्तृत, गम्भीर, उदारतापूर्ण और पूरे वैज्ञानिक सचाई को पूरी तरह से समझ जाओगे, उसी दिन से तुम को खाली विज्ञान से कुछ मजा न आयेगा। तुम उन उपायों को जानने के लिए उद्योग करने लगोगे, जिनसे ऐसा परिवर्तन हो सके और अगर तुम इस जाँच को उद्योग निष्पत्ति के साथ करोगे, जिसकी सहायता ने अब तक वैज्ञानिक अन्वेषणों को करते रहे हो तो तुम अवश्य ही साम्यवाद के पक्ष को स्वीकार कर लोगे, तुम दिखावटी और भ्रमपूर्ण तर्कों को त्याग कर साम्यवादियों के साथी बन जाओगे। तब उन थोड़े से लोगों के लिए आनन्द के साधन जुटाने का उद्योग करना व्यर्थ समझ कर, जिनके पास अब भी ऐसे साधनों का बहुत बड़ा हिस्सा मौजूद है, तुम अपने ज्ञान और शक्ति को अत्याचार-पीड़ितों की सेवा में लगाओगे।

यह विश्वास रखो कि जब कर्तव्य-पालन का भाव पैदा हो जायगा और तुम्हारे विचारों और कार्यों में सच्ची एकता कायम हो जायगी तो तुम को अपने भीतर ऐसी शक्तियाँ मालूम होने लगेंगी, जिनके अस्तित्व का तुम को पहले स्वप्न में भी पता न था। अन्त में एक दिन ऐसा भी आयेगा—और वह भी शीघ्र ही, चाहे उस समय तक हमारे वर्तमान शिक्षक भले ही जीवित न रहें—जब कि वह परिवर्तन जिसके लिए तुम उद्योग कर रहे हो, उत्पन्न हो जायगा। उस समय जन-समूह के सम्मिलित विज्ञान-सम्बन्धी कार्य से नई शक्ति प्राप्त करके और भ्रमजीवियों (मजदूरों) के बड़े-बड़े सेना दलों की शक्तिशाली सहायता से, जो कि अपने उद्योग का फल संसार की ज्ञान वृद्धि में लगायेंगे, विज्ञान और कला-कौशल इतनी शीघ्रता से उन्नति करने लगेंगे, जिसके मुँहसे उसकी वर्तमान समय की मन्दगति बच्चों के खेल के समान जान पड़ेगी। तब तुम्हें विज्ञान का मजा मालूम होगा, क्योंकि उस समय आनन्द का उपभोग तुम अकेले ही न करोगे, बल्कि तुम्हारे साथ-साधारण जनता भी होगी।

मान लो, तुमने कानून की परीक्षा पास की है और वकालत का पेशा आरम्भ करने वाले हो। सम्भवतः तुम को अपने भविष्य के कार्यक्रम के सम्बन्ध में भ्रमपूर्ण धारणाएँ होंगी। मैं मानता हूँ कि तुम एक श्रेष्ठ विचार वाले व्यक्ति हो और परोपकार का महत्त्व भी अच्छी तरह समझते हो। शायद तुम सोचते होगे—“मैं जीवन भर सब प्रकार के अन्याय का लगातार और बलपूर्वक विरोध करता रहूँगा, अपनी समस्त योग्यता कानून की विजय के लिये खर्च करूँगा, जनता के सामने सर्वोच्च न्याय का आदर्श उपस्थित करूँगा,—क्या कोई पेशा इससे श्रेष्ठ हो सकता है?” इस प्रकार तुम अपने और अपने पसन्द किये हुए पेशे के भीतर विश्वास रखते हुए जीवन क्षेत्र में प्रवेश करते हो।

बहुत अच्छा, हम अदालती रिपोर्टों के पत्र पलट कर इस बात की जाँच करते हैं कि वास्तविक दशा क्या है?

अदालत के सामने एक मालदार जमींदार आता है और वह एक भोंपड़ी में रहने वाले किसान को लगान न दे सकने के कारण जमीन से वेदखल कराना चाहता है। कानूनी निगाह से मुकदमे में किसी प्रकार की उलझन नहीं, क्योंकि जब गरीब किसान लगान नहीं चुका सकता तो उसे जमीन पर से कब्जा छोड़ देना चाहिये। पर अगर हम इस मामले में वास्तविक घटनाओं की जाँच करते हैं तो हमें कुछ और ही पता चलता है। जमींदार अपनी आमदनी को ऐश आराम के कामों में खुले हाथों बरबाद करता रहा है और किसान को उम्र भर हर रोज सख्त काम करना पड़ा है। जमींदार ने अपनी जमींदारी की उन्नति के लिये किसी तरह की कोशिश नहीं की तो भी पचास वर्ष के भीतर उसकी जमीन का दाम पहले से तिगुना हो गया है। जमीन का दाम बढ़ने का कारण है एक नई रेलवे लाइन का बनना, या

या दल-दल को सुखा कर सूखी जमीन बना लेना, या ऊसर जमीन को खेती के लायक बनाना, इत्यादि। पर जिस किसान ने अधिकांश में यह सब उन्नति की, उसे इससे कुछ फायदा नहीं हुआ, वह बरबाद हो गया, बाँहरों के फन्दे में फँस कर गले तक कर्ज में डूब गया और अब उसमें जमीन का लगान अदा करने की भी सामर्थ नहीं रही। कानून सदा जायदाद वाले के पक्ष में रहता है, उसका अर्थ स्पष्ट है और उसके अनुसार जमींदार न्याय पर है। पर तुम्हारा न्याय का भाव अभी कानूनी किस्सों से अवरोध नहीं हो गया है। तुम इस मामले में क्या करोगे? क्या तुम मान लोगे कि किसान को निकाल कर बाहर सड़क पर डाल दिया, क्योंकि कानून की यही मंशा है? अथवा तुम इस बात पर जोर दोगे कि जमींदार को जमीन की तमाम बढ़ी हुई आमदनी किसान को वापस कर देनी चाहिये, क्योंकि वह उसी की मेहनत का फल है। यही न्याय का निर्णय है। तुम कौन-सा पक्ष स्वीकार करोगे? कानून के अनुकूल, पर न्याय के विरुद्ध, या न्याय के अनुकूल और कानून के विरुद्ध?

अथवा जब किसी कारखाने के मालिक के खिलाफ मजदूरों ने बिना नोटिस दिये हड़ताल कर दी हो, तब तुम किसका पक्ष लोगे? क्या तुम कानून का पक्ष लोगे, जिसका अर्थ है मालिक का पक्ष लेना, जिसने किसी हलचल के मौके से फायदा उठा कर बेहद नफा लिया है? अथवा तुम कानून के खिलाफ चल कर मजदूरों का पक्ष लोगे, जिनको कभी आठ या बारह आने रोजाना से ज्यादा मजदूरी नहीं दी गई और जिनके स्त्री-बच्चे उनकी आँखों के सामने ही भूखों मर चुके हैं? क्या तुम उस जालसाजी से भरे कानून-कायदे का पक्ष ग्रहण करोगे जो कि ‘इक्कारनामे (प्रतिज्ञा) की स्वाधीनता’ का समर्थन करता है? अथवा तुम सच्चे न्याय का समर्थन करोगे, जिसके अनुसार ऐसा इक्कारनामा, जो कि एक खूब भरे

पेट वाले और एक ऐसे आदमी के आगे साम्राज्य की नींव डाल दी हो, जिसे केवल प्राण-रक्षा के लिये कुछ भी मजदूरी करने की आवश्यकता है, अथवा जो ताकतवर और कमजोर के बीच में हुआ हो— वह इत्तारनामा ही नहीं समझा जा सकता।

एक और मुकदमा देखो। किसी बड़े शहर में एक आदमी बाजार में फिर रहा है। वह किसी दुकान से दो सेर आटा चुरा कर भागता है। पकड़े जाने पर जब उससे पूछा गया तो मालूम हुआ कि वह एक अच्छा कारीगर है, जो बिना नौकरी के फिर रहा है और उसे तथा उसके बाल-बच्चों को चार दिन से एक टुकड़ा भी खाने को नहीं मिला! दुकानदार से अनुरोध किया जाता है कि वह अपराधी पर दया करके उसे छोड़ दे, पर वह इन्साफ की दुहाई देता है। वह मुकदमा दायर करता है और उस शस्त्र को छः महीने की जेल हो जाती है, क्योंकि कानून लिखने वाले अन्धे ऐसा ही कह गये हैं! क्या तुम्हारी अन्तरात्मा में समाज के प्रति विद्रोह का भाव पैदा नहीं होता, जब कि तुम हर रोज इस प्रकार के फैसले होते देखते हो?

अथवा तुम इस आदमी के खिलाफ कानूनी कार्रवाई करना उचित बतलाओगे, जिसका पालन-पोषण दूषित रीति से हुआ है और जिसे वचपन से ही छोटे काम करने की आदत बाली गई है, जिसने अपनी तमाम उमर में सहानुभूति का एक शब्द भी नहीं सुना और अन्त में जिसने कुल जमा एक रुपये के लालच से अपने पड़ोसी की हत्या कर डाली? क्या तुम कहोगे कि उसको फाँसी दे दी जाय, अथवा इससे भी बढ़ कर, बीस वर्ष के लिये क़ैद कर दी जाय? क्योंकि तुम अच्छी तरह जानते हो कि वह अपराधी होने के बजाय एक पागल आदमी है और हर हालत में उसके कसूर के लिये हमारी तमाम समाज दोषी है।

क्या तुम यह दावा करोगे कि ये कपड़ा बुनने वाले मजदूर, जिन्होंने घोर निराशा के वश होकर

जाँच? अथवा यह शस्त्र, जिसने एक छत्रपति हत्यारे पर गोली चला दी, जन्म-क़ैद की सजा पावे? अथवा इन बाधियों को, जिन्होंने मोरचे के ऊपर स्वाधीनता का झण्डा खड़ा किया, गोली से मार दिया जाय? नहीं, एक हज़ार बार नहीं!

अगर तुम उन बातों को दुहराने के बजाय, जो तुम को स्कूलों और कालेजों में पढ़ाई गई हैं, अपनी अकल से काम लो; अगर तुम कानून का विश्लेषण जाँच-पड़ताल करोगे और उन दुर्लभ भ्रमपूर्ण किस्सों को अलग फेंक दोगे, जो कि कानून की असलियत को ढकने के लिये बनाये गये हैं तो तुम को मालूम हो जायगा कि कानून की असलियत यही है कि बलवानों के अधिकार का समर्थन किया जाय और कानून का मूल स्वरूप है उन सब अत्याचारों को पवित्र बतलाना, जिनका वर्णन मनुष्य-जाति के प्राचीन और रक्त-प्लावित इतिहास में पाया जाता है। जब तुम इस रहस्य को समझ जाओगे तो तुम को कानून के प्रति बड़ी घृणा हो जायगी। तुम समझ जाओगे कि पुस्तकों में लिखे कानून का सेवक बने रहने से तुम को हर रोज अपनी अन्तरात्मा के कानून का विरोध करना पड़ता है। पर इस प्रकार की दुविधा—जनक परिस्थिति सदा कायम नहीं रह सकती। अन्त में या तो तुम अपनी अन्तरात्मा को चुप करके पूरे धूर्त और मक्कार बन जाओगे, अथवा तुम परम्परा की लकीर पर चलना छोड़ दोगे और सब प्रकार के—आर्थिक और राजनैतिक—अन्यायों का पूरी तरह से नाश करने के लिए हम लोगों के साथ मिल कर काम करने लगोगे।

पर तब तुम एक साम्प्रदायी कहे जाओगे और तुम्हारी गणना क्रान्तिकारियों में होगी।

इंजिनियर

तुम एक नवयुवक इंजिनियर हो और वैज्ञानिक

हो जायगी, जिसकी इस समय हम कल्पना भी नहीं कर सकते।

शिक्षक

अब रहे स्कूल-मास्टर, सो उनसे मैं क्या कहूँ—उस स्कूल मास्टर से नहीं, जो अपने पेशे को बेगार की तरह समझता है, वरन् उससे, जो कि आमोद-प्रिय छोटे-छोटे बच्चों के दिल के बीच में बैठ कर उनकी विनोद-पूर्ण निगाहों और आनन्द-दायक हँसी से प्रसन्न होता है—उस स्कूल मास्टर से, जो कि उन छोटे बच्चों के सरो में मनुष्यत्व के उन आदर्शों का बीज बोना चाहता है, जिनका वह अपनी युवावस्था में विचार किया करता था।

प्रायः मैं तुम को रंजीदा देखता हूँ और मैं जानता हूँ कि तुम्हारी चिन्ता का कारण क्या है। इसी दिन तुम्हारे एक प्यारे विद्यार्थी ने, जो यद्यपि भाषा में बहुत होशियार नहीं, पर जिसका हृदय बड़ा विशाल है—महाराणा प्रताप की कहानी को बड़े जोश के साथ पढ़ कर सुनाया। उसकी आँखें चमक रही थीं और ऐसा मालूम होता था कि वह उसी दम तमाम अत्याचारियों का नामो-निशान मिटा देना चाहता है।

मारु बाजे बजें कहूँ धौसा घहराही।

उड़हिं पताका शत्रु हृदय लखि-लखि थहराहीं ॥

हैं ये कितने नीच कहा इनकी बल भारी।

सिंह जगे कहूँ स्वान ठहरिहैं समर मैकारी ॥

पर जब वही विद्यार्थी घर लौट कर गया तो उसके माता-पिता ने, उसके चाचा ने, कस्बे के बड़े महन्त या पुलिस के थानेदार को सलाम न करने के लिये उसे बहुत डाँटा फटकारा। उन्होंने उसको दुनियादारी, अधिकारियों की इज्जत, अपने से ऊँचे दर्जे के लोगों से विनय के सम्बन्ध में बड़ा लम्बा लेक्चर सुनाया, जिससे अन्त में उसने महाराणा प्रताप की जीवनी को उठा कर अलग रख दिया और 'सांसारिक उन्नति के उपाय'

अभी कल ही तुम से किसी ने कहा है कि तुम्हारे सब होनहार विद्यार्थी उलटे रास्ते पर चल रहे हैं। उनमें से एक सिवाय अफसर बनने का स्वप्न देखने के और कुछ नहीं करता, दूसरा किसी बड़े आदमी का कृपा-पात्र बन कर गरीबों को लूटता है। तुमने इन लोगों से न जाने कैसी-कैसी आशाएँ की थीं। अब अपने आदर्शों और दुनिया की असलियत को देख कर तुम चिन्ता में पड़े हुए हो।

तुम कुछ समय तक चिन्ता करते रहते हो। पर मैं समझता हूँ कि साल-दो-साल बाद ऐसा समय आवेगा, जब कि बार-बार निराशा होकर अन्त में तुम अपने आदर्श ग्रन्थों को आलमारी में बन्द कर दोगे और कहने लगोगे कि महाराणा प्रताप आदमी तो बड़ा स्वाभिमानी और देशभक्त था, पर साथ ही कुछ सनकी भी था। तुम विचार करने लगोगे कि कविता विश्राम के समय में बहुत अच्छी चीज है, खासकर उस हालत में, जब कि एक आदमी दिन भर लड़कों को त्रैशिक-पंचराशिक का हिसाब समझाते-समझाते थक गया हो। पर तो भी कवि लोग कल्पना के राज्य में विचरण करते हैं और उनके विचारों से जीवन-निर्वाह करने में कुछ मदद नहीं मिल सकती और न इन्वेंपेक्टर आव स्कूलस के दौरे के समय उनसे कुछ लाभ हो सकता है।

अथवा इसके विरुद्ध यह होगा कि तुम्हारे युवावस्था के स्वप्न बड़े उम्र हो जाने पर दृढ़ विश्वास के रूप में परिणत हो जायेंगे। तुम चाहोगे कि मनुष्य-मात्र को, चाहे वे स्कूल में पढ़ते हों या नहीं, विस्तृत और मनुष्योचित शिक्षा दी जाय। पर यह देख कर कि ऐसा हो सकता वर्तमान स्थिति में असम्भव है, तुम वर्तमान सामाजिक संगठन की जड़ पर ही कुठाराघात करने लगोगे। तब तुम शिक्षा-विभाग द्वारा नौकरी से अलग कर दिये जाओगे, तुम को स्कूल छोड़ कर हम लोगों के बीच में आना पड़ेगा और हमारे ही

साथ काम करना पड़ेगा। Digitized by eGangotri Foundation, Haridwar, India
 जिनकी उम्र तुमसे ज्यादा होने पर भी जिनकी योग्यता तुम से कम है, समझाओगे कि ज्ञान कैसी मनोहर वस्तु है, मनुष्य-समाज को कैसा होना चाहिये अथवा यह कैसा बन सकता है। तुम साम्यवादियों के साथ मिल कर वर्तमान सामाजिक प्रथा को जड़-मूल से बदलने के लिये उद्योग करने लगोगे और ऐसा प्रयत्न करोगे, जिससे संसार के लिये सच्ची एकता, सच्चा भ्रातृभाव और अनन्त समय तक कायम रहने वाली स्वाधीनता प्राप्त की जा सके।

कला-विशारद

ग्रन्थ में मैं तरुण कला-विशारद, मूर्तिकार, चित्रकार, कवि, संगीतज्ञ आदि से पूछता हूँ कि क्या तुम नहीं देखते कि जो प्रज्ज्वलित अग्नि, जो स्फूर्ति तुम्हारे पूर्वजों के दिलों में उत्तेजना फूँका करती थी, वह आजकल के लोगों में नहीं पाई जाती और कला के क्षेत्र में साधारण और विशेषता-हीन कृतियों की ही बहुतायत देखने में आती है?

पर इसके सिवा और हो भी क्या सकता है? प्राचीन काल की घटनाओं को फिर से अवलोकन करने से और नवीन प्रकृति के दृश्यों का निरीक्षण करने से जो मानसिक प्रसन्नता प्राप्त होती है, उसीसे प्रेरित होकर मध्यकालीन युग के बड़े-बड़े प्रसिद्ध चित्र और मूर्तियों की रचना की गई थी। पर ये साधन इस समय मौजूद नहीं हैं। साथ ही किसी कान्तिकारी आदर्श के सामने न होने से कला में जीवन भी नहीं पाया जाता। इन कारणों से हमारी कला का उद्देश्य सिर्फ नकल करना रह गया है। हम बड़े मेहनत करके पत्तों पर पड़ो ओस की बूँदों का चित्र खींचते हैं, गाय के पैर की जैसी की तैसी नकल तैयार करते हैं, अथवा गन्दे नालों की दस घुटने वाली गन्दगी का, या किसी ऊँचे दर्जे की वेश्या के विलास भवन का गद्य या पद्य में वारीकी के साथ वर्णन करते हैं।

तुम पूछोगे — “यदि ऐसा है तो क्या किया

भीतर जो प्रज्ज्वलित अग्नि बतलाते हो, अगर वह धुआँ फैलाने वाली धुँधली बत्ती के सिवाय और कुछ नहीं है तो तुम उसी तरह काम करते रहोगे, जैसे अब तक करते रहे हो। उस दशा में तुम्हारी कला का शीघ्र ही पतन होने लगेगा और वह व्यापारियों की दुकानों को सजाने का, या थर्ड-क्लास नाटक-घरों के लिये नाटक तैयार करने का, या बच्चों का जी बहलाने वाली कहानियाँ लिखने का साधन मात्र बन जायगी। अब भी तुम में से अधिकांश लोग उसी रास्ते पर चल रहे हैं और तेजी के साथ आगे बढ़ते जाते हैं।

पर यदि तुम को मनुष्य-जाति के प्रति सहानुभूति है, तुम्हारी हृदय-तंत्री उनके दुःख-सुख के साथ वजती है, अगर एक सच्चे कवि की भाँति तुम जीवन-संगीत को सुनते हो तो इस शोक-समुद्र का अवलोकन करते हुए, जिसकी ऊँची लहरें तुम्हारे चारों ओर उठ रही हैं, इन असंख्य लोगों को भूख की ज्वाला से अपने सामने मरते देख कर, इन खानों में भरे हुए लोगों के शवों को देख कर, इन मोर्चों पर पड़ी हुई छिन्न भिन्न मनुष्य-देहों के डेरों को देख कर, इन निर्वासितों को देख कर, जो लम्बी-लम्बी कतारों में निर्जन देशों और काले पानी में अपने शरीरों को गलाने के लिये जा रहे हैं, इस निराशा-जनक युद्ध को देखते हुए जिसमें हारे हुएों का कष्ट-जनित चीत्कार और जीतने वालों की धूमधाम स्पष्ट सुनाई दे रही है, बहादुरी के मुक्ताबले में कायरता के और प्रशंसनीय दृढ़ निश्चय के मुक्ताबले में तुच्छ चालवाजी के, इन दृश्यों को देखते हुए तुम हरगिज उदासीन नहीं बने रह सकते। तुम अवश्य आगे आओगे और अत्याचार-पीड़ितों का पक्ष ग्रहण करोगे, क्योंकि तुम जानते हो कि ‘सत्य’ ‘शिव’ ‘सुन्दर’ उन्हीं लोगों के पक्ष में है, जो कि प्रकाश, मनुष्यता और न्याय के लिये संग्राम करते हैं।

[अगले अङ्क में समाप्त]

पूज्य पिता जी

श्री गिरिजाशंकर उपाध्याय

परिचय तथा बाल्यावस्था :

मेरे पिता पं० परमानन्द उपाध्याय का जन्म वि० सं० १६०८ आश्विन शुक्ला प्रतिपदा को अमरगढ़ या अमरा में हुआ था। यह स्थान पहिले ओरछा राज्य में था और अब समथर में है, हमारे पूर्वज जब से ओरछा बुन्देलों की राजधानी बनी तब से उस राजवंश के आचार्य रहे तथा हरकनपुरा नामक ग्राम (जो कि अब भी टीकमगढ़ तहसील में है) पादारक में हमारे पूर्वजों को लगा रहा। कालान्तर में घटना-चक्र के फेर से श्री वदन जू समथर चले गये। प्रतिभावान् एवं सिद्ध पुरुष होने के कारण समथर-नरेश ने उन्हें अपने घराने का आचार्य पद दे सब विधि सम्मानित किया। प्रपितामह तत्कालीन राजा के छोटे भाई के साथ अमरा आ गये। छोटे राजा के देखवसान के पश्चात् पितामह नर्मदा के किनारे भारकच्छ नामक ग्राम में आ बसे।

पिता जी की शिक्षा वंश—परंपरानुसार प्रथम हिन्दी तथा संस्कृत की अमरा ही में हुई। कर्मकांड, व्याकरण, काव्य तथा साहित्य का अध्ययन कर यजुःसंहिता तथा यजुर्वेद का पूर्ण रूप से पठन-पाठन व मनन किया और भारकच्छ आकर उर्दू व फारसी सीखी। पिता जी की अवस्था बीस वर्ष की हो चुकी थी तथा विवाह भी हो गया था।

पिता जी का दृढ़ निश्चय :

पितामह के एक प्रिय शिष्य सोहागपुर में तहसीलदार थे। पिता जी उनके पुत्र के विवाहोत्सव में सम्मिलित हुए। मुख्य जलसे के दिन नगर के

प्रमुख अधिकारी एवं नागरिक निमन्त्रित किये गए। गुरु भाई एवं विद्वान होने के नाने भक्त तहसीलदार ने पिता जी को प्रमुख आसन दे आगत महानुभावों से परिचय कराया।

बकील एवं पदाधिकारी वर्ग अंग्रेजी में बातचीत कर रहे थे। पिता जी अंग्रेजी न जानने के कारण उनके विनीत में भाग न ले सके। तहसीलदार प्रबन्ध तथा सत्कार के विधान में व्यस्त थे। पिता जी ने अनुभव किया कि अंग्रेजी न जानने के कारण उनकी अवहेलना की जा रही है। उसी घड़ी मन-ही-मन दृढ़ संकल्प कर लिया कि अब अंग्रेजी पढ़ कर ही दस लेंगे। विवाह सानन्द संपन्न हो गया। सम्बन्धी धीरे-धीरे प्रस्थान करने लगे। पिता जी घर न गए। लाला जी के पुत्र को अंग्रेजी पढ़ाने के लिए एक अध्यापक नियुक्त थे। पिता जी उनसे अंग्रेजी पढ़ने लगे। एक ही वर्ष में प्रथम से छठी श्रेणी की पढ़ाई समाप्त कर ली। उस समय अंग्रेजी मिडिल विश्वविद्यालय की परीक्षा थी और मिडिल की शिक्षा होशंगाबाद में होती थी। अतः पिता जी होशंगाबाद पहुँचे। परिवार के दृढ़ पुरुष अंग्रेजी शिक्षा के विरोधी थे। पिता जी की अवस्था बाईस वर्ष की हो चुकी थी। पितामह के शब्दों में बूढ़े तोता पराई भाषा रटने जा रहे थे। परिवार से उन्हें कोई सहायता न मिली। पिता जी ने चिन्ता न की और होशंगाबाद पहुँच कर मिडिल में भरती हो गये। वेदपाठी त्रिकाल संध्या का अनुष्ठान करने वाले दृढ़-प्रतिज्ञ विद्यार्थी को अपने ऊपर अटल विश्वास था कि अपने पैरों वह खड़ा हो सकता है।

एक दिन प्रातःकाल पिताजी से एक मित्र जो कि करके आ रहे थे। मार्ग में एक स्थान पर स्कूलों के डिप्टी इंस्पेक्टर ठहरे हुए थे। दो दिन से कुछ अस्वस्थ थे। पिता जी का दिव्य स्वरूप तथा वेदोच्चारण सुन सहज ही प्रभावित हो गए। पिता जी को सादर बुलाया और यज्ञःपाठ सुना। ध्वनि तथा उच्चारण से इतने प्रभावित हुए कि स्वयमेव अपने को स्वस्थ तथा अत्यन्त आनन्दमय अनुभव करने लगे। इसका परिणाम यह हुआ कि पिता जी को वजीफा मिल गया।

मिडिल की परीक्षा में उत्तीर्ण होकर पिता जी जबलपुर कालेज में भरती हो गए और मैट्रिक पास कर वकालत की पढ़ाई करने लगे। उस समय मैट्रिक के उपरान्त ही कानून पढ़ कर वकालत करने का अधिकार मिल जाता था; किन्तु पितामह ने उन्हें आगे न पढ़ने दिया और अपनी गृहस्थी का भार अपने ऊपर लेने की आज्ञा दी।

पिता जी होशंगाबाद के अंग्रेजी स्कूल में अध्यापक हो गए तथा गृहस्थी का दायित्व अपने ऊपर लेकर वहीं रह कर वन-विभाग, लोकल बोर्ड, अकाल-रक्षा-समिति इत्यादि विभागों में काम करते रहे।

नित्य कर्म त्रिकाल सन्ध्योपासनादि क्रम के निश्चल वृत्ति होने के कारण सन् १९०७ में बीस साल की सरकारी नौकरी को तिलांजलि दे दी, क्योंकि परिस्थिति ऐसी हो गई थी कि नौकरी के कारण उनके नित्य-कर्म में बाधा पड़ने लगी थी। अच्छी जीविका को लोभ उन्हें अपने निश्चय से विचलित न कर सका।

“जीविका का प्रलोभन पथ-भ्रष्ट कराना चाहता है। यदि इस प्रलोभन पर मैं अपने व्रत से हट गया तो मेरा जीवन ही नष्ट हो जायगा। द्रव्योपार्जन ही मेरा ध्येय नहीं है। जिसके दो हाथ हैं वह उदर पूर्ति किसी भी प्रकार से कर सकता है।” —यह कह कर पिता जी ने अपने पद से इस्तीफा दे दिया।

इन्दीर में स्कूलों के हैड इन्स्पेक्टर थे, इतने प्रसन्न तथा प्रभावित हुए कि आग्रह पूर्वक पिता जी को बुला कर मदेश्वर में एंग्लो वनोस्पूलर मिडिल स्कूल का हैडमास्टर बना दिया। तदुपरांत कोई बाधा न आई और मनासा, भानपुरा, आलमपुर, सहिदपुर इत्यादि स्थानों में रह कर २१ साल के पश्चात् सन् १९२८ में उन्होंने अवसर ग्रहण कर लिया।

आचार-विचार :

अब नियमित रूप से प्रतिदिन छः घण्टे सन्ध्योपासना तथा अर्चन, छः घण्टे योग-साधन तथा छः घण्टे स्वाध्याय व औपधि-वितरण में देने लगे। पिता जी सदैव ब्रह्म मुहूर्त में उठते और नित्यः—क्रिया के पश्चात् सन्ध्योपासना करते थे और सूर्योदय होते समय सूर्य की ओर मुंह करके वेद मन्त्रों का पाठ करना नहीं भूलते थे।

पिता जी को मेस्मेरिज्म व हिपनेटिज्म का अच्छा अभ्यास था। वे इन्हें योग की निष्ठुट क्रियाएँ कहते थे। यन्त्र-मन्त्र तथा अनेक तन्त्र उन्हें सिद्ध थे। लेखक ने उनके अनेक चमत्कार देखे हैं। पिता जी का कहना था कि तन्त्र-शास्त्र भारत की निजी, किन्तु गुप्त सम्पत्ति है। यह तर्क-सिद्ध है तथा सद्यः फलदाता है। इसकी सिद्धि प्राप्त कर मनुष्य चमत्कारी हो अपने मार्ग में सफल होता है, किन्तु आत्म-दर्शन से वंचित रहता है। अतएव यह सब करके उन्होंने छोड़ दिया था।

सामाजिक जीवन :

पिता जी दृढ़ प्रतिज्ञ, सार्वत्रिक, सदाचारी एवं सरल ब्राह्मण थे। उनकी धारणा थी कि सरल और सीधा-सादा जीवन बिता कर ही आदमी विचारों के उच्च धरातल पर रह सकता है। जो व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं को बढ़ा कर अहर्निश उन्हीं की पूर्ति में व्यस्त रहता है, उसे विचार

करने का अवकाश ही नहीं मिल पाता है। भारतीयों को अपने ही देश में देखना चाहते थे। अपना देश, अपना देश और अपनी संस्कृति, अपनी भाषा का उन्हें सर्व गर्व रहता था। सामाजिक नियमों में समयानुकूल परिवर्तन होना आवश्यक समझते थे। जिस सुधार की आवश्यकता उन्हें प्रतीत हुई उसे वे अपने कुछ साथियों के साथ कर ही डालते थे। पम्के सनातनी परिणत होते हुए भी शुद्धी के पक्ष में थे। कहते थे कि जिस प्रकार शरीर बाहरी तत्वों को या तो अपने से बाहर कर देता है या उन्हें अपने अनुरूप व अनुकूल करके ही चैन लेता है। उसी प्रकार हमें भी करना चाहिये।

वे गृहस्थ जीवन में नियम तथा सदाचार को अति आवश्यक मानते थे। उनका कथन था कि प्रत्येक वस्तु के लिये एक उचित स्थान और प्रत्येक कार्य के लिये उचित समय जीवन को सफल बनाता है। स्वास्थ्य के लिए ब्रह्मचर्य, नियमित आहार तथा विहार को परमावश्यक कहते थे।

साहित्य-सेवा :

पिता जी हिन्दी, उर्दू तथा संस्कृत तीनों भाषा में गद्य एवं पद्य लिखा करते थे। उनके (१) अनुभूत प्रयोग (आधुनिक विषयक) () योग की जीवन में आवश्यकता। (३) मेस्मे-रिज्म तथा हिपनेटिज्म क्या है ? तथा मन्त्र, यन्त्र, तन्त्र विषयक अनेक स्फुट लेख लिखे रखे हैं, जिन्हें प्रकाशित कराने का विचार है। कविताएँ भी उन्होंने बहुत लिखी हैं।

अन्तिम दिन :

देहावसान के कुछ महीने पूर्व पिता जी हम सबसे कहा करते थे कि जो कुछ मेरे पास है उसे सीख लो, अन्यथा मेरी विश्व मेरे साथ ही चली जावेगी। एक उत्तम ज्योतिषी के बतलाये हुए महाघातक योग गत वर्ष यानी सं० २००० में निकल चुके थे। पिता जी का कभी सिर भी नहीं दुखा था। उनका नित्य कर्म योगाभ्यास सर्व की

शरीर देख कर हमें विश्वास होता था कि पिता जी अभी बहुत वर्ष हमारे बीच रहेंगे। एक दिन मुझे बुला कर कहने लगे कि आज से तू नित्य-प्रति एक घण्टे मेरे उपदेश सुना कर। मैंने आत्मा का पालन किया। उनके उपदेशों का सारांश यह था :—

(१) जीवन को नियमित बनाओ और दीर्घजीवी बनो।

(२) सूर्योदय से पहिले उठो, नित्य-क्रिया कर सन्ध्योपासना करो और सूर्य से मनमानी शक्ति प्राप्त करो।

(३) ब्रह्मचर्य पूर्व करहो। सानसिक व्यभिचार कभी न करो।

(४) ब्रह्मचर्य तथा सात्विक नियमित आहार-विहार से शरीर बलवान रहता है तथा अहिंसा, सदाचार, सत्य-भाषण एवं अपने स्वरूप के ध्यान से आत्मा बलिष्ठ रहती है।

(५) स्वस्थ शरीर हो और बलिष्ठ आत्मा तो आदमी क्या नहीं कर सकता ?

(६) मृत्यु जीवन का चरम विकास है। आत्मा शरीर में आकर समीप हो जाता है और देहावसान के पश्चात् असीम। अतः किसी के देहावसान पर दुःखी होना व्यर्थ है।

एक मित्र ने आग्रह-पूर्वक पिता जी को अपने घर आमन्त्रित किया और सवारी के लिये गाड़ी भेजी। सड़क खराब होने से गाड़ी में दबके लगे। फलतः मूत्र-स्थान पर कुछ आघात पहुँचा और रात्रि में मूत्रावरोध हो गया। डाक्टर ने आकर नली द्वारा मूत्र विसर्जन कराया। यह क्रम उसी स्थान पर तीन दिन चला। हम सब घर चलने का आग्रह कर रहे थे, किन्तु वे आना नहीं चाहते थे। बहुत अनुनय-विनय करके मैं उन्हें घर ले आया। मुझ से कहने लगे कि ऐसी दशा में शरीर रखना उचित नहीं है। दशमी को मूत्र

पिता का वात्सल्य :

सब जगह प्रकाश करने वाले सूर्य में, सुखद शीतल समीर में, सुस्कराने हुए नक्षत्रों में पिता जी का वात्सल्य झलकता है।

कठोर नियमों में बँधा उनका सदाचारी जीवन, मधुर व्यवहार, कान्तिवान सुखमण्डल आज भी सजीव रूप से मेरे समक्ष विद्यमान हैं। पिता जी का जीवन साधनामय था और उनका ६३ वर्ष तक जीवित तथा स्वस्थ रहना ही इस बात का प्रबल प्रमाण है।

टीकमगढ़]

धारावाहिक उपन्यास —

विराट

स्टीफन जिवग

अनु.—यशपाल जैन बी. ए., एल-एल. बी.

: ६ :

विराट की प्रसिद्धि फिर सारे देश में फैल गई। दूर-दूर के देहातों और समुद्र-तट की भोंपड़ियों में उस तपस्वी की खबर पहुँची, जिसने अपने घर और अपनी भूमि का त्याग कर दिया था कि वह चिन्तन का जीवन व्यतीत कर सके। अब उसे गुणों का चौथा नाम दिया गया अर्थात् 'एकान्तवासी सितारे' के नाम से उसकी ख्याति फैल गई। मन्दिरों में पुजारी उसके त्याग की प्रशंसा करने लगे। महाराज उसकी चर्चा अपने नौकर-चाकरों में करने लगे और जब कोई न्यायाधीश अपना फैसला देने थे तो कहते थे, "परमात्मा करे, मेरे शब्द उतने ही ठीक हों, जितने विराट के, जो अब केवल भगवान के लिए जीवित रहता है और जो सारे ज्ञान से परिचित है।"

प्रायः ऐसा होता था और ज्यों-ज्यों समय बीतत गया और भी अधिक होने लगा कि लोग अपनी करनी की बुराई अनुभव करके और अपने जीवन को निस्सार समझ कर अपना घर-बार और सम्पत्ति त्याग कर विराट की तरह भोंपड़ी बनाने और भगवान की आराधना करने के लिए जंगल में चले जाते थे। संसार में स्वयं उदाहरण उपस्थित करना सर्वोत्तम चीज है। प्रत्येक शुभ कर्म से दूसरों में भला बनने की इच्छा पैदा होती है और वह इच्छा सुप्तवस्था से जाग कर तीव्र गति से काम में लग जाती है। जिनकी आँखें खुल गईं, उन्हें पता चला कि उनका जीवन कितना निस्सार है। उन्हें वह खून दिखाई देने लगा, जो उनके हाथों में लगा था और वह पाप भी, जिसके

ध्वंसे उनकी आत्मा पर पड़े थे। वे उसे और एकान्त में चले गये। शरीर की कम-से-कम आवश्यकता भर मिल गया तो उसी से सन्तुष्ट होकर चितन में लीन हो गये। फल इकट्ठे करने के लिए जब वे बाहर निकलते और उन्हें कोई मिल जाता तो वे अभिवादन में एक शब्द भी मुँह से नहीं निकालते थे कि कहीं इससे कोई नया संबन्ध न कायम हो जाय, बल्कि वे एक-दूसरे को देख कर हादिकता के साथ मुस्करा उठते थे और उनकी आत्माएँ शांति का अभिवादन करती थीं। साधारण जन इस जंगल के बारे में कहने लगे कि वहाँ तो साधू-सन्त बसते हैं। कोई भी शिकारी इस भय से वहाँ नहीं आता था कि हत्या करके वह उस पवित्र स्थान को कहीं कलुषित न कर दे।

एक दिन सबेरे, जब कि विराट जंगल में टहल रहा था, उसे एक सन्यासी जमीन पर निश्चल पड़ा हुआ मिला। उसे उठाने के लिए जब वह झुका तो उसे मालूम हुआ कि उसका शरीर निर्जीव है। विराट ने उस मृत साधु के नेत्र बन्द कर दिए, फिर प्रार्थना के कुछ शब्द कहे। अनन्तर उस शव को जंगल से बाहर ले जाने का प्रयत्न करने लगा। उसने इरादा किया था कि उसके लिए चिता बना कर उसे जला देगा, जिससे कि उसके भाई का शरीर पवित्र हो जाय। लेकिन फलों की मामूली खुराक से विराट दुर्बल हो गया था और बोझा उसकी शक्ति से बाहर था। मदद की तलाश में उसने घाट पर से नदी पार की और निकटवर्ती ग्राम की ओर चला।

गाँव वालों ने जब उस तपस्वी को देखा, जिसे उन्होंने एकान्तवास के सितारे का नाम दे रखा था तो अत्यन्त विनम्रता-पूर्वक वे आये और पूछा कि आप क्या चाहते हैं। पता चला तो वे तुरन्त सहायता पहुँचाने के लिए तैयार होने लगे। विराट जहाँ कहीं गया, स्त्रियाँ उसे साष्टांग दण्डवत करती थीं। बच्चे भौचक्के से खड़े रह

जाते थे और लड़कियाँ के साथ देखते थे कि वह चुपचाप कैसे आगे बढ़ता है। आदमी अपने-अपने घरों से निकल कर अपने प्रतापी अतिथि को प्रणाम करने और उसका आशीर्वाद लेने के लिए आते थे। विराट इस अपार जन-समूह के बीच सन्तोष की एक मुस्कराहट के साथ आगे बढ़ता गया। वह अनुभव करता था कि चूँकि अब वह किसी वन्यवन में उनके साथ नहीं वैधा है, अतः उसका प्रेम उनके प्रति कितना पवित्र और कितने अधिक है।

लेकिन जब वह हर जगह सका हादिक अभिवादन स्वीकार करता हुआ अन्तिम भोंपड़ा पर पहुँचा तो देखता क्या है कि उसके अग्र एक स्त्री बैठी है और उसकी आँखों में, ज्यों ही उसने विराट की ओर देखा, उसे घृणा भरी हुई दिखाई दी। भय से वह काँप उठा। उसे ऐसा प्रतीत हुआ कि अपने वध किये हुए भाई का कठोर और उसे दोषी ठहराने वाला जिन आँखों को वह कभी का भूल चुका था, उन्हें पुनः देख रहा था। एकान्तवास के इन वर्षों में उसका आत्मा किसी से वैर करने की अनभ्यस्त हो गई थी। उसने अपने को समझाने का प्रयत्न किया कि वह उसकी निगाह का गलत अर्थ समझा है। लेकिन जब उसने पुनः देखा तो वे आँखें वैसी-की-वैसी घृणा के साथ उठे देख रही थीं। अपने को संभाल कर विराट भोंपड़ों की ओर बढ़ा। स्त्री भीतर चली गई, लेकिन भीतर अन्धेरे में से उसकी आँखें जंगली चीते की जलती आँखों की भाँति बड़ी भयंकरता के साथ उसकी ओर देख रही थीं।

विराट ने साहस किया और मन-ही-मन बोला, “इस स्त्री को, जिसे मैंने पहले कभी नहीं देखा, मैं कैसे चोट पहुँचा सकता हूँ? मेरे विरुद्ध उसमें इतनी घृणा कैसे पैदा हुई है? कहीं-न-कहीं कुछ गलती जरूर है। और मैं उसका पता चलाऊँगा।”

आगे बढ़ कर विराट ने द्वार खटखटायी।

कोई उत्तर नहीं मिला। फिर भी वह प्रभुमनोरमा को काव में नहीं रख पाऊँगी।”

विराट ने फिर उसकी ओर देखा। उसकी आँखें इतनी क्रोध से भरी थीं कि विराट को लगा कि वह आपे से बाहर है। विराट ने कहा, “मैं वह आदमी नहीं हूँ, जिसकी तुम कल्पना करती हो। आदमियों से मैं तो दूर रहता हूँ और मैं किसी के भी भाग्य में हस्तक्षेप नहीं करता। किसी दूसरे आदमी को भूल, मैं तुम मुझे समझ बैठी हो।” इतना कह कर विराट वहाँ से चलने को सुझा।

“तुम मुझसे और क्या चाहते हो ?” स्त्री ने गुस्से से पूछा।

विराट ने देखा कि क्रोध से वह इतनी काँप उठी थी कि दरवाजे के खम्भे का सहारा लेकर उसे अपने को संभालना पड़ा।

फिर भी जब विराट ने उसके चेहरे को देखा तो उसका हृदय हल्का हो गया, क्योंकि उसे विश्वास हो गया कि उसने उस स्त्री को पहले कभी नहीं देखा। वह जवान थी और विराट जीवन-पथ पर बहुत आगे बढ़ चुका था। दोनों के मार्ग कभी एक-दूसरे से नहीं मिले और वह कभी भी उसे कोई दुःख नहीं पहुँचा सकता था।

“मैं तुम्हें शांति पहुँचाना चाहता हूँ, बहिन।” विराट ने उत्तर दिया। “और मैं तुम से पूछता कि तुम इतनी भयंकर निगाह से मेरी ओर क्यों देखती हो ? क्या मैं तुम्हारा दुश्मन हूँ ? क्या मेरे द्वारा तुम्हारी कोई हानि हुई है ?”

“तुमने मुझे क्या हानि पहुँचाई है ?” वह धृणा के साथ मुस्कराई, “हाँ, तुम मेरा क्या बिगाड़ सकते हो ! तुम ने बस थोड़ा-सा बिगाड़ किया है। मेरा घरबार भरा पूरा था। तुम ने उसे खाली कर दिया। तुम ने मेरे प्रियतम को मुझ से छीन लिया। तुम ने मेरी जिन्दगी को मौत के हवाले कर दिया ! यहाँ से तुम चले जाओ, जिससे मैं तुम्हें फिर न देख पाऊँ,

गुस्से से स्त्री ने उसके पीछे चीत्कार किया, “मैं तुम्हें अच्छी तरह पहचानती हूँ। तुम विराट हो, जिसे लोग एकांतवासी सितारा कहते हैं और जिसे चारों गुणों से विभूषित करके लोग जिसकी प्रशंसा करते हैं। लेकिन मैं तुम्हारी नामवरी नहीं करूँगी। मेरा मुँह तो तुम्हें उस समय तक चिल्ला-चिल्ला कर कोसता रहेगा, जब तक कि मेरी शिकायत भगवान के दरबार में नहीं पहुँच जाती। आओ और चूँकि तुम पूछते हो तो लो देखो, तुम ने मेरा क्या बिगाड़ा है !”

आश्चर्य-चकित विराट की बाँह पकड़ कर स्त्री उसे घर के भीतर ले गई और दरवाजा खोल कर नीची छत के एक अन्धरे कमरे में उसे ले जाकर खड़ा कर दिया, जहाँ चटाई पर एक निश्चल शरीर पड़ा था। विराट उसे देखने के लिए झुका और फिर काँप कर पीछे हट गया। एक मरा हुआ बालक पड़ा था—बालक, जिसकी आँखें उसके अमर भाई की आँखों की भाँति उसकी ओर देख रही थीं। दुःख से अधमरी स्त्री उसके पास खड़ी थी। उसने कराह कर कहा, “यह तीसरा, मेरी क्रोध का आखिरी, बालक था और तुम ने उसकी और दूसरों की हत्या कर डाली—तुम ने, जिसे लोग संत और भगवान का चाकर कहते हैं।”

प्रतिवाद में जब विराट ने मुँह खोलना चाहा

तो वह फिर कूट पड़ी। इसी पर बैठ कर मेरा पति हर रोज कपड़ा बुना करता था। इस देश में उसकी बराबर चतुर और कोई जुताहा नहीं था। दूर-दूर से लोग आकर उससे कपड़ा बुनवाते थे और उसकी मेहनत से हमारी जिन्दगी चलती थी। हमारे दिन चैन से कट रहे थे, क्योंकि पारातिक भला आदमी और मेहनती था। बुरी सोहबत से वह बचता था और पाजो आदमियों से दूर रहता था। उससे मेरे तीन बच्चे हुए। हमने उनकी अच्छी तरह से परवरिश की। उम्मीद थी कि वे बड़े होकर अपने पिता की तरह हो जायेंगे, भले और नेक। तब एक दिन एक शिकारी आया। भगवान की दया से उसने इस गांव में पहले कभी पैर नहीं रक्खा था। उससे पारातिक को मालूम हुआ कि एक आदमी ने घरबार और सब साज-सामान छोड़ दिया है और दुनियादारी की जिन्दगी बिताते हुए भी उसने भगवान के चरणों में अपने को सौंप दिया है। शिकारी ने बताया कि अपने ही हाथों उसने अपने लिए एक भोंपड़ी बना ली है। उस दिन से पारातिक हम सबसे बच-बच कर रहने लगा। शाम को वह ध्यान में लगा रहता और कभी-कभी ही बोलता। एक रात को मेरी आँख खुली तो देखा कि वह मेरे पास से उठ कर जंगल में चला गया है—उस जंगल में, जहाँ तुम यह सोच कर रहते हो कि परमात्मा का चिन्तन कर सते और जिसे सब साधू-सन्तों का निवास कहते हैं। लेकिन जब उसने अपने बारे में सोचा, वह हमें भूल गया और उसे यह भी ध्यान न रहा कि उसकी मेहनत पर ही हमारी गुजर-बसर होती थी। हम लोग गरीबों के चक्कर में आ गये। बच्चे रोटी के लिए तरसने लगे। एक-एक करके मरते गये और आज तीनों में से आखिरी भी चल दया। यह सब तुम्हारी करतूत है। तुम्होंने पारातिक को भरमाया। तुम भगवान के पास पहुँच सको, उसी का यह नतीजा है कि मेरी इस देह से पैदा हुए तीन बच्चे मिट्टी में मिल गये। ओ पाखंडी, तुम अपना बचाव कैसे करोगे,

वच्चों ने इतना कष्ट पाया, जब कि तुम चिक्कियों का पेट भर रहे थे और दुःख से बच कर दूर रह रहे थे? तुम कैसे इस बात का प्रायश्चित्त करोगे कि तुम ललचा कर एक ईमानदार आदमी को उसके काम से, जिससे उसकी और उसके मासूम बच्चों की रोजी चलती थी, इस पागलपन के विचार से भरमा ले गये कि अपने साथी संगियों के बीच मेहनत की जिन्दगी बिताने की वनिस्वत वह एकांत में परमात्मा के ज्यादा पास रहेगा?"

विराट भयातुर हो उठा और उसके होठ काँपने लगे। बोला, "मैं नहीं जानता था कि मेरी देखा देखी लोगों को प्रोत्साहन मिलेगा। जो मार्ग मैंने चुना, उस पर मैं अकेले ही चलना चाहता था।"

"ओ सन्त, तुम्हारा ज्ञान कहाँ है, अगर तुम उस बात को भी नहीं समझ पाते, जिसे एक बालक तक जानता है। दुनिया के सारे काम भगवान के काम हैं और कोई भी आदमी अपनी इच्छा से कर्म से नहीं बच सकता और न जिम्मेदारी से हा पीछा छुड़ा सकता है। घमण्ड से तुम्हारा दिमाग तो आसमान पर पहुँच गया था, जब तुमने सोचा कि तुम अपने कर्मों के मालिक हो सकते हो और तुम दूसरों को सीख दे सकें हो। जो चीज तुम्हारे लिए अमृत थी, मेरे लिए हलाहल हो गई और तुम्हारी जिन्दगी ने ही इन बच्चों को मरवा डाला।"

विराट ने कुछ देर सोचा और फिर उसकी बातों को स्वीकार करके सिर झुका लिया।

"तुम जो कहती हो, ठीक कहती हो और मैं देखता हूँ कि सन्तों के एकांतवास की अपेक्षा कहीं अधिक सचाई दुःख की एक सिसकी में है। मुझे जो सीख मिली है, वह अमूर्त से मिली है और मुझे जो कुछ दीखा है उसका दर्शन दुखियों की और सदाजीवित रहने वाले भाई की निगाह ने कराया है। सचमुच मैं भगवान के सामने उतना विनम्र नहीं हो सका, जितने की मैंने कल्पना

की थी, बल्कि मैं अभिमानित हूँ। मुझे उस दुःख से हुआ है, जिसकी पीड़ा अब मुझे उस दुःख से हुआ है, जिसकी पीड़ा मैं इस समय अनुभव कर रहा हूँ। यह ठीक है कि जो निष्क्रिय रहता है, वह भी कर्म करता है, जिसके लिए इस पृथ्वी पर वही जिम्मेदार होता है। एकान्तवास करने वाला भी अपने माइनों के बीच रहता है। मैं तुम से क्षमा की याचना करता हूँ। जंगल से अब मैं इस आशा से लौट आऊँगा कि पारार्तिक भी मेरी तरह लौट कर तुम्हारी कोख में नये जीवन को जन्म दे।”

वह एक बार फिर आगे को झुका और अपने होठों से उसने उस स्त्री के कपड़ों के छोर का स्पर्श किया। जब उस जाती काया को स्त्री की आँखें आश्चर्य के साथ देखने लगीं तो उनके मन से क्रोध का भाव बिल्कुल दूर हो गया।

: १० :

विराट ने एक रात और अपनी कुटिया में गुजारी। एक बार फिर उसने सूर्यास्त के बाद आसमान में चमकते तारे देखे। सवेरे के समय उनका धुँधला पड़ जाना भी देखा। चिड़ियों को दावत के लिए एक बार उसने फिर बुलाया और उन्हें प्यार किया। फिर लाठी और पात्र, जिन्हें वह वर्षों पहले अपने साथ लाया था, लेकर नगर की ओर चल दिया।

मुस्किल से यह खबर फैल ही पाई थी कि जंगल में रहने वाला तपस्वी अपनी सूनी कुटिया को छोड़ कर फिर शहर में आ रहा है कि लोग उस दुर्लभ और आश्चर्य-जनक दृश्य को देखने के लिये इकट्ठे होंगे लगे, यद्यपि उनमें से बहुतों को यह भय हो रहा था कि भगवान के सामने से इस आदमी का चला आना कहीं कोई अनिष्ट न करे! दोनों ओर भक्ति-भाव से खड़े नर-नारियों के बीच से विराट गुजरा और उसने गम्भीर सन्तान से, जो कि प्रायः उसके होठों पर खेलती रहती थी, दर्शकों का अभिवादन करने का प्रयत्न किया, लेकिन पहली बार उसने अनुभव किया कि

गम्भीर बनी रहों और होठ कड़।

अन्त में वह महल में पहुँचा। मंत्रणा का समय बीत चुका था और महाराज अकेले थे। विराट अन्दर गया। आगन्तुक का आलिङ्गन करने के लिए महाराज उठ खड़े हुए, लेकिन विराट ने भूमि पर लेट कर उन्हें दण्डवत् किया और याचना के रूप में उनकी पोशाक के छोर का स्पर्श किया।

महाराज ने कहा, “तुम्हारे होठों से शब्दों के निकलने के पहले ही मैं तुम्हारी प्रार्थना को स्वीकार करता हूँ। मेरे लिए यह गौरव की बात है कि मेरे पास एक पावन पुरुष की सेवा और साधू की सहायता के साधन हैं।”

“मुझे साधू मत कहिए।” विराट ने उत्तर दिया, “क्योंकि मैंने सही रास्ते का अनुसरण नहीं किया। अब तक मैं एक चक्र में भटक रहा था और अब मैं एक याचक के रूप में आपके सामने खड़ा हूँ। मैं पाप से छुटकारा चाहता था और इसके लिये मैं सब तरह के कर्म से बचा, लेकिन मैं भ्रम में फँस गया था, जिसका जाल आश्रितियों को फँसाने के लिए सब जगह फैता है।”

“मैं तुम्हारी बात का यकीन नहीं कर सकता।” महाराज ने कहा, “आश्रितियों की संगति से तो तुम बचे रहे। फिर उन्हें कैसे हानि पहुँचा सकते थे और जब तुम्हारा जीवन भगवान का सेवा के लिए समर्पित था तो तुम पाप कैसे कर सकते थे?”

“मैंने जान-बूझ कर भूल नहीं की। कारण कि मैं पाप से दूर भाग गया। लेकिन हमारे पैर तो धरती से बँधे हैं और हमारे कर्म सनातन नियमों के बंधन में जकड़े हैं। निष्कर्म स्वयं में कर्म है। अपने उस असर भाई की आँखों से मैं बच नहीं सका, जिनका हमारे कार्यों पर हमारी इच्छा के विरुद्ध प्रभाव पड़ता है, चाहे वे कार्य भले हों या बुरे। लेकिन मैंने तो सात बार अन्तः

क्रिया है, क्योंकि मैं परमात्मा के सामने भागा और लोगों की सेवा करने से इनकार कर दिया।

मैं तो निकम्मा था, क्योंकि मैंने केवल अपने ही जीवन का पोषण किया। और किसी की सेवा नहीं की। अब मैं पुनः सेवा करना चाहता हूँ।”

“विराट, तुम्हारे शब्द मुझे बड़े अजीब-से लगते हैं और मेरी समझ से परे हैं। मुझे यह बताओ कि तुम चाहते क्या हो, जिसकी मैं पूर्ति करूँ?”

“अपनी इच्छा को अब मैं स्वतन्त्र नहीं रखना चाहता। स्वतन्त्र आदमी स्वतन्त्र नहीं है और जो निष्क्रिय है वह पाप से नहीं बच पाता। जो सेवा करता है, जो अपनी इच्छा को अपने हाथ नहीं रखता, जो अपनी सारी शक्ति काम में लगाये रखता है और जो बिना सवाल किये कर्म में लीन रहता है, वही स्वतन्त्र है। कार्य में जुटे रहना हमारा धर्म है, उसका प्रारम्भ और उसका अन्त, उसका कारण और प्रभाव परमात्मा के अधीन है। मेरी जो इच्छा है, उससे मुझे मुक्त कर दीजिये, क्योंकि सब जगह अपनी इच्छा चक्षाने से अव्यवस्था पैदा होती है। पूरी तौर पर सेवा करना ही बुद्धिमानी है।”

“तुम्हारी बात मेरी समझ में नहीं आ सकती। तुम कहते हो कि मुझे स्वतन्त्र कर दो और साथ ही और उसी क्षण कहते हो कि मुझे काम दो। इससे तो यही अर्थ निकलता है कि वही आदमी स्वतन्त्र है, जो दूसरों की सेवा करता है, जब कि वह आदमी, जो कि सेवा कराता है, स्वतन्त्र नहीं है? यह बात मेरी समझ से बाहर है।”

“महाराज, यह ठीक ही है कि आप अपने हृदय में इस बात को नहीं समझ सकते। यदि आप समझ जाँय तो फिर आप महाराज कैसे रह सकते हैं और किस प्रकार दूसरों को आज्ञा दे सकते हैं!”

क्रोध से महाराज का चेहरा स्याह पड़ गया, “तो तुम्हारे कहने का मतलब यह है कि परमात्मा

की निगाह में दास की अपेक्षा महान्। ज छोटी चीज है?”

“परमात्मा की निगाह में कोई किसी से छोटा नहीं है और न कोई किसी से बड़ा है। जो सेवा करता है और बिना सवाल किए अपनी इच्छा को समर्पित कर देता है, वही जिम्मेदारी से अपने को मुक्त कर लेता है और परमात्मा को उसे सौंप देता है। लेकिन जो इच्छा करता है और सोचता है कि अपने ज्ञान से वह विरोध को जीत लेगा वह लालच के चंगुल में फँस जाता है और पाप करने लगता है।”

महाराज का चेहरा और भी स्याह हो गया। “तब सब सेवाएँ एक-सी हैं और परमात्मा और आदमी की निगाह में छोटी-बड़ी सेवाएँ कोई नहीं है?”

“यह हो सकता है कि आदमी की निगाह में एक सेवा दूसरी से बड़ी दिखाई दे, लेकिन परमात्मा की निगाह में सब सेवाएँ समान हैं।”

महाराज विराट की ओर देर तक रंजित होकर देखते रहे। उनकी आत्मा में उनके अभिमान को भारी धक्का लगा। जब उन्होंने उस बड़े चेहरे और भुर्रियों भरे माथे पर लहराते सफेद बालों को एक बार फिर देखा तो उन्हें ऐसा लगा कि यह बुड्ढा आदमी सठिया गया है। इस बात की परीक्षा करने के लिए उन्होंने मनोकाम में पूछा, “तुम मेरे महल के कुत्तों का संरक्षक बनना पसन्द करोगे?”

विराट ने सिर झुकाया और कृतज्ञता प्रकाशन के लिए सिंहासन का चुम्बन किया।

: ११ :

उस दिन से वह बूढ़ा व्यक्ति, जिसकी देश भर में चार गुणों के कारण प्रशंसा थी, महल के निकट कुत्ताघर के कुत्तों का संरक्षक होकर नौकर-चाकरों की कोठरियों में रहने लगा, उसके बेटे उसके कारण लज्जित थे। जब उन्हें उसके ठिकाने

के पास से होकर निकलना होता था तो वे लम्बा चक्र कर काट कर जाते थे, क्योंकि वे उसके सामने आने से बचना चाहते थे और दूसरों के सामने यह स्वीकार नहीं करना चाहते थे कि वह उनका सम्बन्धी है। पुजारी उसे निकम्मा समझ कर विमुख हो गये। विराट वहाँ एक नौकर के रूप में बसने के लिए आया था और कुत्तों की डोरी पकड़ कर उन्हें घुमाने ले जाता था। कुछ दिन तक सामान्य जन उस बुढ़े को, जो कभी महाराज का खास आदमी रहा था, देख कर खड़े हो जाते थे और टुकटकी लगा कर उसकी ओर निहारते थे, लेकिन विराट इन दर्शकों की परवा नहीं करता था। इसलिए थोड़े समय में वे उदासीन हो गये और उसके बारे में उन्होंने सोचना ही छोड़ दिया।

विराट ईमानदारी के साथ सबेरे से लेकर शाम तक काम करता था। वह कुत्तों के पट्टों को धोता था और तबकों को साफ करता था। उनके लिए भोजन लाता था और उनके आराम करने के लिए जगह ठीक करता था। उनका पेशाब और टट्टी साफ करता था। कुछ ही दिनों में महल के और लोगों की अपेक्षा कुत्ते उसे कहीं अधिक प्रेम करने लगे। इससे उसके हृदय को बड़ा आनन्द प्राप्त हुआ। उसका रुद्ध और झुर्रियाँ से भरा मुँह, जो बहुत कम बोलता था, कुत्तों को प्रसन्न देख कर मुस्करा उठता था। उसके कई वर्ष इसी प्रकार आनन्द-

पूर्वक बीते। उनमें कोई विशेष घटना नहीं हुई। इस बीच महाराज की मृत्यु हो गई। दूसरा नया राजा गद्दी पर बैठा, जो विराट को पहचानता भी नहीं था और जिसने एक बार विराट के एक छड़ी जमा दी, क्योंकि जब वह जा रहा था, एक कुत्ता उसे देख कर भौंक उठा था। एक दिन वह भी आया जब कि विराट के सब साथी-संगी उसे भूल गये।

जब विराट की जीवन-गाथा सुनाई गई और जब वह स्वर्गवासी हुआ और उसका शरीर नौकर-चाकरों की स्मशान-भूमि में जलाया गया तो उसकी याद करने वाला कोई भी नहीं था। यह वह आदमी था, जिसकी ख्याति सारे देश में व्याप्त थी और जिसकी चार गुणों के लिए सर्वत्र प्रशंसा होती थी! उसके बेटे अलग रहे और कोई भी पुजारी अन्तिम समय पर शांति-पाठ पढ़ने को नहीं आया। दो दिन और दो रात कुत्ते ज़रूर भौंके, लेकिन वे भी विराट को भूल गये, उस विराट को, जिसके नाम का विजेताओं के इतिहासों में कोई उल्लेख नहीं है और न सन्तों के ग्रन्थों में ही कहीं देखने में आता है। ❧

(समाप्त)

❧ यह उपन्यास शीघ्र ही पुस्तकाकार प्रकाशित हो रहा है।

सुन्दरता की शक्ति ❀

श्री 'बच्चन'

मैंने सोचा था मेरा दिल
शांत हुआ ऐसा बुझ कर,
मधुर प्रणय की ज्वाला इसमें
कभी नहीं जल पाएगी,
मैंने कहा कि बीतीं घड़ियाँ,
अन्त हुआ जिनका सत्वर,
नहीं पलट कर आएँगी फिर,
नहीं पलट कर आएँगी ।

दूर गए उल्लास पुराने,
दूर गईं अभिलाषाएँ,
दूर गए मन-मोहक सपने
जो थे आभा के आगार;
किन्तु सोचता था मैं जब यह
लौट सभी तो वे आए,
उन्हें लिखा था सुन्दरता ने
अपने बल से पुनः पुकार !

प्रयोग]

❀ एलेक्जान्डर पुश्किन की कविता का अनुवाद ।

हमारी आवश्यकताएँ

बनारसीदास चतुर्वेदी

हिन्दी पत्रकारों के प्रश्न अनेक हैं और उनकी गम्भीरता भी दिन-पर-दिन बढ़ती जाती है। जो लोग हिन्दी पत्रकार-कला के स्टैण्डर्ड को ऊँचा रखना चाहते हैं और साथ ही पत्रकारों के गौरव को भी बढ़ाना चाहते हैं वे अब इन प्रश्नों की उपेक्षा नहीं कर सकते। यहाँ एक साधारण पत्रकार की हैसियत से अपनी व्यक्तिगत सम्मति हम इन प्रश्नों पर देना चाहते हैं। पत्रकार-संघ की सामूहिक सम्मति से उसका कोई सम्बन्ध नहीं।

कोई भी संस्था तब तक सजीव नहीं बन सकती, जब तक कि उसके लिये नित्यप्रति खपने वाले कुछ व्यक्ति न हों। दुर्भाग्य से हमारे पत्रकारसंघों ने अभी तक एक भी ऐसा व्यक्ति उत्पन्न नहीं किया, जो अपना सम्पूर्ण समय पत्रकारों के संगठन में लगा दें। अतएव

हमारी पहली आवश्यकता है

किसी ऐसे व्यक्ति की तलाश, जो तन-मन से इस कार्य में जुट जाय और जिसके सम्मुख इसके सिवाय दूसरा कोई लक्ष्य ही न हो। हम लोगों का यह कर्तव्य होना चाहिये कि उस व्यक्ति की आर्थिक समस्या को हल कर दें। आज की हालत को देखते हुए सवा-सौ रुपये महीने से कम पर कोई साधारण योग्यता का व्यक्ति भी नहीं मिल सकता और सो भी तब जब उसके लिये दो कमरों का प्रबन्ध कर दिया जाय। इसके सिवाय पत्र-व्यवहार के लिये पच्चीस रुपये और यात्रा इत्यादि के लिये तीस रुपये मासिक का इन्तजाम और करना होगा। इसका अर्थ यह हुआ कि हमें पच्चीस सौ रुपये प्रतिवर्ष का प्रबन्ध करना होगा।

आज की स्थिति यह है कि केन्द्रीय संस्था के पास केवल चात्तीस सदस्यों का पहुँचा है और आठ-दस पत्रों ने अपने को सम्बद्ध कराया है। जब हमारे युक्त-प्रांत तथा बिहार के प्रान्तीय संघ भी सम्बद्ध हो जायँगे तो उनसे हमें अंदाजन सौ-सवा सौ रुपये प्रतिवर्ष की आय और हो जायगी। पत्रों को सम्बद्ध कराना आसान काम नहीं। संचालक लोगों को शायद इसमें अपना कोई स्वार्थ नहीं दीखता। उनके मन में यह भ्रम होना स्वाभाविक है कि अन्ततोगत्वा यह संस्था श्रमजीवी पत्रकारों की बन जायगी और श्रमजीवी पत्रकारों को संचालकों से आर्थिक सहायता की आशा भी न करनी चाहिये। ऐसी परिस्थिति में दो सौ रुपये महीने का प्रबन्ध कहाँ से किया जाय ?

दूसरा प्रश्न

हमारे सामने यह है कि क्या अब पत्र-संचालक और श्रमजीवी पत्रकार एक ही संस्था में रह सकते हैं ? अपने पिछले अनुभव के आधार पर हम कह सकते हैं कि समय की गति को देखते हुए इन भिन्न दिशाओं में भागने वाले अश्वों को एक ही रथ में नहीं जोता जा सकता। समझौते की नीति थोड़ी दूर तक ही कारगर हो सकती है और जब आर्थिक हितों में संघर्ष चलने लगता है तब मालिकों और श्रमजीवियों का एक ही संस्था के सदस्य रहना असम्भव समझिये। यद्यपि हमारे संघों की नीति अब तक सामंजस्य की ही रही है, पर अब ऐसा स्पष्ट प्रतीत होने लगा है कि यह नीति व्यवहार-योग्य नहीं। जो पत्र-संचालक पत्रकारों के साथ मनमाना बर्ताव करते हैं, वे ही कभी-कभी संघ के प्रतिष्ठित पदों पर बैठे हुए नज़र आते हैं ! जो अर्थ अथवा शक्ति के

मद में चूर हैं, उनसे आन्दोलन की मासिक पत्रिकाओं की सहायता नहीं हो सकती और न सब प्रकार की कब तक भाईचारा चल सकता है ?

पत्रिका :

श्रमजीवी पत्रकारों के प्रश्नों पर डट कर आंदोलन करने के लिये एक मासिक अथवा पाल्ति पत्रिका या बुलेटिन की सख्त जरूरत है। इसके लिये भी कम-से-कम एक हजार रुपये वार्षिक की आवश्यकता है, पर हमारा ख्याल है कि पत्रिका के अभाव की आंशिक पूर्ति हम लोग लेखों के रिप्रिन्ट्स लेकर कर सकते हैं। पत्रकारों के प्रश्नों से सहायुभूति रखने वाले कई ऐसे पत्र चुने जा सकते हैं, जो हमारे लेखों के दो सौ-ढाई सौ रिप्रिन्ट्स दे दें। उनकी मदद से आंदोलन आगे बढ़ाया जा सकता है। आगे चल कर सुविधा होने पर बुलेटिन निकाली जा सकती है।

मजदूर आंदोलन में भाग :

इन सबसे अधिक आवश्यक है गम्भीर चिंतन तथा विवेकपूर्ण नेतृत्व। अपनी कमजोरियों को स्वीकार करने के लिये और उन्हें दूर करने के लिये भी हमें सदा उद्यत रहना चाहिये। अपनी वास्तविक स्थिति की समझ लेने की जरूरत है। हम लोग एक महान देश में, सैकड़ों मील के अंतर पर छितरे हुए पड़े हैं और साल भर में एक बार भी मिलना हमारे लिये मुश्किल हो जाता है। ऐसी परिस्थिति में हमारा उद्धार तभी हो सकता है, जब कि हम स्थानीय मजदूर-संघों के साथ मिलजुल कर काम करें। श्रमजीवी पत्रकार का यह आवश्यक कर्तव्य है कि वह मजदूर आंदोलनों में कुछ-न-कुछ भाग अवश्य ले। इसी में उसका स्वार्थ है, इसी में उसका परमार्थ।

वास्तविक स्थिति का विश्लेषण :

पहले तो हमें धूम-धूम कर, मिलजुल कर और पत्र-व्यवहार द्वारा अपने बन्धुओं की स्थिति के विषय में तथ्य और थ्रंक इकट्ठे करने हैं। हमारा विश्वास है कि हम सब संचालकों को एक

श्रमजीवी नाम के अधिकारी सिद्ध हो सकते हैं। क्या इस बात से इनकार किया जा सकता है कि हममें से कितने ही व्यक्ति वायू मनोवृत्ति के हैं, जिनकी श्रमजीवी आंदोलनों के प्रति कुछ भी रुचि नहीं, जो अपनी जीविका को कभी भी खतरे में नहीं डाल सकते और जो पच्चीस-पचास रुपये की वेतन-वृद्धि पर अपने को किसी भी पूँजीपति को बेच सकते हैं ?

असली सवाल

यह है कि क्या हम लोग अभी इस स्थिति में हैं कि संचालकों से संघर्ष प्रारम्भ कर दें ? अभी हमारे यहाँ कितने ही बन्धु ऐसे हैं, जो अपना वेतन बतलाने में भी संकोच करते हैं ! कितने पत्रकार ऐसे हैं जो अपने कार्यालयों की असली हालत का कच्चा चिट्ठा लिख भेजें ? जिनको अब अपेक्षाकृत अच्छा वेतन मिलने लगा है, क्या वे छुटभइयों की सहायता के लिये कुछ विशेष उद्योग करते हुए दीखते हैं ? अनुभव तो बिल्कुल उल्टा हो रहा है और मानसिक स्वाधीनता के लिये अपनी जीविका को खतरे में डालने वालों की संख्या तो नगण्य ही समझिये।

हमारे जो बन्धु दरअसल अत्याचार के शिकार होते हैं उन्हें भी वास्तविक स्थिति का पता नहीं है। जिस संघ के वे दो रुपये वार्षिक वाले सदस्य भी नहीं हैं, उससे यह उम्मेद करना कि वह हमारे लिये फौजदारी करता फिरेगा, कहाँ तक न्याय-संगत है ? आंदोलनों के संचालन में कितने समय, शक्ति और पैसों का व्यय होता है, इसे भुक्त भोगी ही जानते हैं। हम भले ही यह कहते फिरें कि विलायत में यह हुआ, वह हुआ, पर केवल इसीसे हमारे प्रश्न हल नहीं होने के। हमें यह भी तो देखना है कि विलायती श्रमजीवी पत्रकारों ने अपने को किस प्रकार खपाया था। किस तरह अपनी संस्थारूपी पौधे को खून को पसीना बना कर सींचा था और मासिक चन्दे के रूप

में वे कितना अपने संघ के पक्ष में हैं? क्या आप संघ से साढ़े दस पैसे महीने देकर आप संघ से क्या क्या सेवाएँ लेना चाहते हैं?

दोनों बातें साथ-साथ नहीं चल सकती। एक ओर तो हम श्रमजीवी की हैसियत से पूँजीवाद का विरोध करें और पूँजीपतियों का विनाश चाहें और दूसरी ओर उन्हीं पूँजीपतियों के सामने हाथ पसार कर अपने संघ के संचालनार्थ मदद लें! क्या श्रमजीवी पत्रकारों का उद्धार वे लोग कर सकेंगे, जो स्वयं अपने पत्रों में पूँजीवाद का विरोध करना तो दूर रहा, स्वयं अपने पत्रकार-आंदोलन को नहीं चला सकते? उनकी शुभ लेखनी से छूटे-छमाहे एक नोट भी तो इस विषय पर नहीं निकलता। जो कुछ भी हम करें, उसमें स्पष्टवादिता तथा ईमानदारी रहनी चाहिये। यदि कोई पत्रकार यह कहे—“वर्तमान स्थिति में हम कमजोर हैं। इसलिए अभी हमें मेलजोल की नीति से काम लेकर पूँजीपतियों से अपने विकास के लिये यथाशक्ति और यथासम्भव सहायता ले लेनी चाहिये। और जहाँ तक हो सके, अना-वश्यक संघर्ष से अपने को बचना चाहिये। मौजूदा हालत में समझौते की नीति ही व्यावहारिक है।”—तो हम उसकी स्थिति को समझ सकते हैं। अथवा यदि कोई दूसरा पत्रकार कहे—“हमें तो पूँजीवाद तथा पूँजीपतियों का विनाश करना है और चाहे हमारे पत्र दो दो पृष्ठों के ही क्यों न निकलें, हमें तो हर हालत में संघर्ष मोल लेना है। वेतन का प्रश्न हमारे लिये गौण है, स्वाधीनता का मुख्य।”—तो उसका दृष्टिकोण भी हमारी समझ में आ सकता है, पर बुद्धिजीवी वन्धुओं की-सी मनोवृत्ति तथा श्रमजीवी मजदूरों के नारे बिल्कुल बेमेल चीजें हैं और उनसे हमारा दम्भ ही प्रकट होगा।

अपनी नुटियों और आवश्यकताओं का यह सार्वजनिक विवेचन हमने इस उद्देश्य से किया है कि हम लोग आत्मचिंतन कर अपने लिये उचित मार्ग का निर्देश कर सकें।

नुटियाँ हैं। कितने ही उनमें ऐसे हैं, जिन्होंने सर्वथा अनैतिक उपायों से धन का संचय किया है, जो अपनी प्रारम्भिक स्थिति को बिल्कुल भूल गये हैं और जो स्वेच्छा पूर्वक कर्मी भी न्याय नहीं कर सकते। कुछ ऐसे भी हैं, जिनकी मनोवृत्ति पूँजीपतियों की-सी है, पर जो वक्तन-फवक्तन राष्ट्रीयता के घटाटोप का आश्रय लेते हैं। और उनके विषय में हम क्या कहें, जिन्होंने युद्ध में अपने पत्रों द्वारा काफी मुनाफा उठाया है, पर अपने अधीनस्थों की वेतन-वृद्धि के समय जिनकी नानी अवस्थ हो गई है? (अहिंसावादी होने के कारण हम उनकी नानी को मार डालने के पक्ष में नहीं हैं।) हम मानते हैं और जानते हैं कि पत्र-संचालकों में एक हजार और एक दोष हैं, फिर भी हमारा अनुरोध यही है कि हम अपनी शक्ति का अन्दाज लगा कर उनसे संघर्ष मोल लें। हमारे यहाँ ऐसे व्यक्ति भी विद्यमान हैं, जो पत्रकार-आंदोलन के शुभ परिणामों को भोगने के लिये सर्वथा उद्यत हैं, पर जो उक्त आंदोलन के लिये एक पैसा भी खर्च नहीं करना चाहते। एक बात निर्विवाद है। वह यह कि पत्रकार संचालक संघर्ष में हमें सबसे अधिक सहायता उन छुटभइयों से ही मिल सकती है, जो अपनी नौकरों को चाहे जब खतरे में डाल सकते हैं। जिन्हें अचछा वेतन मिलने लगा है, उनका मॉडरेट बन जाना सर्वथा स्वाभाविक है। जहाँ तक प्रचारकार्य का सम्बन्ध है, समानशील श्रमजीवी पत्रकारों के सहयोग के आधार पर स्थापित पत्र ही उसमें हमारी सबसे अधिक मदद कर सकता है। अन्य पत्र एकाध लेख ही कभी-कभी छाप सकते हैं, निरंतर आंदोलन चलाना उनके लिये प्रायः असम्भव है। एक बात और भी है, वह यह कि कितने ही व्यक्तियों की सम्मति में पूँजीपतियों का इस क्षेत्र में प्रवेश सर्वथा हानिकारक ही नहीं है, उससे कुछ लाभ भी है। दो पूँजीपति पत्र-संचालकों की प्रतिद्वन्द्विता में पत्रकारों का वेतन तो बड़ ही जाता है।

पत्र-संचालकों की मनेवृत्ति, पूँजीपतियों का इस क्षेत्र में प्रवेश इत्यादि अनेक बातों ने हमारे प्रश्नों को काफी पेचीदा बना दिया है और सब परिस्थितियों तथा सब प्रकार के आदमियों के लिये कोई एक नीति निर्धारित नहीं की जा सकती। अन्त में हमें व्यक्तिगत रुचि और तदनुसार निर्मित छोटे-छोटे समूहों पर ही निर्भर रहना होगा। संक्षेप में हमारी सम्मति यह है :—

१. अपने को श्रमजीवी कहने वाले पत्रकारों को अन्य मजदूर-संघों के लिये कुछ काम करना चाहिये, ताकि वक्त पड़ने पर वे भी पत्रकारों की सहायता कर सकें।

२. श्रमजीवी पत्रकारों तथा पत्र-संचालकों के संगठन अलग-अलग होने चाहिये।

३. दो-तीन व्यक्ति तो ऐसे होने चाहिये, जो पत्रकार-संगठन के कार्य को अपने जीवन का प्रधान लक्ष्य ही बना लें। ऐसे व्यक्तियों की जीविका के लिये शेष पत्रकारों को भरपूर प्रयत्न करना चाहिये।

४. जब तक अपनी पत्रिका निकालने का अवसर नहीं आता तब तक रिप्रिन्ट्स लेकर ही काम चलाना चाहिये।

५. हमें कार्य के विभाजन की नीति से काम लेना चाहिये। जो लोग पैसा दे सकें, उनसे पैसा लेना चाहिये, जो नैतिक सहायता, उनसे नैतिक सहायता और जो लेख द्वारा मदद दे सकत हैं, उनसे लेख ही ले लेने चाहिये। जो लोग यह विश्वास करते हैं कि हम सरकारी अथवा पूँजी-पतियों की मदद से पत्रकारों के लिए रचनात्मक कार्य कर सकत हैं, यथा ग्रन्थ-निर्माण, पत्रकार-विद्यालय की स्थापना इत्यादि, उन्हें वैसा करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिये। हमें यह बात न भूलनी चाहिये कि पत्रकार-वृत्ति वर्कालों के पेशे की तरह होती जा रही है और इस परिस्थिति में हमें अधिक आदर्शवाद की उम्मीद ही न

टीकमगढ़]

यह कि सभी प्रकार के पत्रकारों को एक सूत्र में बाँध देना उतना ही मुश्किल है, जितना भानुमती के कुनवे की और रोड़ों से भवन का निर्माण करना !

हमारी जिम्मेवारी :

हिन्दी पत्रकारों की जिम्मेवारी सबसे ज्यादा है, क्योंकि हमारी मातृभाषा ही राष्ट्रभाषा है। हमें ऐसे आदर्श उपस्थित करने चाहिये, जो प्रान्तीय भाषाओं के लिए पथ-प्रदर्शक हों। कुछ पत्र तो हमारे यहाँ ऐसे होने ही चाहिये, जो आदर्शवादित्व तथा प्रभाव में विलायत के ऊँचे-से-ऊँचे पत्रों का मुकाबला कर सकें। हमारे सामने मुख्य सवाल यह नहीं कि हमारे पत्रों की ग्राहक-संख्या किस तरह लाखों पर पहुँचे, बल्कि यह है कि बालकृष्ण भट्ट, महावीर प्रसाद द्विवेदी और गणेशशंकर विद्यार्थी के आदर्शों की रक्षा हम किस प्रकार कर सकते हैं ?

अपने सिद्धान्तों पर अटल रहने वाले एक रामानन्द चट्टोपाध्याय का गौरव सहस्रों व्यापारिक वृत्ति वाले पत्रकारों से कहीं ज्यादा है। अकेले सी० पी० कॉट की वजह से 'मैनेचेस्टर गार्जियन' का महत्त्व संसार के सर्वश्रेष्ठ पत्रों से भी ज्यादा था। जब हिन्दी पत्रकारों की परीक्षा का समय आवेगा उस समय मुख्य प्रश्न ये होंगे :—

१. हिन्दी पत्रकारों ने कौन कौन उच्च आदर्श पत्रकार जगत् के लिये उपस्थित किये हैं ?

२. इस भूमि के भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों या श्रेणियों में पारस्परिक सौहार्द स्थापित करने के लिए उन्होंने क्या-क्या प्रयत्न किये हैं ? अन्तर्प्रान्तीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय एकता के लिये क्या-क्या कोशिशें की हैं ?

३. और सबसे अधिक आवश्यक यह है कि हिन्दी-पत्रकारों ने नवीन सामाजिक व्यवस्था लाने के लिये, जिससे इस महादेश के गरीब किसान और मजदूर भरापूरा जीवन व्यतीत कर सकें, क्या-क्या उद्योग किये हैं ?

क्या हम इस कठिन परीक्षा में उत्तीर्ण हो सकेंगे ?

गुन्देलखण्डी कहानी—

यार का पूत भरतार खिलावे

श्री शिवसहाय चुर्वेदी

किसी राजा के तीन रानियाँ थीं। उनमें से छोटी बहुत सुन्दर थी। राजा तीनों रानियों के पास चार-चार महीने पारी-पारी से रहता था। सब के जुदे-जुदे महल थे। एक बार राजा जब बड़ा रानी के पास रह रहा था, रात के समय शहर घूमने निकला। घूमते-घूमते वह छोटी रानी के महल के पास जा पहुँचा। उसने सोचा कि चलो, कुछ समय छोटी रानी के पास बैठते चलें। उसने जाकर दरवाजा खटखटाया। कहा—“रानी, किवाड़ खोलो।” उस समय छोटी रानी महल में पहरेदारों के जमादार के साथ चौपर खेल रही थी। सहसा राजा की आवाज सुन कर वह सहम कर रह गई। काटो तो खून नहीं! छोटी रानी का चरित्र ठीक न था। ‘नाना के नौ सासरे’ वाली कहावत उसके लिए पूर्ण रूप से घटित होती थी। राजा को आया जान उसने जमादार को फट चटाई में लपेट कर कोने में टिका दिया। किवाड़ खुल। हो राजा भातर पहुँचा। किवाड़ खुलने में विलम्ब होने और कुछ दूसरे साजवाज का देख कर राजा के मन में सन्देह हो गया कि कुछ दाल में काला है। जमादार डर के मारे धर-धर काँप रहा था। उसके काँपने से चटाई हिल रही थी। उसे देख कर राजा ने पूछा—“रानी, यह चटाई क्यों हिल रही है?” रानी ने बात बना कर उत्तर दिया—उधर खिड़की से हवा आती है। शायद उसीसे हिलती हो।”

रानी के उत्तर से राजा को सन्तोष न हुआ। उसने उठ कर चटाई में जोर से एक लात जमाई। चटाई ढुलक कर नीचे गिर पड़ी। साथ ही उसमें से जमादार साहब निकल पड़े। राजा की आँखें लाल हो गईं। रानी सिटपिटा कर रह गई। राजा

ने जमादार को एक लात जमा कर कहा—“क्यों वे कमीने, तेरी यह हरकत! चल, यहाँ से काला मुँह कर।” जमादार उठ कर अपनी चौकी में चला गया। उसके जी-में-जी आया। सोचा, काल के मुँह से निकल कर आया हूँ। जान बची लाखों पाये। फिर ख्याल आया कि अभी छोड़ दिया तो क्या हुआ, कल न जाने क्या करे! कोल्हू में पिरवा दे, या शूली पर लटका दे! चिंता के मारे उसकी एक-एक घड़ी वर्ष-सी कटने लगी। फिर उसने अपने मन को समझाया कि कल की कल देखी जायगी। लोग कहा हैं कि अनी चूकें सौ वर्ष की म्याद। सो उस समय तो मेरी अनी टल गई। आगे की राम जाने। फिर राजा ने रानी की ओर रुख बदला। रानी नाची निगाह करके रह गई। राजा का क्रोध कम न हुआ। उसने तलवार निकाल कर उसका सिर काट लिया और कटा सिर हाथ में ले बड़ा राना के महल को लौट आया।

दूसरे दिन सबेरे राजा ने छोटी रानी का धड़ एक पलंग पर नगर के बाहर चौराहे पर रखवा दिया। चार पहरेदार तैनात कर दिये। उनसे कहा—“तुम लोग चुपचाप खड़े-खड़े सुनो कि इसकी बात कौन क्या कहता है और शाम को सब हाल बताओ।”

रानी की लाश देख कर सब लोग चुपचाप चले जाते। राजा के डर से कुछ न कहते। संध्या के समय एक साहूकार की चार लड़कियाँ टहलने को निकलीं। लाश को अच्छे तरह देख कर एक बोली—“इस रानी को पान खाने का बड़ा शौक था।” दूसरी बोली—“पान खाने का शौक तो

था ही, पर इसे मिरसी लगाने का बड़ा शौक था। तीसरी बोली—“यह सब ठीक, पर इसे अपने बाल सँभालने का बड़ा ख्याल रहता था।” चौथी और छोटी बोली—“इसे काजल लगाने का बड़ा शौक था। पर रानी जैसी शौकीन थी, वैसी उसमें बुद्धि न निकली। स्त्री चुराई से काम ले तो उसके चरित्र को पुरुष की तो मजाल क्या, विधाता भी नहीं जान सकता। इसने किया, पर कर न जाना। मैं होती तो करके बताती।” अपनी-अपनी बात पर कह कर चारों लड़कियाँ चली गईं।

इधर रात को पहरेदारों ने साहूकार की बेटियों की सब बातचीत राजा को सुनाई। सबरे राजा ने साहूकार की चारों बेटियों को बुला कर पूछा—“जिस लाश को तुमने देखा था उसमें सिर तो था ही नहीं। फिर तुम ने यह कैसे जाना कि उसे पान खाने का बड़ा शौक था?” बड़ी बेटी बोली—“महाराज, मैंने ऐसे जाना कि वह जो वेशकीमती साड़ी पहने थी, उसके छोर पर पान के दाग लगे थे। जब ओठों के बाहर पान का रस आता था तो वह साड़ी के छोर से पोंछ लेती थी। इस कारण साड़ी में पान के दाग लग गये थे।” राजा ने दूसरी से पूछा—“तुम ने कैसे जाना कि उसे मिरसी लगाने का शौक था?” लड़की ने जवाब दिया—“उसके एक हाथ की उँगली मिरसी लगाते-लगाते काली पड़ गई थी। उसे देख कर मुझे मालूम हुआ कि उसे मिरसी लगाने का शौक था।” तीसरी से पूछा—“तुम ने कैसे जाना कि उसे बाल सँभालने का बड़ा ख्याल रहता था?” उसने उत्तर दिया—“रानी जो चोली पहिने थी उसकी जेब में कंधी और आइना रक्खा था। इससे मैंने जाना कि उसे बाल सँभालने का शौक था।” राजा ने साहूकार की छोटी लड़की से पूछा—“तुम ने कैसे जाना कि उसे काजल लगाने का शौक था?” छोटी लड़की बोली—“महाराज, यह जानना कौन बड़ी बात है। स्त्रियों के रंग-डँग स्त्रियाँ ही जानती

काजल के दाग थे। काजल लगाने समय जब काजल की रेख मोटी हो जाती थी तब वह उस ख्याल से पोंछ कर उसे पतली बनाती थी।” कह कर साहूकार की चारों लड़कियाँ अपने-अपने घर चली गईं।

राजा को मालूम हुआ कि छोटी लड़की बहुत चतुर है। उसने सोचा कि उसके साथ शादी करके देखें कि वह क्या करके दिखाती है। कुछ दिन बाद राजा ने साहूकार को बुला कर कहा—“तुम अपनी छोटी लड़की की शादी मेरे साथ कर दो।” साहूकार बोला—“महाराज, आप क्या कह रहे हैं? कहाँ आप राजा-महाराजा और कहाँ मैं दो कौड़ों का दुष्टपुँजिया महाजन। कहां हाथी के पलान गधों पर लदते हैं?” राजा बोला—“सैठ जी, तुम इस बात की चिन्ता मत करो। ब्याह में दोनों तरफ से जो खर्चा होगा, मैं दे दूँगा। पर विवाह तुम को करना पड़ेगा।” साहूकार ने मन में विचार किया कि यह तो परत की बात है। कानी कौड़ो खर्च न होगा और मैं मुफ्त में राजा का ससुर बन जाऊँगा। हर जगह मेरी धाक जम जायगी। राजा कहता है तो मन्जूर कर लेना चाहिये। बेंचारे को क्या मालूम कि राजा के पेट में गुड़ा है! उसने अपनी छोटी बेटी का ब्याह राजा के साथ कर दिया।

राजा ने तालाब के बीच में एक सुन्दर महल बना कर उसमें साहूकार की बेटी को रख दिया। जाने का केवल एक मार्ग था। उस पर पहरेदार रख दिये और फाटक की चाबी अपने पास रख ली। राजा दो-चार दिन में जब उसकी इच्छा होती, फाटक खोल डोंगी पर सवार हो उससे खड़े-खड़े मिल आता था। इस तरह बहुत दिन बीत गए। एक दिन राजा ने साहूकार की बेटी के पास जाकर कहा—“छोटी रानी, तू ने कहा था न कि ‘इसने किया पर कर न जाना। मैं होती तो करके दिखाती’।

अब करके दिखा ।” रानी ने जवाब दिया —
 “राजा साहब, इतने उतावले क्यों होने हो । समय मिलने दो । मैं आपको अवश्य करके दिखाऊँगी ।”
 रानी का खरा उत्तर सुन कर राजा विपका-सा घूँट पीकर रह गया ।

रानी तालाब वाले महल के सतखण्डा पर बैठ चारों ओर का दृश्य देख कर अपना मन बहलाया करती थी । एक दिन उसने देखा कि एक लाखा बंजारा आकर तालाब के पास वाले मैदान में ठहर गया है । एक दिन उसने बंजारे को तालाब में नहाते देखा, अच्छा भरा-पूरा सुन्दर जवान था । वह उसे देख कर मोहित हो गई । उसने एक पतंग पर प्रेम-पत्र लिख कर उससे प्रार्थना की कि मैं तुम को बहुत स्नेह करती हूँ । कोशिश करके मुझे यहाँ से ले चलो । मैं तुम्हारे साथ चलने को तैयार हूँ ।” उसने सतखण्डा परसे पतंग उड़ा कर टाँडे के नायक के पास गिरा दी । नायक ने पतंग पर का लेख पढ़ा । पढ़ कर उसने टाँडे वालों को तुरन्त आज्ञा दी कि इस नगर में रह कर कुछ व्यापार करो । यहाँ मैं कुछ दिन रहूँगा ।

एक दिन नायक परदेश की कुछ बहुमूल्य चीजें भेंट लेकर राजा से मिलने गया । भेंट की वढ़िया और कीमती चीजें पाकर राजा उससे बहुत प्रसन्न हुआ । नायक हर दूसरे-तीसरे दिन राजा से मिलने जाने लगा । धीरे-धीरे राजा से इसकी गहरी मित्रता हो गई । नायक दो-तीन दिन तक राजा से मिलने न जाता तो राजा को चैन न पड़ती थी । वह स्वयं उससे मिलने के लिए उसके डेरे पर आ जाता था । इसी दरम्यान नायक ने चतुर कारीगरों को बुला कर अपने डेरे के भीतर से तालाब वाले महल को जाने के लिए एक सुरंग बनवाई । इस सुरंग की राह से रानी नायक के डेरे में आने-जाने लगी । इन दोनों का प्रेम बढ़ गया । रानी कभी-कभी रात को नायक के डेरे पर ही रह जाती थी । कुछ दिन पश्चात् रानी

राजा साहब कभी कभी अपनी छोटी रानी के पास उसकी देख-रेख रखने के लिए जाया करते थे । एक दिन इन्होंने फिर कहा — “छोटी रानी, अभी तक तुम ने कुछ करके नहीं दिखाया ?” रानी बोली — “धीरज धरो, महाराज । बन सकेगा तो करके दिखा दूँगी ।” राजा जब जाने लगा तब उसने कहा — “आप बड़े निष्ठुर हैं महाराज । मेरी कभी किसी तरह की सुधि नहीं लेते । अकेले मेरा वक्त नहीं कटता है । आप अपनी कोई वस्तु देने जाइये । मैं उसी को देख-देख कर अपना मन बहलाऊँगी ।” राजा ने अपनी अंगूठी उतार कर उसे दे दी और चला गया ।

रात के समय रानी सुरंग के रास्ते से नायक के डेरे में पहुँची । घण्टे-दो-घण्टे बैठ कर उसने राजा की अंगूठी नायक को देकर कहा — “कल तुम इस अंगूठी को पहिन कर राजा से मिलने जाना । पर वापिस आने ही तुरन्त मेरे पास भेज देना ।” रानी चली गई ।

दूसरे दिन टाँडे का नायक राजा की अंगूठी पहिन कर राजा से मिलने गया । राजा ने स्वागत करके उसे बैठाया । पान-मुपारी खिलाई । इसी समय राजा की नजर अंगूठी पर पड़ी । वह बड़े ध्यान से देर तक उसे देखता रहा । उसकी बुद्धि चकरा गई । वह सोचने लगा कि यह अंगूठी तो मेरी है । इसे मैं कल ही छोटी रानी को दे आया था । यह इसके पास कैसे पहुँची ! फिर मन को बदला । सोचा — व्यापारी ठहरा । इसके पास अनेकों अंगूठियाँ होंगी । कई चीजें रूप रंग में एक-सी बन जाती हैं । थोड़ा देर बाद नायक कचहरी से उठ कर अपने डेरे को चला गया । लौटते ही तुरन्त सुरंग के रास्ते जाकर अंगूठी रानी को दे आया । इधर राजा को तसल्ली न हुई । उसने सोचा कि छोटी रानी के पास जाकर देखना चाहिए कि उसके पास अंगूठी है या नहीं । वह झट तालाब पर

पहुँचा और डोंगी पर बैठा कर ले गया। देखा कि रानी अँगूठी पहिने पलंग पर लेटी है। राजा को आता देख रानी उठ खड़ी हुई। बोली—“सरकार का आज असमय कैसे आना हुआ ? हमारा धन्य भाग ! आइये, पधारिये।” राजा ने अपने भावों को दबा कर कहा—“कुछ नहीं, ऐसे ही चला आया। तुम ने कहा था न कि मुझे अकेले अकेले बुरा लगता है। मैंने सोचा कि एक बार देख आऊँ।” रानी बोली—“बड़ी कृपा की !” जब राजा जाने लगा तो रानी बोली—“महाराज, आप अपने जूते मुझे देते जाइए। आपके चरणों की सेवा करने का अवसर नहीं मिलता है तो मैं आपके इन जूतों की सेवा करके ही अपने को धन्य समझूँगी।” राजा ने अपने जूते दे दिये और चला गया।

दूसरे दिन रानी ने नायक को राजा के जूते देकर कहा—“आज आप इन्हें पहिन कर राजा से मिलने जाना।” नायक उन जूतों को पहिन कर कचहरी गया। राजा से उसकी बातें होने लगीं। इतने में राजा की नजर जूतों पर पड़ी। सोचा—अरे, यह क्या ! यह जूते भी तो मेरे हैं। कल मेरी अँगूठी इसकी अँगूठी से मिलती थी। आज ये जूते ठीक मेरे जैसे मालूम पड़ते हैं ! यह माजरा क्या है। अपने जूते तो मैं छोटी रानी के महल में रख आया हूँ। इसे कैसे मिल सकते हैं ! राजा अपने मन को बहुतेरा समझाता, पर सन्तोष न होता। नायक के जाने पर वह तुरन्त छोटी रानी के महल में गया। देखता क्या है कि जूते एक चौकी पर रखे हैं और उन पर दो-चार फूल चढ़े हुए हैं। राजा ने सन्तोष की साँस ली। सोचा कि मुझे झूठा भ्रम हो गया था। मैं व्यर्थ शक कर रहा था। राजा लौटा चाहता था कि रानी ने उठ कर कहा—“आपकी दया दृष्टि मेरे ऊपर इन दिनों विशेष रूप से बढ़ गई है। जब से आपने मुझे अपनी कुछ चीजें दी हैं तब से आप रोज ही

आप अपनी पोशाक साफा, कलैंगी, अंगरखा की पोशाक को देख कर ही अपना मन बड़ा लाऊँगी।” राजा अपनी कुल पोशाक उतार कर रानी को दे गया।

अगले दिन नायक राजा की पूरी पोशाक पहिन कर पहुँचा। आज तो राजा के आरक्षकों का ठिकाना न रहा। वह मन-ही-मन कहने लगा कि यह अजीब गोरखधन्धा है। यह सारा पोशाक की पोशाक ही मेरी है। टाँडे के नायक को यह कहाँ से और कैसे मिली ! नायक जाने पर राजा फिर छोटी रानी के महल में पहुँचा। देखा, पोशाक जहाँ टाँगी गई थी वहाँ टाँगी है। जूते बाजौट पर रखे हैं। राजा हैत में भर कर रानी के पलंग पर बैठ गया। कुछ समय मौन रहने के बाद रानी से कहने लगा—“छोटी रानी ! तालाब की पार पर एक टाँडा ठहरा है। उसका नायक आज मुझ से मिलने गया था। उसे देख कर मुझे बड़ा ताज्जुब हुआ कि उसकी पूरी पोशाक हमारी जैसी थी।” रानी ने हँस कर कहा—“यह क्या कहते हैं, राजा साहब ! किसी दिन यह न कहने लगना कि नायक की स्त्री ठीक मेरी स्त्री के समान है।” राजा ने लज्जित होकर कहा—“यह कोई बात नहीं, रानी। हमारा उसकी कई चीजें बिल्कुल एक सी मिलती हैं।” राजा तुरन्त घर लौट आया।

इसी तरह कई महीने बीत गये। रानी गर्भवती थी। उसके नवे महीने एक सुन्दर बालक पैदा हुआ। रानी सुरंग के रास्ते नायक के ऊरे में पहिले ही पहुँच गई थी। चुरा दाइयों ने आकर बच्चा जनाया। धाय का प्रबन्ध करके रानी महल लौट आई। दिन-रात में एक-दो बार नायक के ऊरे में जाकर वह बच्चे को दूध पिला आती थी। धीरे-धीरे बच्चा पाँच-छः महीने का हो गया। एक दिन बंजारे ने कहा—“यहाँ ठहरे मुझे लगभग दो बरस हो गए। अब

मैं अपने बदन को जाना चाहती हूँ। तुम अपने चलने की तैयारी कर लो।” रानी बोली—“मैं चलने को तैयार तो हूँ, पर इसके पहले तुम एक बार राजा का निमन्त्रण करो। मैं रसोई बना कर आप दोनों को परोसूँगी। इसके बाद चलने की तोचनी जायगी।”

नायक राजी हो गया और उसने जाकर राजा साहब से कहा—“सरकार, आपकी सेवा में रहते मुझे बहुत समय बीत गया। अब मैं अपने देश जाने की तैयारी कर रहा हूँ। इसके पहले एक दिन सरकार मेरे डेरे पर चल कर सूखा-रूखा भोजन कर लेते तो मुझे बड़ा सन्तोष होता।” राजा ने नायक का निमन्त्रण मन्जूर कर लिया।

इधर छोटी रानी महल से निकल कर सुरंग के रास्ते नायक के डेरे में जा पहुँची। उसने अपने महल के वासन मँगा लिए। रानी ने अपने हाथ से रसोई तैयार की। नायक राजा साहब को बुलाने गया। इधर रानी ने दो थाली तगा दीं। राजा साहब के आने पर वह और नायक भोजन करने बैठे। रानी परोसने के लिए लड़ी हुई। जब राजा की निगाह रानी पर पड़ी तो वह खाना भूल गया। मन में कहने लगा—“वह क्या गजब है! यह तो मेरी रानी है। वहाँ कैसे आ गई? यह कैसा विचित्र संयोग है! नायक की बहुत-सी चीजें मेरी चीजों के समान हैं और उसकी स्त्री भी ठीक मेरी छोटी रानी जैसी है! रंग-रूप, चाल-ढाल, कपड़े लते, गजब सभी बातों में जरा भी तो फरक नहीं है! मेरी आँखें धोखा नहीं खाती हैं तो मैं यहाँ कहूँगा कि यह मेरी ही रानी है। लेकिन वह तो ताले के अन्दर सूतखण्डा में कैद है! वहाँ मेरे सिवा किसी की पहुँच नहीं! वह यहाँ आ कैसे सकती है? फिर उसने सोचा, पलना में बालक भूल रहा है। मेरी रानी ने तो अभी तक पुरुष का चेहरा भी नहीं देखा। नायक के बच्चा पैदा हो चुका है? वस फरक है तो सिर्फ इतना ही। अगर यह मेरी रानी है तो फिर बच्चा किस का

है? राजा संशय में पड़ गया। उसने खाना नहीं खाया गया। लिया-दिया थोड़ा सा खाकर उठ बैठा। रानी ने फट पान के बीड़े लगा कर तश्तरी में रख आगे बढ़ा दिये। नायक ने राजा को पान दिया। इसके बाद नायक ने पलने में से बच्चे को उठा कर राजा की गोद में रखते हुए कहा—“महाराज, यह आपका ही बच्चा है।” राजा ने उसे अपने-अपने दोनों हाथों से संभालते हुए उसे प्यार किया फिर अपने गले से एक सोने के तार में गुड़ी हुई मोतियों की माला उतार कर लड़के के गले में डाल दी। राजा ने कहा—“नायक, तुम्हारा बच्चा बड़ा सुन्दर है। अच्छा होनहार दीखता है।” नायक बोला—“महाराज, सब आपका आशीर्वाद है।” इसके बाद बच्चे को राजा की गोद में से उठा कर नायक ने कहा—“अरी कहाँ गई, इसे ले जा।” रानी आई और बच्चे को लेकर एक तरफ बैठ उसे दूध पिलाने लगी। राजा भी उठ कर बाहर गया।

रानी तो जानती ही थी कि राजा साहब मुझे देखने के लिए यहाँ से सीधे महल पहुँचेंगे। राजा के जाते ही वह फट लड़के को धाय के सुपुर्द कर सुरंग के रास्ते महल में जाकर पलंग पर लेट रही। राजा नायक के डेरे से उठ कर सीधा छोटी रानी के महल में पहुँचा। देखा, रानी पलंग पर पड़ी सो रही है। राजा के आने की आहट पाकर वह उठ बैठी। राजा अनमना होकर पलंग पर बैठ गया। कोई बात उसकी समझ में न आती थी। कुछ समय बाद राजा बोला—“रानी, आज मेरा निमन्त्रण नायक के यहाँ था। वहाँ मैंने एक विचित्र बात देखी। नायक की स्त्री ठीक तुम्हारे जैसी है।” रानी फट बोल उठी—“देखो महाराज, एक दिन मैंने कहा था न कि किसी दिन तुम यह न कह बैठना कि नायक की स्त्री मेरे समान है? आखिर वही बात हुई।” राजा बोला—“नहीं, यह कोई बात नहीं। मैंने देखा, नायक ठीक तुम्हारी जैसी है। यदि तुम और नायक एक

जगह बैठी होओ तो मैं पहचान न सकूँ।”
 रानी ने कुछ रुख बदल कर कहा—“नायकन के पास बैठने की मुझे क्या गरज पड़ी ! तुम्हारी उनकी दोस्ती है। तुम भले ही बैठो । मैं भला उसके पास क्यों जाने लगी ! कहाँ राजा भोज और कहाँ भुजुवा तेली !” राजा ने कहा—
 “तुम तो नाराज हो गईं !” रानी बोली—
 “नाराजी की बात ही है। तुम मेरी तुलना एक लमनियाँ से करते हो !” राजा रानी को संबोधन करके अपने महल को चला गया।

नायक ने चलने की तिथि निश्चित कर ली। सब सामान, टाँडा, बैल, खरीदी हुई व्यापार की चीजें आठ दिन पहले रवाना कर दीं। एक दिन पहले एक गाड़ी में बच्चे को लेकर धाय भी चली गई। केवल दो घोड़े और एक नौकर रह गया। छोटी रानी भी अपनी पूरी तैयारी कर चुकी थी। चलने के दिन नायक सुबह घोड़े पर बैठ राजा से मिलने गया। जाकर विदा माँगी। इतने दिनों में राजा का उससे बहुत स्नेह हो गया था। राजा बोला—“चलो, मैं भी तुम्हारे साथ चलता हूँ। कुछ दूर तुम्हें पहुँचा आऊँ। अब के बिछुरे तुम न जाने कब मिलोगे !” राजा भी अपने घोड़े पर सवार हुआ। राजा और नायक दोनों चले। डेरा के पास आने पर नायक बोला—“सरकार, मेरी लमनियाँ ॐ अभी डेरे में है। उसे भी साथ ले

ॐ लमनियाँ = लमाने की स्त्री। टाँडे वाले लमाने कहलाते हैं।

देवरी (सागर)]

लौं।” इशारा पाकर छोटी रानी भी घोड़े पर बैठ कर इनके साथ हो गईं। तीनों चलने लगे। राजा बार-बार देखता कि नायक की स्त्री छोटी मेरी छोटी रानी जैसी है। बेचारा क्या करे मन की बात मन ही में रख कर चला जा रहा था। ये लोग बहुत दूर निकल गये। नायक बोला—“सरकार, अब आप लौट जाइए। राजधानी के कई कोस दूर निकल आये हैं।” राजा आखिर लौट पड़ा। उसके मन में तो वह उधेड़-बुन जारी थी कि लमाने की स्त्री मेरी छोटी रानी जैसी दीखती थी। चल कर देखे कि वह महल में है या नहीं। राजा डोंगी पर बैठ महल पर पहुँचा। छोटी रानी चलने समय सदर दरवाजे पर एक तख्ती टाँग आती थी। उसमें मोटे अक्षरों में लिखा था :—

यार का पूत भरतार खिलावे,
 कोस दसक लौं सँग पठावे।
 काजर देय तो ऐसा देय,
 नातर * काजर कवहुँ न देय ॥

राजा तख्ती पढ़ कर सब समझ गया। दुःखित मन से घर लौट गया। मन में कहने लगा कि भेज तो खुद आये, अब कहैं किस से ! X

* नातर = नहीं तो, अन्यथा।

X यह कहानी पं० गोविन्द प्रसाद चौबे ने सुन कर लिखी गई है। चौबेजी मेरे चचेरे भाई हैं। देवरी में रहते हैं। उम्र ६५ साल की है। यह कहानी ११ जुलाई सन् ४६ की रात को कही गयी थी।—लेखक।

स्वीकृत

श्री जनार्दन प्रसाद 'वारिद' साहित्यरत्न

जीत यदि देना न चाहो,
देवि, तो यह हार ही दो।

सिद्धियाँ तुम दो न कोई
एक अपनी साधना दो,
एक क्षण भूलूँ न जिससे
प्रार्थना दो, अर्चना दो।

प्रीति यदि देना न चाहो,
तो अमर मनुहार ही दो।

जाँच लो हे देवि, मुझ को,
मैं तुम्हारा दास कैसा।

और तुम पर इस हृदय का
है प्रबल विश्वास कैसा।

दिया तेरा कब अस्वीकृत,
लो, अभी विपखार ही दो।
जीत यदि देना न चाहो,
देवि, तो यह हार ही दो।

तिरासी]

गणेश जी

श्री बालाप्रसाद वर्मा

नवम्बर सन् १९१६ में जब मैं मैकडोनेल हाई स्कूल भाँसी में पढ़ता था, बा० वृन्दावनलाल जी वर्मा ने पहले-पहल श्रीयुत गणेशशंकर विद्यार्थी जी से परिचय कराया था। जब कभी विद्यार्थी जी भाँसी स्टेशन से गुजरते थे, बा० वृन्दावनलाल जी वर्मा और श्रीयुत मैथिलीशरण जी गुप्त से अवश्य मिला करते थे और भाँसी में वह बा० वृन्दावनलाल के मकान पर ही ठहरते थे। जब-जब वह आते थे, उनकी अरदली में मुझे ही रक्खा जाता था। इसलिए उनसे खूब गप लड़ाने का मौका मिलता था। उन्हें सवेंरे धूमने का शौक था। विशेष कर जब भाँसी जाते तो सुबह वे नारायण बाग का अवश्य ही एक चक्कर लगाया करते थे। कभी-कभी बा० वृन्दावनलाल वर्मा भी, अगर मक्किलों की घेरावारी न होती तो, साथ हो लेते थे। दोनों में गोलमाल-कारिणी-सभा के कार्य के विषय में बड़ी मज्जेदार बातें हुआ करती थीं। मैं तो केवल श्रोता ही बना रहता था। हाँ कभी-कभी उनकी गहरी हँसी में कह कहे लगा दिया करता था। विद्यार्थी जी उसी समय से मुझसे कुछ विशेष प्रसन्न थे। उन्हें नवयुवकों से बहुत प्रेम था और मेरी मण्डली के लड़कों से विशेष कर श्रीयुत वैजनाथ सेठ और श्रीयुत भागीरथ सेठ से खूब बातें किया करते थे। हम लोग भी अंशट बातें हाँका करते थे और वे बड़े प्रेम से सुनते थे।

बा० वृन्दावनलाल जी वर्मा के पास और भी कई नवयुवक आया करते थे। श्रीयुत गणेश जी ने एक दिन मुझसे हँस कर कहा, “देखो, अगर किसी तरह से वृन्दावन की वकालत का डिप्लोमा छिन जाय तो वे बड़े काम के आदमी हो सकते हैं और जो इतने नवयुवक उन्हें घेरे रहते हैं

उनको भी काम का बना सकते हैं। जब से वे वकालत के चक्कर में पड़े, तबसे गोलमाल-कारिणी-सभा का काम बिल्कुल बन्द हो गया।

× × ×

मैं १९१६ में ऐन्ट्रेन्स पास हो गया और डी० ए० बी० कालिज कानपुर में कमर्शियल डिप्लोमा की शिक्षा प्राप्त करने के लिए गया। सबसे बड़ा प्रश्न मेरे सामने यह था कि मैं किस प्रकार अपना निर्वाह कानपुर में करूँगा। श्रीयुत गणेश जी से परिचय तो था ही। इसलिए जब मैं डी० ए० बी० कालिज में भरती हो गया तो एक दिन शाम को ‘प्रताप’—ऑफिस में गया। गणेश जी मुझे देख कर बड़े प्रसन्न हुए और बोले, “कब आये? और कैसे?” मैंने कहा, “मैं तो डी० ए० बी० में भरती हो गया हूँ और व्यूशन की तलाश में निकला हूँ। कोई व्यूशन दिलाइये। मैं शाम के तीन घण्टे का समय वक्कों के पढ़ाने में दे सकता हूँ।” विद्यार्थी जी मेरी इस बात को सुन कर कुछ देर चुप रहे। फिर बोले, “क्यों, तुम्हें क्या कोई और सहायता घर से नहीं मिल सकती?”

मैंने कहा, “एक तो सहायता मिल नहीं सकती और यदि मिले भी तो मैं लेना नहीं चाहता। क्योंकि मैंने ऐन्ट्रेन्स अपने ही बल भरोसे से पास किया है। घर से केवल ग्यारह रुपये लेकर चला था और ग्यारह रुपये में ऐन्ट्रेन्स पास कर लिया। घर से एक पैसा नहीं मँगाया।”

वे कुछ मुस्कराये और पूछने लगे कि ग्यारह रुपये में किस तरह से ऐन्ट्रेन्स पास कर लिया?

मैंने कहा, “विद्यार्थी जी, यह एक लम्बी कहानी है। आप सुनकर क्या कीजियेगा? मुझे

दीजिये। कौमर्शियल डिप्लोमा पास करना चाहता हूँ।”

वह बोले, कमर्शियल डिप्लोमा पास करके क्या करोगे ?”

मैंने कहा, “उसके बाद वी० कॉम करूँगा।”

विद्यार्थी जी ने पूछा, “वी० कॉम करके क्या करोगे ?”

मैंने कहा, “व्यापार।”

विद्यार्थी जी ने कहा, “पैसा तो तुम्हारे पास है ही नहीं। बिना पैसे के व्यापार क्या करोगे ?

मैंने बिना सोचे ही उत्तर दिया कि मैं तो अनायास ही काम शुरू कर देता हूँ और परमात्मा मुझे उसी में सहायता देता है। एक साथ घर से अकेला अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त करने भाँसी चला आया था। उस समय बस ग्यारह रुपये मेरे पास थे। छै साल भाँसी रहा। व्यूशन की। एन्ट्रेंस पास करके कालिज में भरती हो गया। मैं तो वहाँ करता हूँ, जो मेरी अंतरात्मा कहती है। मुझे आत्म-विश्वास है और जो अपने ऊपर विश्वास करते हैं, उनकी ईश्वर अवश्य ही सहायता करता है। संसार में जब मनुष्य पैदा होता है, क्या लेकर आता है ? प्रकृति सदा सहायता करती है। गाय के बच्चों को कौन बतलाता है कि उसकी माँ का थन कहाँ है, जहाँ से उसे दूध मिलेगा ?” मैं अपनी बेतुकी फिलासफी बिना समझे बूझे कहता जा रहा था और वे मोटे-मोटे काँच वाले चश्मे में से बड़े गौर से मेरी ओर देख रहे थे और मुस्करा रहे थे। मेरी फिलासफी का ताँता शायद जारी रहता, पर इसी बीच पं० शिवनारायण जी मिश्र और श्री पं० बालकृष्ण जी, जो कि काइस्ट चर्च कालिज में पढ़ते थे, आ गये और मेरी स्पीच को लड़ा दूट गई। विद्यार्थी जी मिश्र जी को ओर मुँह करके और मेरी ओर संकेत करते हुए बोले, “बालाप्रसाद जी को जानते हो ?” मिश्र जी ने कहा, “हाँ, यह तो वही है, जो वर्मा जी के यहाँ भाँसी में मिले थे और मठा पिलाया था।” विद्यार्थी

वे भाँसी आते थे, मुझ से मठे के लिए अवश्य कहा करते थे।

विद्यार्थी जी ने कहा, “हाँ, यह भी वृन्दावन की तरह एक वृन्देतखंडी हैं।”

विद्यार्थी जी मुँगावली (ग्वालियर-राज्य) बहुधा जाया करो थे। उन्हें वृन्देतखण्ड से और वहाँ के निवासियों से विशेष प्रेम था। उनका विश्वास था कि वृन्देतखण्ड ने वीर वृन्देला छत्रसाल जैसे बहादुर पैदा किये हैं, वैसे ही केशवदास और मैथिलीशरण जी जैसे कवि और वर्मा जी सरीखे लेखक भी पैदा किये हैं।

कुछ देर इधर-उधर की बातें होती रही और जब मैं चलने के लिए उठा और उन्हें प्रणाम किया तो बोले, “कल पाँच बजे शाम को आना। मैं तुम्हें पञ्चीस रुपया माहवार की व्यूशन दिला दूँगा। लेकिन तुम्हें मेहतर के लड़कों को पढ़ाना पड़ेगा। मैं चाहता हूँ कि दो मेहतर के लड़के अंग्रेजी पढ़ जायें। उनसे कानपुर के मेहतरों में सुधार कराऊँगा।”

मैंने शीघ्र ही उत्तर दिया, “मुझे मेहतर के लड़कों को पढ़ाने में कोई आपत्ति नहीं, बल्कि मैं उन्हें बड़े प्यार से पढ़ाऊँगा और प्रयत्न करूँगा कि वे जल्दी-से-जल्दी पढ़ जायें।”

अगले दिन शाम को जब मैं ‘प्रताप’—आफिस में पाँच बजे पहुँचा तो मेहतर के दो लड़के विद्यार्थी जी के पास बैठे थे और वे मेरी प्रतीक्षा कर रहे थे। ज्यों ही मैं पहुँचा विद्यार्थी जी ने उन दोनों लड़कों को मेरे सुपुर्द कर दिया और कहा कि इनको अंग्रेजी पढ़ाओ। मैंने उन्हें पढ़ाना शुरू कर दिया और कई महीनों तक उन्हें पढ़ाता रहा। लेकिन वे लड़के कभी ठीक समय पर पढ़ने ही न आते थे ! कभी-कभी तो एक-एक हफ्ते का गीता लगा जाते। कुछ दिन बाद उनकी शादी हो गई और फिर वे पढ़ने नहीं आये। गणेश जी ने बड़ा चेष्टा की कि वे पढ़ें, पर उन्होंने नहीं पढ़ा। प्रति दिन मैं

तो ठीक समय पर 'प्रभाव' प्रकाशित हुआ। मेरी समय की पाठशाला से विद्यार्थी जी बड़े प्रसन्न थे। जब इन मेहतर के लड़कों ने पढ़ने में उत्साह नहीं दिखाया तो विद्यार्थी जी ने मुझे एक टॉल्स्टॉय की पुस्तक 'Twenty three tales from Tolstoy' "टॉल्स्टॉय की तेईस कहानियाँ" पढ़ने को दी और कहा कि हिन्दी में इनका अनुवाद करो। मैंने पाँच कहानियों का अनुवाद सादा बोलचाल की भाषा में करके उनको दिखलाया। उन्होंने उस अनुवाद को ध्यान से पढ़ा और उसे पसन्द किया। बाद उन्होंने उसे अपने 'प्रभा' नामक मासिक-पत्र में प्रकाशित भी किया। इस तरह एक वर्ष व्यतीत हो गया। और मैंने कालिज में पहले वर्ष की पढ़ाई समाप्त करके दूसरे वर्ष की पढ़ाई प्रारम्भ कर दी।

जिस समय मैं दूसरे साल की परीक्षा के लिए तैयारी कर रहा था, महात्मा गांधी जी का असहयोग आंदोलन (सन् १९२१ में) शुरू हुआ। सारे भारतवर्ष में आंदोलन फैल गया। इसी बीच में चैम्सफोर्ड-मास्टेयर्स-सुधार-योजना के अनुसार प्रांतों की कौंसिलों के चुनाव प्रारम्भ हो गये। भाँसी जिले से बा० वृन्दावनलाल जी वर्मा और बा० बोधराज साहनी ने मि० सी० वाई० चितामणि को खड़ा किया। बा० वृन्दावनलाल वर्मा ने बड़ी कोशिश की और उन्हीं की कोशिश से मि० सी० वाई० चितामणि कौंसिल के मेम्बर चुन लिए गये और वे मन्त्री भी बना दिये गये। मि० चितामणि के चुनाव के लिए काम करने के लिए बा० वृन्दावनलाल वर्मा ने मुझे आज्ञा दी कि मैं कालिज से दो महीने की छुट्टी लेकर आऊँ और उनके लिए महारौनी तहसील (भाँसी) में पूर्ण रूप से प्रयत्न करूँ। मैंने उनकी आज्ञा का पालन किया।

विद्यार्थी जी चुनाव के विरुद्ध थे। वे कांग्रेस की नीति पसन्द करते थे। इसलिए मेरा कालिज से दो महीने छुट्टी लेकर मि० चितामणि जी के

समर्थन न आया। लेकिन मैं कांग्रेसी विचारों का होता हुआ भी बा० वृन्दावनलाल वर्मा की आज्ञा के विरुद्ध नहीं जा सकता था, क्योंकि उनका कहना था कि कांग्रेस ने कौंसिलों का बहिष्कार किया है इसलिए रद्दी आदमी कौंसिल में जावेंगे। इससे अच्छा तो यह है कि नर्म दल के नेता मि० चितामणि जैसे आदमी जावें। उससे देश को अधिक लाभ हो सकता है। मुझे यह बात पसन्द आई और मैंने उनके लिए प्रयत्न किया।

विद्यार्थी जी बा० वृन्दावनलाल वर्मा के इस कार्य से बड़े असन्तुष्ट थे और जब मैं चुनाव के बाद कानपुर गया तो विद्यार्थी जी मुझ से कुछ असन्तुष्ट जान पड़े। वे कुछ खूबार्दे के साथ बोले, "तुम्हारे चितामणि मेम्बर हो गये?" मैंने कहा, "जी हाँ।" मुझे उनकी यह खूबार्दी अच्छी न लगी और थोड़ा देर 'प्रताप'-आफिस में बैठ कर होस्टल लौट आया। उस दिन कोई कार्य 'प्रताप'-आफिस में नहीं किया और फिर एक हफ्ते तक मैं वहाँ न गया। और न दो महीने के पचास रुपये ही लिए, क्योंकि दो महीने कोई काम तो किया ही न था। मैंने अपने एक मित्र से रुपया उधार लेकर काम चलाया। एक सप्ताह बाद विद्यार्थी जी ने मुझे बुलाया और पूछा कि एक हफ्ते से काम करने क्यों नहीं आये? मेरे पास इसका कोई उत्तर न था। विद्यार्थी जी मुस्कराये और बोले—"किसी तरह से वृन्दावन का डिप्लोमा सरकार छीन ले तो अच्छा हो। वह काम के आदमी बन जावें।" उनका ख्याल था कि मेरे ऊपर वृन्दावनलाल वर्मा का बड़ा प्रभाव है, तभी तो कांग्रेस के उद्देश्य मानते हुए भी मि० चितामणि के चुनाव में सहायता की। कुछ हद तक उनका समझना ठीक भी था। पर सोलहो आने मैंने प्रभाव में आकर ही काम किया हो, ऐसी बात न थी। बल्कि मैं इस बात को समझ गया था कि जब कौंसिल में मेम्बर जाने ही हैं तो फिर अच्छे आदमी क्यों न जायें, जो कुछ काम कर सकें। इस घटना के बाद वे कभी

मुझ से असह्योग नहीं हुए।

असहयोग आंदोलन बढ़ता गया। पंजाब में लाजपतराय, बंगाल में सी० आर० दास और युक्त-प्रान्त में पं० मोतीलाल नेहरू और पं० जवाहरलाल नेहरू ने दौरे आरम्भ कर दिये। बहुत से वकीलों ने वकालत और अनेकों विद्यार्थियों ने कालिज और स्कूल छोड़ दिये। मेरे दिल में भी उथल-पुथल मँची। दिन-रात कालिज और होस्टलों में असहयोग की ही चर्चा होती थी। डी० ए० बी० कालिज में गड़बड़ शुरू हो गई। मैंने और श्रीकृष्ण टोपा ने कालिज छोड़ दिया और होस्टल छोड़ कर 'प्रताप'—आफिस में रहने लगे। मुश्किल से वहाँ एक हफ्ते रह पाये होंगे कि रायबरेली से विद्यार्थी जी के पास तार आया कि वहाँ किसानों पर गोली चल गई। फौरन ही काम करने वाले आदमी भेजे। मैं, श्रीकृष्ण टोपा तो रायबरेली भेजे गये और बालकृष्ण शर्मा तथा कई और सज्जन ऊँचाहार की तरफ।

रायबरेली में मुंशीगंज में गोली चलने वाला समाचार प्रयाग के 'इन्डिपेन्डेंट' और 'प्रताप' ने छपा। उसमें कहा गया था कि अमुक सरदार ने गोली से किसानों को मार डाला। सरदार ने मानहानि का नोटिस दिया। इस पर 'इन्डिपेन्डेंट' ने तो माफ़ी माँग ली, पर 'प्रताप' ने माफ़ी न माँगी, क्योंकि विद्यार्थी जो निर्भीक थे, साहसी थे। अत्याचार कभी नहीं देख सकते थे। अतः लगभग आठ महीने तक मुकदमा चलता रहा। मुझे विद्यार्थी जी ने कोषाध्यक्ष तथा पैरोकार नियुक्त किया। मैं करीब आठ महीने तक उसमें लगा रहा। सारे जिले का दौरा किया। गवाहियाँ इकट्ठी कीं और मेरे द्वारा करीब बीस हजार रुपया खर्च हुआ। कई सज्जन मुझ से खर्च के लिए रुपया ले जाते थे और जब तक उनसे

दरियः गंज, देहली]

तकाजा नहीं किया जाता था तब तक हिसाब ही न देने थे! पर विद्यार्थी जी यदि एक रुपया भी इस फंड से लेते थे तो उसका भी बिला माँग हिसाब दे दिया करते थे। रुपये—पैसे के मामले में उनका काम बड़ा ही साफ था। कभी भी पब्लिक—फंड के एक पैसे का भी फिजूल व्यय उन्होंने नहीं होने दिया। मेरी धारणा थी कि यू० पी० में पंडित जवाहरलाल नेहरू के बाद यदि किसी का स्थान है तो गणेश जी का। उनका बलिदान, उत्साह, दया और निर्भयता अभी तक मेरे दिल पर गहरा प्रभाव डाले हुए हैं। इस मुकदमे में कई वकीलों ने बड़ी कोशिश की, हरीमोहनराय, डा० जैकरनलाल मिश्र, किसमतुराय जगधारी, रायबहादुर विक्रमाजी तसिंह, बा० वृन्दावनलाल वर्मा और पं० विशम्भर दयाल वाजपेई। बा० वृन्दावनलाल वर्मा तो करीब तीन महीने रायबरेली ही रहे। अपने पिता जी की मृत्यु के कारण उन्हें माँसी वापिस आना पड़ा।

इतनी कोशिश करने के बाद भी गणेश जी और पं० शिवनारायण जी मिश्र को तीन-तीन महीने की सजा और १०००) ६० जुर्माना हुआ। जब विद्यार्थी जी पुलिस की मोटर में बैठ कर जेल जाने लगे तो उन्होंने मुझे बुलाया और मेरे सिर पर हाथ रख कर कहा, "तुम ने खूब मेहनत की। अब तुम श्रीकृष्ण दत्त जी पालीवाल के साथ 'प्रताप' में काम करना।" वे चाहते थे कि पालीवाल जी सम्पादक का काम करें और मैं मैनेजर का। मैं इसका कोई उत्तर न दे पाया कि ड्राइवर ने मोटर बड़ा दी। उस रात मुझे नींद न आई। मन में अनेक प्रकार के विचार आते रहे। विद्यार्थी जी की आज्ञा मानूँ या क्या कहूँ, क्योंकि कालिज देश का काम करने के लिए छोड़ा था।

साहित्यिक और सांस्कृतिक स्वराज्य

[एक महत्त्वपूर्ण पत्र]

प्रियवर,

‘साहित्यिक और सांस्कृतिक स्वराज्य’ शीर्षक लेख मैंने ध्यान से पढ़ा और उसे सामयिक, उप-योगी और विचार-पूर्ण पाया। आपके साथ ही देश के अधिकांश विचारशील व्यक्तियों का यही अभिमत है कि शायद हम स्वराज्य के समीप आ गये हैं और सम्भवतः पराधीनता की बेड़ियाँ काटने के लिये अब हमें ब्रिटिश सरकार से संघर्ष करने की जरूरत न पड़ेगी और आपके साथ ही कुछ लोगों को यह भी आशंका है कि राजनैतिक क्षेत्र की अन्तिम लड़ाई अभी बाकी है। पर दुनिया में जो उथल-पथल हो रही है, एशिया में जो अपूर्व जाग्रति दिखाई पड़ती है और इंग्लैण्ड में मजदूर-दल के हाथ जो ब्रिटिश साम्राज्य का सूत्र आ गया है, उससे यही बात अधिक सम्भव तथा युक्तियुक्त जान पड़ती है कि अब संघर्ष की नौबत न आवेगी और भारत शीघ्र ही राजनैतिक आजादी हासिल कर लेगा।

पर राजनैतिक स्वराज्य की अपेक्षा मेरी दृष्टि में साहित्यिक और सांस्कृतिक स्वराज्य कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। हिन्दू का साहित्य अभी बचपन की हालत में है। संसार के उन्नतिशील साहित्यों के सामने अभी उसकी विसात ही क्या है? उसके विकास और उत्कर्ष के लिये हमें उन सब उपायों को काम में लाना पड़ेगा, जो सभी प्रगतिशील साहित्य के शुरू और बीच के काल में आवश्यक रहे हैं। रुढ़िवाद और संकीर्ण विचारों को त्याग कर हमें संसार की नई-से-नई बातों को अपनाना होगा, अपनी संस्कृति की रक्षा करते हुए विश्व के उन्नत साहित्य से बहुत-कुछ ग्रहण करना पड़ेगा। हमें विश्व-साहित्य के अनमोल ग्रन्थ-रत्नों से अपने साहित्य-भंडार को भरना

होगा, उसे समृद्धिशाली और प्रगतिशील बनाना होगा। हमें यह अहंकार त्याग देना पड़ेगा कि हमारे पास तुलसी और सूर जैसे महाकवियों की संचित साहित्यिक और सांस्कृतिक सम्पत्ति है, इसलिये हमें अब दूसरों की कोई जरूरत ही नहीं रही। हमें संसार के साहित्योद्यान की सैर करनी पड़ेगी और वहाँ से अच्छे-से-अच्छे फूलों के पौधे लाकर भारतीय साहित्य की फुलवारी को सजाना होगा। हमें दक्खिनीय और ईरवारी साहित्य से विरक्त होकर उस नवीन साहित्य के निर्माण में बद्ध-परिकर होना पड़ेगा, जो हमारे देश की आत्मा और संस्कृति को ऊपर उठावे और प्रगतिके पथ में आगे बढ़ावे।

इस समय हमारे सामने यह सवाल है कि भारत की राष्ट्र-भाषा और राष्ट्रीय साहित्य का रूप क्या होगा? इस अभाग्य देश में अलोगद विरव-विद्यालय के प्रिन्सिपल बेक से लेकर भारत के वायसराय मिण्टो और ब्रिटिश-साम्राज्यवाद के महन्त चर्चिल और ऐमरी तक अंग्रेज कूटनीतियों ने साम्प्रदायिक वैमनस्य के विष-वृक्ष को जिस लगन से साँच कर हरा-भरा बनाया है उसका फल हम इस समय चख रहे हैं। भारत की छाती पर साम्प्रदायिक शैतान का ऐसा ताण्डव-नृत्य हो रहा है, जैसा न कभी देखा गया और न कभी सुना गया था। भाषा और साहित्य के पवित्र मन्दिर में भी साम्प्रदायिक शैतान ने आसन जमा लिया है। साम्प्रदायिक शराब पीकर हम ऐसे मतवाले हो गये हैं कि आज एक ही माँ-बाप के दो बच्चों को दो कौम के व्यक्ति कहने लगे हैं। विश्व का यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि धर्म बदलने से केवल ईश्वरोपासना की विधि बदलती,

माँ-बाप, भाई-बहन नहीं बदलते, अतीति की इतिहास नहीं बदलता, मातृ-भूमि नहीं बदलती, बोली-भाषा नहीं बदलती। पर यहाँ तो उल्टी गंगा बहाने की कोशिश हो रही है। हिन्दू और मुसलमान की अलग-अलग दौ कौम होने का दावा किया जा रहा है और इसके दवेदारों में जहाँ एक ओर जनाब जिज्ञा हैं, वहाँ दूसरी ओर बोर सावरकर भी हैं। एक हिन्दू राष्ट्र का स्वप्न देखता है, दूसरा मुस्लिम कौम का हवाई-किला उठाता है। साम्प्रदायिकता के इन पुजारियों ने भाषा और साहित्य का भी पिण्ड नहीं छोड़ा— उसे भी सम्प्रदाय की चेरी बनाने की कसम खा ली है। जिस हिन्दी-साहित्य-वाटिका को मलिक मुहम्मद जायसी, अशुल रहीम खानखाना, सुवारक, नूर मुहम्मद, कुतुबन शेख, जलालुद्दीन, कादिर ग़ल्ल, उसमान, इब्राहिम, नजीर, शेखनवी, अहमद, शेख मुहम्मद बाबा, सैयद रहमतुल्ला, अशुल रहमान, अली मुहिबख़ाँ, अशुल जलाल, ग़ाक़ू ख़ाँ, आजमख़ाँ प्रभृति सैकड़ों मुसलमान कवियों ने अपने हृदय के शोषित से सींच कर हरा-भरा बनाया है, वह आज हिन्दुओं की बोली और भाषा कही जा रही है और जो हिन्दी अकबर और उनके बाद के शासकों के जमाने में सरकारी अमलदारों की सहूलियत के लिए फारसी लिपि में लिखी जाती थी, जिसके विकास और उत्सर्ग में सैकड़ों हजारों हिन्दुओं ने अपने जीवन को उत्सर्ग कर दिया और जिसमें कठ-मुल्लाओं ने विदेशी अरबी-फारसी के शब्द टूँस-टूँस कर हिन्दी से भिन्न एक उर्दू भाषा बना डाली वह इस समय मुसलमानों की भाषा समझी जाने लगी है। जिस देश में हिन्दू-चाय और मुस्लिम-चाय, हिन्दू-पानी और मुस्लिम-पानी का बोलबाला है, वहाँ हिन्दुओं की भाषा हिन्दी और मुसलमानों की भाषा उर्दू बन जावे या कही जावे तो इसमें आश्चर्य ही क्या है?

आधुनिक भारत के निर्माताओं में सबसे अधिक कृपि दयानन्द और महात्मा गान्धी ने हिन्द के लिए नवीन संस्कृति और साहित्य की आवश्यकता को अनुभव किया और उन्होंने देशवासियों को यह

मन्त्र दिया कि भारत की नवीन संस्कृति का निर्माण धर्म और ज्ञान, सत्य और अहिंसा के आधार पर होना चाहिये। उन्होंने बतलाया कि पश्चिम की वर्तमान संस्कृति के अन्ध-अनुकरण से भारत का भला न हो सकेगा। हमें अपनी पुरातन संस्कृति को ही नवीन रूप में संसार के सामने रखना चाहिये; क्योंकि धर्म और ज्ञान, सत्य और अहिंसा के आधार पर बनी हुई भारतीय संस्कृति ही संसार के लिए एक नया सन्देश हो सकती है और साथ ही हिन्दी-साहित्य को उन्होंने हिन्द-देश के लिए सर्वोत्तम साहित्य समझा और उसका प्रचार करना अपना परम-कर्तव्य। पर इस अभागे देश की अजीब हालत है। महात्मा गान्धी से विश्व में हिन्दू धर्म गौरवान्वित हुआ है, पर कट्टर हिन्दू उन्हें हिन्दुत्व का विरोधी मानते हैं और मुसलमानों को शायद महात्मा गान्धी से बढ़ कर सच्चा मित्र और कोई कहीं मिल नहीं सकता, पर अधिकांश मुसलमान उनको मुसलमानों का सबसे कट्टर दुश्मन मानते हैं। अतएव एक चौथाई सदी तक हिन्दी की सेवा करने के बाद महात्मा गान्धी ने हिन्दी को त्याग दिया और मुसलमानों को राजी करने के लिए एक नवीन 'हिन्दुस्तानी भाषा' का प्रचार शुरू कर दिया है। बापू कहते हैं कि उत्तर हिन्दुस्तान में हिन्दू और मुसलमान जिस बोली को बोलते और समझते हैं उसी का नाम 'हिन्दुस्तानी' है। इस बात से कौन इन्कार कर सकता है कि साधारण जनता जिस भाषा को समझ सके, वही देश-हित के लिए सर्वोत्तम भाषा है और हिन्दी के जो अच्छे लेखक हैं और जो अपना सन्देश जनता तक पहुंचाना चाहते हैं, उनको सरल भाषा में ही अपने विचार प्रकट करना आवश्यक प्रतीत होता है। पर 'हिन्दुस्तानी' इस कसौटी पर तो खरी नहीं उतरती; यहाँ तो पिछतर फीसदी उर्दू और पच्चीस फीसदी हिन्दी शब्दों को खिचड़ी भाषा का नाम 'हिन्दुस्तानी' रखा गया है।

आज हमारा साहित्य राजनीति का कौनसा बन्दा हुआ है। राष्ट्रीय सरकार में जनाब जिज्ञा और मुस्लिम लीग के सर्वर्ष हिन्दुओं के बराबर

हिस्सा दिया जा रहा है, उसी प्रकार महात्मा गांधी और उनके भाषा-भक्तों द्वारा हिन्दी और उर्दू शब्दों का राष्ट्रीय साहित्य में हिस्सा लगाया जा रहा है। इससे तो अच्छा होता साहित्य का अलग-अलग पाकिस्तान और हिन्दुस्तान ही। दोनों अपने-अपने ढंग से पनपते-फूलते और फलते। महात्माजी ने फर्मान निकाला है कि हर एक हिन्दुस्तानी-भाषा-प्रेमी को नागरी के साथ फारसी लिपि और हिन्दी के साथ उर्दू जानना लाजिमी है; क्योंकि ऐसे ही भाषा-विशारद तो हिन्दी और उर्दू का हिस्सा लगा कर हिन्दुस्तानी की सृष्टि, पुष्टि और अभिवृद्धि कर सकते हैं। यह तो निश्चित है कि महात्माजी के आदेशानुसार हजारों हिन्दी-प्रेमी फारसी लिपि और उर्दू-जबान सीख लेंगे, पर उर्दू वाले नागरी-लिपि और हिन्दी भाषा सीखना पसन्द करेंगे, इसमें भारी सन्देह है।

यहाँ मैं यह स्पष्ट कह देना चाहता हूँ कि मैं प्रचलित शब्दों के बहिष्कार के पक्ष में नहीं हूँ। अरबी, फारसी, अंग्रेजी, पोर्तुगाली आदि विदेशी भाषाओं के जो शब्द हिन्दी में प्रयोग हो रहे हैं और जिनको जनता अच्छी तरह समझता है, उनको हटा कर उनकी जगह संस्कृत शब्दों को बैठाना मानों हिन्दी का अहित करना है। रेलगाड़ी की जगह अग्नियान को हम पसन्द नहीं करते, जहाज की जगह जलयान अच्छा नहीं मालूम देता है, पर हिन्दी को जबरदस्ती विदेशी शब्दों का गुलाम बनाना साहित्यिक स्वराज्य के मार्ग में रोड़ा अटकाना है। आज राजनैतिक नेताओं के हाथ में साहित्य की भी बागडोर है, इसलिये साहित्यिक स्वराज्य की चर्चा ही व्यर्थ है। जब तक यह स्थिति बनी रहेगी, जब तक राजनैतिक नेता भाषा और साहित्य के क्षेत्र में भी सर्वेसर्वा बने रहेंगे तब तक साहित्यिक स्वराज्य कहाँ? साहित्य को राजनीति से अलग रखने का मेरा और अभिप्राय नहीं है। जो साहित्य देश की राजनीति और राष्ट्रीय भावना से अलग रहना चाहेगा वह जीवित नहीं रह सकता,

प्रवासी-भवन,
आदर्श नगर,
अजमेर

उसकी सृष्टि तो निश्चित है। पर राजनीति और राष्ट्रीयता पर साहित्य का प्रभुत्व होना चाहिये, न कि साहित्य पर राजनैतिक नेताओं का। इसलिये पहले तो आप साहित्य को राजनैतिक नेताओं को गुलामी से मुक्त कीजिये, फिर उसके स्वराज्य का विधान बनाया जा सकेगा।

इसलिये पहले आपको यह तय कर लेना जरूरी है कि हिन्द की संस्कृति और हिन्द के साहित्य का भविष्य में क्या रूप होगा? वह विशुद्ध हिन्दुस्तानी होगा अथवा हिन्दुस्तानी और पाकिस्तानी की खिचड़ी? तब फिर उसके स्वराज्य का प्रश्न उठाना ठीक होगा। आपने जो बारह उपाय बतलाये हैं उनको अमल में लाने से कुछ साहित्यकारों और पत्रकारों को प्रोत्साहन अवश्य मिल सकता है, पर उससे इस गम्भीर समस्या का हल नहीं हो सकता। सरकार की छात्र-वृत्तियों या सहायता से खींच और बनाईशा की सृष्टि न हो सकेगी। वह तो स्वतन्त्र-भारत में गाँव की भोपड़ियों में पैदा होंगे। उनको किसी सरकार या पूँजीपति के प्रोत्साहन की जरूरत न पड़ेगी। उन साहित्यकारों और पत्रकारों के सामने स्वतन्त्र-भारत के प्रेसीडेंट और प्रधान मन्त्री तक श्रद्धा से शीश झुकावेंगे। वे मालदारों के सामने हाथ उपसारे वालों से नितांत भिन्न होंगे। वह दिन आवेगा और शीघ्र आवेगा। उस दिन की आप धैर्य से प्रतीक्षा करें और हो सके तो वह दिन शीघ्र लाने की चेष्टा भी। इस समय जिन पत्रकारों और साहित्यकारों को आप धनाढ्यों की खुशामद करते और उनके टुकड़े के मोहताज होते हुए देख रहे हैं, उनसे सांस्कृतिक और साहित्यिक स्वराज्य की आशा करना मृग-तृष्णा ही है। अभी तो अंग्रेजों की गुलामी से छुटकारा पाने में ही कुछ समय लग जायगा और जब तक साहित्यिक दासता से हम मुक्ति नहीं पा जाते, तब तक साहित्यिक स्वराज्य की चर्चा छेड़ना शेष-चिल्ला का सहल उठाना है।

विनीत
—भवानीदयाल सन्यासी

एक आदर्श पत्रकार ❀

एच. डब्ल्यू. नेविनसन

बनारसीदास चतुर्वेदी

भगवान वेदव्यास ने महाभारत में जिन चरित्रों का चित्रण किया है, उनमें हमें बलराम का चरित्र बहुत पसन्द है। बलराम में एक उत्साहप्रद फक्कड़पन है, एक निराला व्यक्तित्व है और वह अर्जुनबोहरीव गुण भी जो महाभारत के अन्य प्रसिद्ध-प्रसिद्ध व्यक्तियों में नहीं पाया जाता—यानी जिसे वे अपनी अन्तरात्मा के अनुसार न्याययुक्त अथवा सत्य सम्झते हैं; उस पर डटे रहने की उनमें असाधारण क्षमता है। इस विषय में वे भीष्म, द्रोण और कृपाचार्य को सीलों पीछे छोड़ जाते हैं। उद्योगपर्व के दूसरे अध्याय में जब पाण्डवों की मन्त्रणा-सभा बैठी थी, उसमें उन्होंने स्पष्ट-रूप से कह दिया था कि युधिष्ठिर ने अपने दोष से राज्य खोया है। वे जुआ खेलने गये ही क्यों? इसलिए लड़ाई करके दुर्योधन से राज्य माँगना अन्याय है। शान्ति से, नम्रतापूर्वक ही, उससे व्यवहार करना चाहिए—

‘अमुद्धमाकाञ्छत कौरवाणां

साम्रैव दुर्योधन माह्वपव्वम्।’

इसके बाद जब दुर्योधन और अर्जुन श्रीकृष्ण और बलराम को अपने-अपने पक्ष में लेने के लिए दारिका गये, उस समय श्रीकृष्ण भगवान ने तो समझौता कर लिया कि एक ओर मैं निशस्त्र रहूँगा और दूसरी ओर मेरी दस हजार नारायणी सेना रहेंगी, पर बलराम अपनी बात पर डटे रहे। उन्होंने साफ कह दिया कि मैं दोनों पक्षों में

❀ यह रेखाचित्र नैविनसन की जीवित अवस्था में प्रकाशित हुआ था। उनका स्वर्गवास हुए कई वर्ष हो गये।

किसी की ओर नहीं जा सकता। उन्होंने अपने छोटे भाई कृष्ण को भी बहुत समझाया कि तुम भी किसी ओर मत हो, पर कृष्ण ने उनकी बात नहीं मानी। अन्त में बलराम ने यही तय किया कि इन लोगों को छोड़ कर सरस्वती-तीर्थ पर जाकर रहूँगा। उनके वचन यह थे—
“नष्ट होते हुए कौरवों की मैं उपेक्षा नहीं कर सकता।”—

‘न हि शक्यामि कौरव्यान्नश्यमानानुपेक्षिम्।’

और बलराम के चरित्र का सबसे अधिक उज्ज्वल पहलू तब दीख पड़ता है, जब वे महाभारत के अन्त में भीम और दुर्योधन दोनों के गदा-युद्ध को देखने के लिए गये हैं। दोनों ही बलराम के शिष्य थे। भीष्म युद्ध हुआ। उस समय भीम ने बेईमानी की। उन्होंने दुर्योधन की जाँघ पर गदा मारी, और यह बात गदा-युद्ध के नियमों के सर्वथा विरुद्ध थी, क्योंकि इस युद्ध में नाभि के ऊपर ही आघात करने का नियम है। दुर्योधन के जवरदस्त चोट लगी और वे कातर आवाज के साथ जमीन पर लेट गये। अन्य लोग, जिनमें श्रीकृष्ण भगवान भी थे, इस अन्याय को देखते रहे, पर बलराम से यह न देखा गया। वे क्रोध से जल उठे और हल उठा कर भीम पर पिल पड़े। बड़ी मुश्किल से श्रीकृष्ण ने उन्हें शान्त किया। उस समय बलराम ने जो शब्द कहे थे, वे चिरस्मरणीय हैं। उन्होंने कहा था—
“हे कृष्ण, केवल दुर्योधन ही नहीं गिरा है, जो विषम होते हुए भी मेरे समान योद्धा था, पर मेरा भी पतन हुआ है, क्योंकि दुर्योधन यहाँ अकेला था और मेरा आश्रित था।

आश्रित की दुर्बलता से आश्रय की भी निन्दा करनेवालों के विरुद्ध बगावत का होती है ।” —

“ना चैव पतितः कृष्ण

केवल मत्समोऽसमः

आश्रितस्य तु दीर्घकालात्

आश्रयः परिभर्त्स्यते ।”

(शल्यपर्व)

अभी उस दिन हमें हेनरी डब्ल्यू. नेविनसन का आत्मचरित (Fire of Life by Henry W. Nevins) पढ़ते हुए कई बार बलराम का ख़्वाल आ गया । अन्याय का विरोध करने के लिए अपनी जान लड़ा देने वाला अगर कोई पत्रकार इंग्लैण्ड में है तो वह नेविनसन है । कमजोरों और अन्याय-पीड़ितों का पक्ष लेने में उसे मज़ा आता है । हथेली पर जान लिये घूमना किसे कहते हैं, यह बात अगर कोई पत्रकार सीखना चाहे तो नेविनसन से सीख सकता है । जब कवीन्द्र रवीन्द्र सन् १९२१ में नेविनसन से मिले थे तो उन्होंने अपने १० अप्रैल के पत्र में मि० ऐंग्लूज को लिखा था :—

“इंग्लैण्ड आने पर पहले-पहल जिनसे मेरी मुलाकात हुई, उनमें नेविनसन का नाम उल्लेखनीय है । उनसे मिल कर मेरा यह विश्वास हो गया कि जिस भूमि ने इस पुरुष-पुंगव को जन्म दिया है, उस देश में मानव-आत्मा अवश्य जीती-जागती विद्यमान है । किसी देश के विषय में यदि हम फैसला करना चाहें तो हमें उसके सर्व-श्रेष्ठ निवासियों को मद्देनजर रखना चाहिए और मैं यह बात बिना किसी संकोच के कह सकता हूँ कि अंगरेजों में जो सर्वोत्तम हैं, वे मानव-समान के सबसे बढ़िया नमूने हैं ।”

मि० नेविनसन इस समय ८० वर्ष के हैं, पर उनके आत्म-चरित में केवल ७० वर्ष तक का हाल है । आइये, इस वीर पत्रकार के विचित्र संस्मरणों का कुछ परिचय हम लोग भी पा लें । सन् १८६६ की बात है । नेविनसन उस वक्त २६ वर्ष के युवक थे । उस समय ग्रीक लोगों

भरड़ा खड़ा किया था । चूँकि नेविनसन एक बार ग्रीस की यात्रा कर चुके थे और उसकी प्राचीन सभ्यता के कारण ग्रीस के प्रति आपके हृदय में अत्यन्त सम्मान था, आपने यह निश्चय किया कि अंगरेज स्वयं-सेवकों की एक टुकड़ी बनाई जानी चाहिए, जो ग्रीस पहुँच कर उनकी मदद करे । आप वाइसन-सोसाइटी के अधिकारियों के पास गये, पर वहाँ पता लगा कि किसी ने पहले ऐसा प्रस्ताव नहीं किया था । फिर आप ग्रीक राजदूत के पास गये, पर उन महाशय ने भी उन्हें धन्यवाद देकर नम्रता-पूर्वक टरका दिया ! इसके बाद ५ मार्च को क्वीन्स हॉल में एक मीटिंग हुई, उसमें कितने ही प्रसिद्ध-प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ बोलने वाले थे । जब टर्कों की निन्दा का प्रस्ताव, जैसा कि हुआ करता है, सर्वसम्मति से पास हो चुका तो आप अपनी कुर्सी पर उठ खड़े हुए और लगे लेखन देने — “यह मौखिक सहानुभूति तो बहुत हो चुकी, अब हमें कुछ क्रियात्मक सहानुभूति दिखलानी चाहिए । हमें स्वयं-सेवकों की एक फौज बना कर ग्रीस को भेजनी चाहिए । कोरसकोर प्रस्तावों से कुछ नहीं होना जाना ।”

इतना कहना था कि तमाम श्रोतागण वही नाराजगी के साथ नेविनसन का विरोध करने लगे और उन्हें बोलने से रोकने लगे, पर नेविनसन रुकने वाले आदमी नहीं थे, दनादन बोलते ही गये ! चारों ओर शोरगुल होने लगा । अन्त में प्रबन्धकों ने आपको कुर्सी परसे पकड़ कर नीचे घसीट लिया ! मीटिंग के एक प्रतिष्ठित राजनीतिज्ञ ने नेविनसन से कहा कि जो बात तुम्हें कहनी है, उसे लिख कर दो । आपने यही किया, नोट लिख कर उनके पास भेज दिया । उन्होंने दूसरे सज्जन को दिया, पर उस पर कार्रवाई किसी ने कुछ भी न की ! आपने सोचा कि और कोई ग्रीस जाय या नहीं, मैं तो ज़रूर जाऊँगा और इस घटना के दस दिन बाद आप ग्रीस के लिए रवाना हो गये ।

चलने के एक दिन पहिले एक सैजने आपको नेशनल लिबरल क्लब में ले गये और वहाँ आपको परिचय 'डेली क्रॉनिकल' के सम्पादक मि० एच० डब्ल्यू० मैसिंगहम से कराया गया। आधा मिनट भी न होने पाया था कि मि० मैसिंगहम ने कहा—“क्या आप ग्रीस से हमारे पत्र के लिए संवाद भेज सकेंगे ?” नेविनसन ने कहा—“अवश्य।” वस, उस एक मिनट में नेविनसन के जीवन का कार्यक्रम निश्चित हो गया। सन् १८९७ से लेकर पिछले महायुद्ध तक जब-जब मौका मिला, आपने अनेक युद्ध-क्षेत्रों में जाकर संवाद-दाता का काम किया है। इस बार आपने ग्रीस-यात्रा में जिन कठिनाइयों का सामना किया, उसे पढ़ कर रोंगटे खड़े हो जाते हैं। कई जगह आपको गोलियों की बौछार के बीच से निकलना पड़ा। कान के पास से सनसनाती गोलियाँ निकल जाती थीं और आप भय के भूत को दवाने की बहुत कोशिश करते थे, पर भय मस्तिष्क से निकलता ही न था। यह लड़ाई तीस दिन में खतम हो गई। इस बीच में नेविनसन ने कितने ही बार अपने प्राण संकट में डाले। लड़ाई खतम होने के बाद आपने अपने परिचित ग्रीक अफसरों को एक भोज दिया था।

फिर जान खतरे में

जून सन् १८९७ में 'डेली क्रॉनिकल' के संपादक ने नेविनसन को तार भेजा—“क्रीट जाकर वहाँ के ईसाइयों से मिलो और उनसे पूछ कर लिखो कि उनकी आकांक्षाएँ क्या-क्या हैं ?” एक दुभाषिये को लेकर आप चल पड़े। हर वक्त जान जोखों में थीं। तुर्क लोगों की गोली का शिकार होने का भय बराबर लगा रहता था, पर नेविनसन एक अप्रसिद्ध पहाड़ी रास्ते से निकल गये और ठीक-ठिकाने जा पहुँचे। वहाँ लोगों से मिल कर उन्होंने विद्रोहियों से, जो टर्की के खिलाफ लड़ रहे थे, उनकी शर्तें पूछीं। दूसरे दिन जब वे चलने लगे तो एक इटालियन सेनापति ने उनसे कहा—“आप जा तो रहे हैं, पर आपकी

खात्मा कर देंगे और तुर्क लोग फाँसी पर लटका देंगे।” इस पर टिप्पणी करते हुए नेविनसन लिखते हैं—“मैंने मन में सोचा कि एक ही साथ मैं दो मौतों का शिकार होने से तो रहा, इसलिए यही बेहतर है कि खतरे में पड़ा जाय और घोड़े पर सवार होकर चल पड़ा।” जब नेविनसन और उनका साथी दुभाषिया ‘न्यूट्रल ज़ोन’ से निकल रहे थे तो दोनों ओर की निष्पक्ष (!) गोलियाँ उनके आग-पास से निकल जाती थीं।

डेली क्रॉनिकल' के स्टाफ में

लौटने पर मैसिंगहम ने आपको अपने पत्र के स्टाफ में बुला लिया और अग्रलेख लिखने के लिए कहा। उन दिनों का बड़ा मनोरंजक वर्णन आपने किया है। आत्म-विश्वास की आप में कमी थी और यह सोचते थे कि दूसरों के कहने पर लीडिंग आर्टिकल कैसे लिखा जायगा! पर जब आप लिखने बैठे तो मज्जे में लिख डाला! कुछ दिनों बाद आप इस पत्र के साहित्य विभाग के सम्पादक बना दिये गये। उन दिनों बर्नर्ड शा आपके पत्र के लिए आलोचनाएँ लिखा करते थे। एक दिन आपने बर्नर्ड शा को गायनाचार्य वेगनर के विषय में चार-पाँच किताबें और गान विद्या-विषयक कुछ ग्रन्थ भेजे और डेढ़ कालम में सब की संयुक्त आलोचना के लिए लिखा। बर्नर्ड शा ने जवाब दिया—“मैं यह काम हर्षिज नहीं करूँगा और करूँगा तो अपनी शर्तों पर और गोकि मेरे दिल में आपके एडीटर की काफी इज्जत है, फिर भी जनाव, किसी के भरोसे न रहियेगा। आपकी इस हिमाकत की रिपोर्ट लेखक-संघ से की जायगी और जो नतीजा होगा, सो देख लेना।”

नेविनसन ने इस पत्र का उत्तर दिया—

“प्रिय महाशय,

एडीटर साहब ने मुझसे कहा है कि मैं आपको यह लिख दूँ कि वे उस लेख के लिए पाँच

पौरुष से एक कौड़ी भी नहीं बढ़ाया। नतीजा यह हुआ कि आपका पत्र पढ़ने के बाद आपका नाम ही नहीं आया।

बर्नर्ड शा ने इसका उत्तर दिया —

“ प्रिय महाशय,

आप अपने ऐडीटर साहब को इतला दे दीजिए कि इतने रुपये पर लेख लिखने के बजाय मैं यह कहूँ पसन्द करूँगा कि आप, वे और ‘क्रानिकल’ के सम्पादकीय विभाग के सब आदमी जहन्नुम रसीद हों और वहाँ नरकाग्नि से उवाले जायँ।

आपका.....”

इसके उत्तर में नेविनसन ने लिख भेजा—
“तब आप हमारी किनावें वापस भेज दीजिए, जिससे हम किसी अन्य आलोचक से लेख लिखा सकें, जो आर्थिक दृष्टि से आपकी अपेक्षा कम भारी-भरकम हो।” पर बर्नर्ड शा ने, जैसी कि आशा थी, लेख लिख भेजा।

नेविनसन को अपने पत्र के संवाददाता की हैसियत से स्पेन और आयरलैण्ड भी जाना पड़ा था। आप आइरिश लोगों की एक मीटिंग में गये। ब्रिटिश पुलिस वहाँ मीटिंग के निकट ही तैनात थी—बन्दूक और डण्डे लिए हुए। व्याख्याता महोदय ने खड़े होकर कहा ही था—“यदि आज खून-खराबो हुई तो उसकी सारी जिम्मेवारी पुलिस पर होगी,” कि पुलिस टूट पड़ी और जो सामने आया, डंडे से उसका सिर तोड़ डाला। नेविनसन लिखते हैं—“उस वक्त मैं सड़क के ठीक बीचोंबीच बिल्कुल शांत भाव से खड़ा रहा और मेरा सिर साफ बच गया। तब से जब कभी मुझे पुलिस और जनता की मुठभेड़ों का सामना करना पड़ा है, मैंने इसी चालाकी से काम लिया है और बराबर सफल हुआ हूँ।”

बोअर-युद्ध में

८ सितम्बर लन् १८९६ को नेविनसन बोअर-युद्ध में संवाददाता का काम करने के लिए रवाना

तक शुरू नहीं हुई थी। किनारे पर जहाज पहुँचे ही आपने यह तय किया कि जल्दी-से-जल्दी ब्लोमफानटीन और प्रिटोरिया पहुँचना चाहिये, इसलिए आप दूसरे ही दिन प्रातःकाल के समय छिप कर जहाज से चत दिये और कारु तथा आरेंज नदी को पार करते हुए दूसरे दिन रात के बक्त ब्लोमफानटीन पहुँचे। वहाँ आप खास-खास आदमियों से मिले। प्रिटोरिया में आप प्रेसिडेंट क्रूगर के भवन पर भी मिलने के लिए गये; लेकिन वहाँ जवाब मिला कि प्रेसिडेंट नहीं मिल सकते, क्योंकि प्रार्थना कर रहे हैं। इसके बाद स्टेट-सेक्रेटरी रीज तथा जनरल स्मट्स से भी मिले। तत्पश्चात् आप ‘अक्टूबर’ को लेडीस्मिथ वापस चले गये। जब बोअर लोगों ने लेडीस्मिथ के चारों ओर घेरा डाल लिया तो उसमें आप भी घिर गये। उन दिनों का वर्णन आपने अपनी पुस्तक ‘Lady Smith’ में किया है। इस बीच में आप बीमार पड़ गये और डाक्टरों ने कह दिया कि तुम्हारे बचने की आशा नहीं है। बीमारी थी मलेरिया और पीलिया की, पर आप चेत गये। कभी कभी आपको अत्यन्त भयंकर परिस्थिति में और एक अपरिचित देश में नदी-नाले और पहाड़ों रास्ते तय करने पड़े, पर आपने हिम्मत कभी नहीं हारी। घोड़े मर गये, खाना कम पड़ गया, रास्ता जंगली, जगह-जगह लारें पड़ी हुई और तीन सौ मील का सफर! पर सख्तजान महाप्राण नेविनसन के लिए वह सब मानों बच्चों का खेल था।

दुर्गति

बोअर-युद्ध से लौटने के बाद आपको तीन वर्ष तक ‘डेली क्रानिकल’ के स्टाफ में काम करना पड़ा। आपके पुराने परिचित सम्पादक सिंगमैसिंहम तब तक इस पत्र को छोड़ चुके थे और नये सम्पादक उतने उदार विचारों के नहीं थे। उन तीन वर्षों का जो संक्षिप्त वर्णन आपने आत्म-चरित में किया है, उससे पता लगता है कि एक

स्वामिमानी और स्वतन्त्र विचारों के पत्रकार को है।”

एक ऐसे पत्र के स्टाफ पर, जिससे उसके विचार न मिलते हों, काम करने में कितनी मानसिक वेदना होती है। जिन पत्रकारों की आत्मा खर की तरह लचीली होती है और जो अपने मन को समझा लेते हैं—भई, हमें तो अपनी रोटी-दाल से काम, पत्र की नीति कुछ भी क्यों न हो, उनका मार्ग तो सरल होता है, पर जो पत्रकार अपना निजी व्यक्तित्व रखते हैं, उनकी जान आफत में रहती है। नेविनसन लिखते हैं—‘चुप रहना मेरे लिए मुश्किल था। मेरे लिए अपनी ख़वान को रोकने के मानी थे मृत्यु। अगर मैं चुप रहता तो मेरी सारी सजीवता ही नष्ट हो जाती। आलसी बन मुर्दा हो जाने के मानी थे डबल मौत।’

इस शुष्क संकट काल में १६ जून सन् १९०१ को एक घटना ऐसी हुई, जिसमें नेविनसन को अपनी खिन्दादिली दिखाने का एक मौका हाथ आ गया। उस दिन क्वीन्स-हॉल में शान्ति के पक्ष में एक मीटिंग होने वाली थी। इस मीटिंग का उद्देश्य था कि बोअर लोगों से सुलह कर ली जाय। लायड जार्ज इस मीटिंग में बोलने वाले थे। साधारण जनता इस मीटिंग के सख्त खिलाफ थी। बड़ी मुश्किल से नेविनसेन धक्कम-धक्कों के बीच में से गुजर कर क्वीन्स-हॉल में पहुँच पाये। लायड जार्ज का अत्यन्त प्रभावशाली भाषण हुआ। भाषण के समाप्त होते ही नेविनसन ने सोचा कि चूल्हा जलदी से निकल चलें और अपने पत्र ‘क्रानिकल’ के आफिस में पहुँच कर इस मीटिंग की रिपोर्ट लिखें, लेकिन हाल से बाहर निकलना आसान काम न था। हाल के चारों छोर क्रुद्ध जनता विद्यमान थी। हाल के पीछे के रास्ते पर पहुँचते ही पुलिस वालों ने नेविनसन से कहा—“क्या जिन्दगी भारी पड़ी है? जनता तुम्हें जान से मार डालेगी।”

नेविनसन से कहा—“कुछ भी क्यों न हो, मुझे तो अपने पत्र के आफिस पर पहुँचना ही

एक पुलिस वाले ने कहा—“अच्छा, एक तरकीब हम करेंगे। हम यह बहाना करेंगे कि तुम इस मीटिंग में ऊधम मचाते थे, इसलिए बाहर निकाल दिये गये हो और हम झूठमूठ को तुम्हें पीटेंगे, जिससे जनता इस धोखे में आ जाय कि यह भी हमारे ही मत का है और बोअर लोगों का विरोधी है।”

नेविनसन लिखते हैं—“मैं इस बात पर राज़ी हो गया और मीटिंग से बाहर निकाले जाने का बहाना करने लगा। पुलिस वाले मुझे दिखावटी तौर पर पीटने लगे—थोड़ा नहीं बहुत—और मेरा सिर धर-से-धर टकराने लगा। कान्स्टेबल लोगों ने डण्डे भी जमाये और मुझे ऐसा धम होने लगा कि इस नाटक के बहाने वे अपने राजनैतिक विश्वासों का प्रदर्शन भी मेरे सिर पर कर रहे हैं! उनकी चोटों से बच कर जो मैं निकला तो अत्यन्त क्रुद्ध जनता के समुद्र में आ गिरा! भला वे क्यों इस झूठमूठ के नाटक से धोखे में आने लगे! कविवर ब्राउनिंग ने ठीक ही लिखा है कि ब्रिटिश लोगों का चक्का नहीं दिया जा सकता। जिस तरह शिकारी कुत्ते लोमड़ी पर दूट पड़ते हैं, उसी तरह वे सब मुझ पर दूट पड़े। नतीजा यह हुआ कि मेरा कालर खुल गया, कोट टुकड़े-टुकड़े हो गया और कमीज फट गई। चिल्ला-चिल्ला कर वे लोग मुझ से कह रहे थे—“तुम दुश्मन बोअर लोगों के पक्षपाती हो।” गोया कोई नई खबर मुझे सुना रहे हों, जिसका मुझे पता न हो! एक खैरियत थी, वह यह कि जनता इतनी ठसासठ खड़ी थी कि मुझ पर दो-तीन आदमी ही एक साथ चोट कर सकते थे। थोड़ी दूर पर एक मोटरबस खड़ी थी। उन चोंटों के बीच में वह फासला मुझे अनन्त-सा प्रतीत हुआ। ज्यों-ज्यों करके मैं बस तक पहुँचा। उसकी लोहे की छड़ियों को मैंने हाथ से पकड़ा ही था कि ऊपर बैठी हुई औरतें चिल्ला-चिल्ला कर कहने लगीं—‘लो, यह आया एक बोअरों

नेविनसन ने जिन-जिन-युद्धों में संवाददाता का काम किया और जिन-जिन ख़तरों में वे पड़े, उन सबका वृत्तांत संक्षेप में देने के लिए भी यहाँ स्थान नहीं है। सन् १९०३ में आप सैलोनिका

जब अफ्रिका से लौटने पर आपने गुलामी-प्रथा के विरुद्ध आन्दोलन किया तो एक बार आपको वैदेशिक विभाग के एक उच्च अफसर से मिलने के लिए जाना पड़ा। अफसरने मिलते ही कहा—“अखबारों में पोर्चुगीज अफ्रिका की गुलामी के बारे में जो कष्ट-प्रद लेख निकल रहे हैं, वे क्या जनाव के ही लिखे हुए हैं? और जो कड़ी रिपोर्ट निकली है, क्या उसके रचयिता आप ही हैं? नेविनसन ने जवाब दिया—“जी हाँ, मुझे इस बात से प्रसन्नता है कि वे लेख आपको कष्ट प्रद प्रतीत हुए और रही रिपोर्ट की बात, सो वह तो काफी कड़ी नहीं है।” हाकिमाना शान में बड़ी घृणा के साथ उस अफसर ने कहा—“क्या आप यह चाहते हैं कि धनधान्य-समृद्ध वे टापू

वीरान बना दिये जायें ? " "जो अत्याचार मैंने अपनी आँखों से वहाँ देखे हैं, उनके मुकाबले में यही बेहतर होगा कि ये टापू वीरान बना दिये जायें ?" इस पर अफसर के दिमाग का पारा और भी चढ़ गया और उसने कहा — "क्या आप यह चाहते हैं कि दुनिया में जहाँ कहीं भी गुलामी हो, वहाँ इंग्लैंड पुलिस का काम करे ?" नेविनसन भी बिल्कुल अफसराना ढङ्ग पर जवाब दिया — "The answer is in the affirmative." — "इस प्रश्न का उत्तर स्वीकारात्मक है।"

रूसी जारशाही के जुलूमों के विषय में रिपोर्ट करने के लिए दो बार आप रूस गये। पहली बार की यात्रा में आपको टाल्सटाय के दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। नेविनसन लिखते हैं, टाल्सटाय ने उस समय मुझ से कहा था — "तुम एक नवयुवक हो (यह बात सन् १८७५ की है और मैं उस वक्त पचास वर्ष का था) और मैं बुढ़ा हो चुका, लेकिन ज्यों-ज्यों तुम्हारी उम्र बढ़ती जायगी और दिन-पर-दिन बीतते जायेंगे, तुम्हें अपने में कोई फर्क न मालूम पड़ेगा, पर किसी दिन अकस्मात् तुम्हें यह सुनाई पड़ेगा कि लोग तुम्हें 'बूढ़ा आदमी' बतला रहे हैं ! इतिहास में युग की बात भी ऐसी ही है। दिन-पर-दिन बीतते जाते हैं और कोई बड़ा फर्क नहीं मालूम होता, पर एक दिन अकस्मात् ऐसा प्रतीत होता है कि युग बीत चुका, खतम हो चुका। रूस में जो आन्दोलन तुम देख रहे हो, वह कोई विद्रोह नहीं है और न कोई क्रान्ति है, वह तो एक युग का खातमा है और जो युग खतम हो रहा है, वह साम्राज्यों का युग है। भला, रूस में और फिनलैंड, पोलैंड तथा काकेशस में क्या हार्दिक सम्बन्ध है ? आस्ट्रिया का हंग्री, बोहीमिया, स्लोव्हाकिया या टाइलोर् से क्या हार्दिक प्रेम है ? और इंग्लैंड का आयरलैंड, कनाडा, आस्ट्रेलिया अथवा भारत से क्या हार्दिक सम्बन्ध है ? साधारण जनता इस राजनैतिक सम्बन्ध या साम्राज्यवाद के खोखलेपन को समझती जाती है और अन्त

में साधारण जनता की बात ही अधिक तर्कयुक्त सिद्ध होती है। इसलिए मैं समझता हूँ कि साम्राज्यों के युग का अब अन्त हो रहा है। लोग मुझ से कहते हैं कि यदि रूसी साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया तो जापानी हमारे मुँह पर चढ़ बैठेंगे और हम लोगों का नाश कर देंगे, लेकिन जापानी जनता भी समझदार है और जब वे यही आकर देखेंगे कि रूसी साम्राज्य के टूट जाने पर हम लोग कितने प्रसन्न हैं तो वे भी अपने घर लौट कर हमारे आदर्श का अनुकरण करेंगे।" टाल्सटाय की ४१ वर्ष पहले की हुई यह भविष्य-वाणी विचारणीय है।

दूसरी बार जब नेविनसन रूस को जाने लगे तो उनके मित्रों ने और विरोधियों ने भी आपको अनेक बार सावधान किया कि वहाँ मत जाओ, क्योंकि वहाँ पहुँचते ही तुम्हारी बोटी-बोटी उड़ा दी जायगी। बात यह थी कि रूस में उन दिनों जारशाही का जमाना था। इमा (पार्लामेंट) बर्खास्त कर दी गई थी। उसके प्रति सहानुभूति प्रकट करने के लिए इंग्लैंड के उदार दलवालों ने घोषणा-पत्र निकाला था और यह तय पाया गया था कि एक डेपूटेशन के हाथ सहानुभूतियुक्त पत्र, रूस को भेजा जाय। मि० ब्रेक्सफोर्ड को पासपोर्ट नहीं मिला, इसलिए वे तो जा नहीं सके, आखिर यह काम नेविनसन ने अपने ऊपर ही लिया। रूस से खबरें आ रही थीं कि जहाँ नेविनसन ने रूसी भूमि पर पैर रक्खा कि राजभक्त रूसी सैनिक उनके टुकड़े-टुकड़े कर देंगे।

नेविनसन लिखते हैं — "उस वक्त अपने शरीर को टुकड़े टुकड़े होने से बचाने के लिए मैंने दो तरकीबें कहीं। अगर भोले-भाले रूसी लोगों में थोड़ी भी अकल होती तो वे इन तरकीबों को फौरन ताड़ जाते। पहली तरकीब तो यह थी कि मैं उस रूसी सीमा पर गया ही नहीं, जहाँ जार के भक्त सिपाही बर्छाँ और भाले लिये मेरी प्रतीक्षा कर रहे थे। मैं हैमबर्ग, कोपनहैगन, स्टॉक-

होम और हैलिंगफोर्स होकर चुपचाप सेन्ट-पीटर्सबर्ग पहुँच गया। दूसरी तरफ़ मैंने यह भी कि घोषणा-पत्र को मैंने अपनी कमीज के साथ खिलवा लिया था और मज्जे की बात यह थी कि इसके बाद भी कोई अवेड उम्र का बुजुर्ग नागरिक जितना मोटा लगता है, उससे ज़्यादा मोटा भी मैं नहीं जँचता था।”

‘नेशन’ पत्र के स्टाफ़ में

सन् १९०७ में आप एक नवीन पत्र ‘नेशन’ में काम करने लगे। आपके पुराने मित्र मि० मैसिंगहम इस पत्र के सम्पादक नियुक्त हुए थे। ब्रेल्सफोर्ड भी इसी पत्र में काम करते थे। १९०७ के अक्टूबर में आप भारतवर्ष पधारे और यहाँ के खास-खास नेताओं से मिले। श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी तथा श्री अरविन्द घोष से भी आप मिले थे। कालेज-स्क्वायर की एक मीटिंग में, जिसमें श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी का भाषण हुआ था, आप शामिल हुए थे और उसमें आप बोले भी थे। इस कारण आपको ऐंग्लो-इण्डियन पत्रों के कटाक्ष सहने पड़े। आपने उसका जिक्र करते हुए लिखा है—“ऐसा प्रतीत होता है कि ऐंग्लो-इण्डियन-पत्र गालियाँ कम्पोज़ कराके रख छोड़ते हैं और मौका लगते ही भट उनका प्रयोग अपने विरोधियों पर करने लगते हैं।” दूसरे दिन प्रातःकाल के समय आप गवर्नर के यहाँ चाय पीने के लिए गये। खैरियत यह थी कि तब तक ‘स्टेट्समैन’ और ‘इंग्लिश मैन’ तथा भारतीय पत्रों के अंक गवर्नर साहब के पास पहुँचे नहीं थे। उ्यों ही ये अंक पहुँचे, त्यों ही गवर्नर साहब का रुख बदल गया। शायद इस बात से वे और भी नाराज हो गये कि नेविनसन उसी रात को अरविन्द घोष से भी मिले थे और इसकी खबर खुफिया पुलिस ने उनके कानों तक पहुँचा दी थी। विलायत लौट कर आपने एक पुस्तक लिखी थी, जिसका नाम था ‘The New Spirit in India’ (भारतवर्ष में नवीन भावना)।

स्त्रियों के मताधिकार का आन्दोलन

स्त्रियों के मताधिकार के आन्दोलन में जितना

जबरदस्त हाथ नेविनसन का रहा, उतना शायद ही किसी दूसरे पत्रकार का रहा होगा। इसके लिए आपको तेरह वर्ष तक निरन्तर उद्योग करना पड़ा। देश भर में इसके लिए आपको व्याख्यान देने पड़े। जो जुलूस औरतों के मताधिकार प्राप्त करने के लिए निकलते थे, उनमें आप बराबर शामिल होते थे। एक मीटिंग औरतों की थी और इसमें लायड जार्ज बोलने वाले थे। कुछ ऐसी औरतें भी इस मीटिंग में शामिल हुई थीं, जो जेलखाने की हवा खा आई थीं। जब लायड जार्ज व्याख्यान दे रहे थे, इन महिलाओं ने अपने ऊपर के कपड़े उतार फेंके और जेल के कपड़ों में, जो नीचे थे, खड़ी हो गईं। लायड जार्ज शान्तिपूर्वक भाषण देते रहे। इतने में एक जगह से आवाज़ आई—‘Deeds, not words’—हमें ठोस काम चाहिए, शुष्क शब्द नहीं। वस, फिर ऐसा होहल्ला मचा कि कुछ पुलिस ने मीटिंग के प्रबन्धकों ने औरतों को पकड़-पकड़ कर निकाल बाहर फेंकना शुरू किया। भला, नेविनसन क्यों चुप रह सकते थे? आप उठ खड़े हुए और बोले—“मि० लायड जार्ज, क्या इस बार फिर ‘वेरहमी से’ कार्रवाई की जायगी?”

बात यह हुई थी कि अपनी एक पहली मीटिंग में लायड जार्ज प्रबन्धकों को आज्ञा दे चुके थे—“Fling them out ruthlessly. —इन औरतों को वेरहमी से निकाल बाहर करो।” नेविनसन अपनी जगह पर खड़े-खड़े बार-बार यही सवाल दुहराते रहे। आखिर लायड जार्ज का ध्यान इधर आकर्षित हुआ और वे बोले—“Oh Mr. Nevins, I wonder at a man of your education behaving like this—ओह मि० नेविनसन, आपकी तरह का शिक्षा प्राप्त आदमी भी ऐसी हरकत कर सकता है?”

इस घटना का जिक्र करते हुए नेविनसन लिखते हैं—“शिक्षा हो या अशिक्षा, मैं तब तक चिल्लाता ही रहा, जब तक मीटिंग के प्रबन्धकों ने मुझे धर नहीं लिया और पकड़ कर हॉल के बाहर घसीटने न लगे। ‘टेल ग्राफ’ के रिपोर्टर ने इस झगड़े की

रिपोर्ट में लिखा था—नेविनसन ने कन्वेंशंस से धमकी

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देकर एक प्रबन्धक को बराशाया कर दिया। मुझे याद नहीं कि मैंने यह वीरतापूर्ण कार्य किया था या नहीं, पर मैं आशा करता हूँ कि यह बात सत्य थी। जब प्रबन्धक मुझे पकड़ रहे थे, मैं छुड़ा कर प्लेटफार्म की ओर भागा और वे लोग मेरे पीछे-पीछे! इससे गुल-गपाड़ा और भी बढ़ गया। आखिर उन्होंने मुझे पकड़ लिया और गर्दन पर ऐसे जोर से घुंसा जमाया कि मैं चुन पड़ गया, फिर वेहोशी में मुझे घसीट कर बाहर फेंक दिया। मैं थिलकल हाँफ उठा था। ज्यों ही सम्मेलन कर बैठा तो देखता क्या हूँ कि कितनी ही औरतें, जो मेरी तरह निकाल बाहर फेंकी गई थीं, वहाँ पड़ी हुई हैं। एक बात देख कर मुझे बड़ी हँसी आई कि ये औरतें उठ कर पहला काम यह करती थीं कि सिर पर अपनी टोपी (अगर टोपी सही-सलामत बच रही तो) ठीक तौर पर रखती थीं, चाहे उनके कितने ही भयंकर चोट क्यों न लगी हो और चाहे उनके कपड़े कितने ही क्यों न फट गये हों!

“घर पहुँचते ही मुझे अपने सम्पादक ए० जी० गार्डनर का एक रुक्का मिला—“आप अपनी नौकरी से मुअत्तिल किये जाते हैं।” मैं साइकिल पर सम्पादक महोदय के पास पहुँचा और कहा—“मैंने यही किया, जो वहाँ उपस्थित किसी भी भले आदमी को करना चाहिए था।” अपने पक्ष के समर्थन में मैंने जो यह तर्क किया, वह जरा गैरमौजू था, क्योंकि हमारे सम्पादक महोदय उस मीटिंग में लायड जार्ज के पीछे ही विराजमान थे! सम्पादक ने कहा—“यह मामला डाइरेक्टर लोगों के सामने उपस्थित किया जायगा, तब तक आप कबड्डी खेलिये।” जब ब्रेल्सफोर्ड प्रभुति हमारे साथी-सँगियों ने यह बात सुनी तो उन्होंने धमकी दी कि अगर नेविनसन के खिलाफ कोई कार्रवाई की गई तो हम भी इस्तीफा दे देंगे। आखिर मामला यों ही रफा-दफा कर दिया गया।”

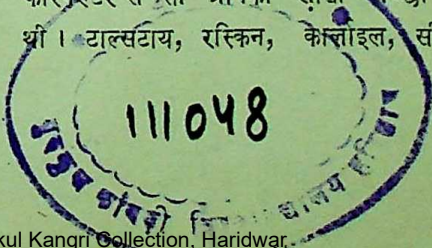
पीछे जब जेल में औरतों को जबरदस्ती ठूस-ठूस कर खाना खिलाया गया तो आपने ‘मेनचेस्टर गार्जियन’ में इस अत्याचार का घोर विरोध

किया। जब आपके पत्र ‘डेली न्यूज’ में ही सम्पादक ने एक अप्रलेख इस प्रथा के पक्ष में लिखा तो आपने अपनी नौकरी से त्याग-पत्र दे दिया और आपके साथ ब्रेल्सफोर्ड ने भी नौकरी छोड़ दी। नौकरी से इस्तीफा दे देने से नेविनसन को घोर आर्थिक संकट का सामना करना पड़ा, पर अपने सिद्धान्तों की रक्षा के लिए नेविनसन ने क्या-क्या नहीं किया? वे गरीब पत्रकार ही, जिन्होंने कभी इस पथ का अनुसरण किया है, नेविनसन की कठिनाइयों की कल्पना कर सकते हैं। फरवरी सन् १८१८ में जब स्त्रियों को मताधिकार मिल गया, तब स्त्रियों की एक मीटिंग हुई (२८ अप्रैल, १८१८), जिसमें नेविनसन को धन्यवाद दिया गया और २८० पौण्ड की एक थैली भेंट की गई। उस दिन को नेविनसन अपने जीवन के स्मरणीय दिवसों में गिनते हैं। आपने लिखा है—“क्या ही अच्छा होता, यदि उस मनोहर उत्सव से समाप्त होने के बाद ही मेरे जीवन की भी समाप्ति हो जाती! पर मृत्यु के लिए उपयुक्त अवसर थोड़े ही आदमी चुन सकते हैं।”

नेविनसन ने आयरलैण्ड के निवासियों की स्वतन्त्रता के लिए भी भरपूर उद्योग किया था और कई वर्ष उसमें लगा दिये थे। सर रोजर केसमेरट को, जिन्होंने युद्ध के दिनों में ब्रिटेन के विरुद्ध बगावत की थी, फाँसी से बचाने के लिए नेविनसन ने बहुत प्रयत्न किया, पर इसमें वे सफल नहीं हुए। सुप्रसिद्ध देशभक्त मेकस्विनी की लाश जब इंग्लैण्ड से आयरलैण्ड ले जाई गई थी, तब आप भी उसके साथ थे।

विशेष व्यक्तियों से परिचय

नेविनसन के चरित्र में यह खूबी है कि आप अच्छे-से-आदमियों से मित्रता स्थापित करने में सफल हुए हैं। सुप्रसिद्ध अराजकवादी प्रिंस क्रोपाटकिन से आपका घनिष्ठ सम्बन्ध था और उनके कार्य में आपने सहायता दी थी। एडवर्ड कारपेण्टर से तो आपकी खासी अच्छी दोस्ती थी। टाल्सटॉय, रस्किन, कैलाइल, सी० पी०



स्काट, ए० ई० (जार्ज रसेल) सातवीं मिनट
 गोखले तथा अन्य प्रसिद्ध-प्रसिद्ध व्यक्तियों के आपने
 दर्शन किये थे और उनसे परिचय प्राप्त किया
 था। स्थानाभाव से हम उन महापुरुषों के संस्मरणों
 का यहाँ जिक्र नहीं कर सकते, जिनका वर्णन
 नेविनसन ने अपने ग्रन्थ में किया है।

खास-खास ऐतिहासिक मौकों पर उपस्थित
 होना तो मानो नेविनसन के भाग्य में ही बड़ा था।
 जिस दिन जर्मनी के गत महायुद्ध की घोषणा हुई
 थी, उस दिन आप बर्लिन में मौजूद थे और
 ब्रिटिश राजदूत के साथ ही वहाँ से रवाना हुए
 थे। युद्ध में संवाददाता बन कर आप गये भी थे
 और अनेक स्थलों पर आपने अपने जीवन को भी
 खतरे में डाला था। सस्ते अधिक ध्यान देने
 योग्य बात यह है कि आपने मानव-समाज-सेवा
 के भाव को देशभक्ति से कहीं ऊँचा समझा है।
 नेविनसन इस बात को अच्छी तरह जानते हैं कि
 जब हमारा अपना देश गलत मार्ग पर जा
 रहा हो, उस समय सबसे बड़ी देश-सेवा यही
 है कि स्वदेश की उस भूल के विरुद्ध विद्रोह किया
 जाय।

नेविनसन का जीवन-चरित पढ़ते हुए एक
 बात का ख्याल हमें बार-बार आया है, वह यह
 कि नेविनसन सरीखे निर्भीक पत्रकार किसी स्वार्थीन
 देश में ही जन्म ले सकते हैं। इस अभागे देश में,
 जहाँ पत्रकारों को हृदयहीन पूँजीपति मात्तिक, सदा
 सशंक विरोधी सरकार और गुणग्राहकता-विहीन
 जनता के बीच में काम करना पड़ता हो, नेविनसन
 के गुणों का विकसित होना सम्भव नहीं।
 नेविनसन का वीरतापूर्ण अकम्पन जितना
 चित्ताकर्षक है, उतनी ही उनकी सहज विनम्रता
 हृदयहारिणी है। नेविनसन महोदय अच्छे कवि
 भी हैं, पर आप लिखते हैं—“जब कभी मेरी
 कविताओं के विषय में कोई आलोचना—प्रशंसा
 या निन्दा—करता है तो मेरे मन में वही भाव
 उत्पन्न होते हैं, जो किसी परदे में रहने वाली स्त्री
 के परदा उठा देने पर।”

टीकमगढ़]

सबसे बड़ी प्रशंसा आप किस चीज को समझते
 हैं, सो भी सुन लीजिए। सन् १९२६ में आप
 पैलेस्टाइन गये हुए थे। उस समय वहाँ आपको
 इकहत्तरवीं वर्षगाँठ हुई। जेरुसलम की तीर्थ-
 यात्रा करके मोटर के रास्ते बगदाद को रवाना
 हुए। पाँच मोटरें थीं, जिनमें दो मेल कम्पनी
 की थीं। बीच में पानी आ गया। दिन-रात
 आपको भीगते हुए सफ़र करना पड़ा। डाक से
 लदी मोटरों के पहिये कीचड़ में घुस जाते थे।
 उतर कर उन्हें निकालने में नेविनसन सत्तर वर्ष
 के होते हुए भी खूब मदद देते थे। जब आप
 बगदाद पहुँचे तो सारा शरीर कीचड़ से लथपथ
 था; और ऐसा प्रतीत होता था कि मानो आप
 कीचड़ की मूर्ति बन गये हों! मोटरों के पाँच
 नवयुवक ड्राइवरों ने, जो अंगरेज थे और युद्ध के
 बाद यहीं बस गये थे, अपनी मेल कम्पनी के
 हेडक्वार्टर पर जा कर कहा—“Look here!
 Whatever happens, we must keep
 Old Bill as a director on the Staff.”—
 ‘देखिये साहब, चाहे कुछ हो, हमें हर हालत में
 इस तुड्डे को अपने यहाँ खुदाई के काम पर
 नौकर रख ही लेना चाहिये।’ इस पर टिप्पणी
 करते हुए नेविनसन ने लिखा है—“अपने लम्बे और
 विविध अनुभवपूर्ण जीवन में मुझे जो तारीफें
 मिली हैं, उन सब में इस प्रशंसा को मैं सर्वोत्कृष्ट
 मानता हूँ।”

कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर का यह कथन सर्वथा
 सत्य है कि जब तक इंग्लैण्ड में नेविनसन सरीखे
 व्यक्ति विद्यमान हैं, तब तक उसकी आत्मा सजीव
 है। एक क्षुद्र पत्रकार की हैसियत से हम भी
 नेविनसन को अपने एक कवि-ग्रन्थ के इन शब्दों के
 साथ प्रणाम करते हैं—

“न होने देते हरण कदापि स्वत्व दीनों के पूज्य महान,
 सहन होता है तनिक न तुम्हें देवियों का रंचक अपमान;
 कहीं यदि होता है अम्याय, त्रसित होते मानव-सन्तान,
 अड़ा देते हो अपनी देह, लड़ा देते हो अपनी जान।”

दरिद्रान भर कौन्तेय

यह बड़े हर्ष और सन्तोष की बात है कि हमारी मातृभाषा और अखिल भारत की राष्ट्रभाषा हिन्दी में अनेक प्रकाशन—यह सुलभ रहे हैं और ग्रन्थ—निर्माण की कितनी ही आयोजनाएँ हमारे सामने आ रही हैं। बन्धुवर रामनरेश जी त्रिपाठी द्वारा संकल्पित ज्ञान-न्दिर बम्बई से पुस्तक-प्रकाशन का कार्य प्रारम्भ करने वाला है, बन्धुवती कविवर सुधीन्द्र जी ने अपनी विचारोत्तेजक सुधामाला की स्क्रीम जनता के सम्मुख रख दी है, आकाबाद से श्रीमान नरसिम्ह प्रसाद जी नागर और उनके मित्र सहयोग के आधार पर किताबों छपाने का प्रबन्ध कर रहे हैं और आगरा गोशामन्दिर में भी सदग्रन्थों के प्रकाशन की शुरुआत चली थी। कई आदर्शवादी नवयुवक प्रकाशन कार्य को अपनी जीविका का साधन बनाना चाहते हैं और पुरानी प्रकाशन संस्थाएँ भी, यदि वे इस दिशा में पिछड़ना नहीं चाहतीं, नवीन उत्साह के साथ इस कार्यक्षेत्र में आगे बढ़ेंगी। चूँकि कई विद्यार्थी और नवयुवकों ने इस विषय में हमारी सलाह माँगी है, इसलिये अपने विचार संक्षेप में लिखे देते हैं।

प्रकाशन-कार्य के व्यापारिक पहलू पर कुछ लिखना हमारे लिये धुन्धला की बात होगी, क्योंकि उसका हमें बिल्कुल अनुभव नहीं, परन्तु चुनाव के विषय में हम कुछ निवेदन करना चाहते हैं।

नैतिक परामर्शदाता —

हमारा पहला निवेदन यह है कि प्रकाशन विद्यार्थी को अपने पास से कुछ पैसा खर्च करके नैतिक परामर्शदाता रखने चाहिये। विलायत

की प्रकाशन-संस्थाएँ ऐसा ही किया करती हैं। पर हमारे यहाँ के प्रकाशकों की रीतिनिति निराली ही है—‘हरा लगे न फिटकरी’ सिद्धान्त से रंग फाँका ही आ सकता है, चोखा नहीं।

हम ऐसे प्रकाशकों को जानते हैं, जो अपनी चार रुपये की किताब भेज कर समालोचक से यह उम्मेद रखते हैं कि वह प्रारम्भ से अन्त तक उसे पढ़ जाय और उसकी आलोचना भी कर दे। चार रुपये की जो किताब प्रकाशक को सवा रुपये में पड़ो होगी, उसके लिये गरीब समालोचक को अपना पचास रुपये का समय देना होगा और आलोचना द्वारा दस रुपये का विज्ञापन भी! एक पैसे में तीन धेले बनाने वाले व्यक्ति कहानियों में सुप्रसिद्ध हो चुके हैं, पर सवा रुपया खर्च करके साठ का काम लेने वाले प्रकाशक एक पैसे में अड़तालीस धेले बनाना चाहते हैं! इस नीति को अथ तिलांजलि देने की जरूरत है। जिन लोगों ने अपना सम्पूर्ण जीवन ग्रन्थों के पठन-पाठन में लगाया है उनसे मुफ्त में सलाह माँगना शोषण की पराकाष्ठा है।

सांस्कृतिक विचार-परिवर्तन —

हिन्दी के प्रकाशक लोग यदि पत्र-व्यवहार द्वारा ही विचार-परिवर्तन कर लें तो बहुत कुछ काम हो सकता है। किस-किस विषय की कौन-कौन पुस्तक किस प्रकाशक द्वारा प्रकाशित होनी चाहिये, यदि यह बात निश्चित हो जाय तो हिन्दी-साहित्य के भण्डार को भरने में अवश्यमेव कुछ सुविधा तो होगी ही। और नहीं तो स्वार्थ की दृष्टि से भी प्रकाशकों का सम्मेलन जरूरी है। स्वराज्य प्राप्त होने पर जनता में शिक्षा-प्रसार के लिये यदि हमारे नेता इतना भी नहीं कर सकते कि पुस्तकों

के भेजने में रजिस्ट्री का नियम तोड़ दें या उसका पोस्टेज आधा ही कर दें तो फिर आखिर उनसे हम और क्या आशा रख सकते हैं? नियम को दुरुपयोग से बचाने के लिये ग्रन्थमालाएँ रजिस्टर्ड बनाई जा सकती हैं। विचारशील प्रकाशकों का कर्तव्य है कि स्वार्थ तथा परमार्थ की दृष्टि से पुस्तकों पर लगने वाले पोस्टेज में कुछ कमी करावें। इसके लिए डट कर आन्दोलन होना चाहिये।

पुण्यार्थ ट्रेकट-विभाग—

प्रत्येक प्रकाशक से हमारा अनुरोध है कि वह अपने यहाँ से प्रतिवर्ष पाँच-सात दर्जन पामपलेट या ट्रेकट छपावें और उन्हें लागत के ही मूल्य पर बेंचें। ट्रेकटों के कवर पेज पर अपने यहाँ से प्रकाशित ग्रन्थों का विज्ञापन भी दिया जा सकता है। यदि इन ट्रेकटों में कुछ घाटा हो भी तो उसे धर्मादे खाते का समझ कर मुनाफा ही मानना चाहिये। हमारा देश अत्यन्त निर्धन है और ग्रामवासियों के पास इतना पैसा नहीं है कि वे दो-दो रुपये वाली किताबें खरीद सकें। इसके सिवाय प्रकाशकों को यह ख्याल भी रखना चाहिये कि जब साधारण जनता में सत्साहित्य की रुचि उत्पन्न हो जायगी तब उससे आखिरकार उनके व्यापार में वृद्धि हो होगी।

प्रचारकों से—

जो लोग किसी लोकोपकारी उद्देश्य को सम्मुख रख कर प्रचार करना चाहते हैं उनसे हमारा विशेष आग्रह है कि वे छोटे छोटे पामपलेटों तथा ट्रेकटों का प्रकाशन प्रारम्भ कर दें। बहुत से ट्रेकट तो लेखों पर से कामकाज का खर्च मात्र देकर बनाये जा सकते हैं। कम्पोजिट का खर्च बचाने का यह सरल तरीका है। सुप्रसिद्ध अंग्रेज लेखक स्वर्गीय ऐच० जी० विल्स ने कुछ दिनों पहले लिखा था कि अब समाचार-पत्रों

का युग बीत गया है और पामपलेटों का युग आ गया है। समाचार-पत्रों के दस-पच्चीस पृष्ठों के मसाले में आवश्यक तथा महत्वपूर्ण बातों को छोट निकालना प्रत्येक पाठक का काम नहीं। इसके सिवाय उक्त आवश्यक लेख को चयनित सुपात्रों तक पहुँचाने का कार्य और भी कठिन ट्रेकटों द्वारा यह कार्य अपेक्षाकृत आसानी से किया जा सकता है। उदाहरणार्थ 'नवयुवकों से दो बातें' नामक लेख को लीजिये। इसे हमने यन्त्र सत्यभक्त जी द्वारा अनुवादित कराके और उसका सम्पादन करके पहले पहल 'विशाल भास्कर' छपाया था। पहले इसकी कई सहस्र प्रतियाँ खादी भंडार कलकत्ते ने छपाई और सस्ता-साहित्य-मण्डल छपा रहा है। इसके हम मण्डल को हार्दिक धन्यवाद देते हैं, परन्तु हमारा यह अनुरोध है कि ऐसे ट्रेकटों का लागत से अधिक न रक्खा जाय। आखिर चीजें तो ऐसी होनी ही चाहिये, जिन्हें हम कल्याणार्थ सस्ते-से-सस्ते मूल्य पर बिकाने करें।

हमारा उद्देश्य—

हम जानते हैं कि अधिकांश पुस्तक-प्रकाशकों हमारी ये बातें फालतू जँचेगी। रीढ़ से अपनी तिजोरियों को भरने वाले महाशय हमारे निवेदन को प्रलाप ही समझेंगे तो आश्चर्य ही क्या है? और सरकारी शिक्षा विभागों की खुशामद कर मालामाल बनने वाले चंट प्रकाशक भला इधर क्यों ध्यान देने दें? इसलिये उस ओर से हमें बिल्कुल आशा नहीं। पर साधारण जनता से और उन आदर्शवादी युवकों से, जो इस क्षेत्र में प्रवेश करना चाहते हैं हमारी यह प्रार्थना है कि वे इस यज्ञ में सहभागी हों। 'मधुकर' साहज के एक अठपेजी ट्रेकट (शेष टाइल २ पर)

मस्तेऽं
के दस-
हत्वपूरा
कास न
को ययस
ती कठिन
सानी ने
मे दो
हमने
के और
शाल भास
सहस्र प्र
और
। इसके
हैं, पर
धर्मों का
आखिर
न्हें हम
पर वि

तक-प्रका
। रीडर
ले महा
के तो
शिक्षा
ल बनने
न देने
गशा न
दर्शवादी
ता चाह
में स
ती प्रका
२ पर

Completed
1989-2000

11/04/8

